पंजाब-विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

सत-काव्य का दार्शनिक विश्लेषण

(मुख्यतः गुरु नानक-काव्य के सन्दर्भ में)

डॉ० मनमोहन सहगल

भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़-2

- प्रकाशक — भारतेन्दु-भवन, सैक्टर १५ ए, चंडीगढ़–२
- मुद्रक — आगरा फाइन आर्ट प्रेस राजा-की-मण्डी आगरा–२
- प्रथम संस्करण — १९६५
- मूल्य — १२ ५

Sant Kavya Ka Darshanik Vishleshan

(A Philosophical Study of Sant Poetry)

By

Dr Manmohan Sahgal, M A. Ph. D

Price 12 50

समर्पण

प्रातः-स्मरणीय पूज्य पिता श्री की पुण्य-स्मृति में—

प्राक्कथन

भारत की महान वैदिक संस्कृति तथा समय-समय पर चल निकलने वाले भिन्न-भिन्न भक्ति आन्दोलनों के प्रभावानुरूप मुगल-काल की परिस्थितियों के साँचे में ढलकर, समय की पुकार पर आधारित नव-निर्माण की एक स्वतन्त्र-परम्परा मध्य काल में संत-धारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। विदेशी और स्वदेशी (ब्राह्मण-समाज) अत्याचारों से पीड़ित सामान्य जन-समाज की डगमगाती नैया को पतवार मिल गई। हिन्दू और मुसलमानों में सामञ्जस्य स्थापित करने तथा तत्कालीन विघटना-समाज को अनेकेश्वरवाद के गोरख-धन्धे से निकाल कर 'सत्यनाम' पर अवलम्बित होने की प्रेरणा देने के लिये संतधारा के प्रयत्न आरम्भ हुए। संसार से वैराग्य ले (वे संसार त्यागते नहीं थे केवल मोह-माया के बन्धनों की उपेक्षा करते थे) परम-सत्य के अनुभव में अपनी सर्वांगीण शक्तियाँ अर्पण करने वाले उन्नत-मना व्यक्ति जो सच्चे ज्ञान की ज्योति के प्रकाश में परब्रह्म की वास्तविकता की जानकारी प्राप्त करते थे संत कहलाते थे। संसृति उनके लिए सत्य होते हुए भी मिथ्या थी क्योंकि वे उस आवरण (माया) को पहचानते थे जो बाजीगर के तमाशे की भाँति झूठ में भी सच का रूप दिखा कर हमें वाहवाही को मजबूर कर देता है। जन-साधारण को सन्मार्ग पर लगाने और तथ्य ज्ञान देने के लिये संतजन लिखित और मौखिक रूप में उपदेश देते थे कथा-कीर्तन भी करते थे और आम लोगों में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को जगाने में कटिबद्ध रहते थे। उनके लिखित उपदेश तत्कालीन 'हिन्दी' में आज भी अमूल्य साहित्य के रूप में विद्यमान हैं।

इस संत-परम्परा में पंजाब के भक्ति-आंदोलन का विशिष्ट स्थान है। आंदोलन के प्रवर्तक गुरु नानक देव थे। उन्होंने पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्ध में मनुष्य की मानसिक-वृत्तियों को न केवल उद्बुद्ध ही किया प्रत्युत उन्हें विकास का सुअवसर प्रदान करने के लिये अपनी स्वतन्त्र-विचारधारा पर एक सुव्यवस्थित और परिमार्जित परम्परा की नींव रखी। यह परम्परा एक के पश्चात दूसरा दस महान संतों तक बराबर रही और अन्ततः समय की भयंकर बाढ़ों और असह्य माँगों के कारण अपनी

वाणी को अभाव-पूर्ति के लिए छोड़कर स्वयं विलीन हो गई। ब्रह्मानुभव करने वाले ये संत प्रकाश के पुंज होते थे। अज्ञान का अन्धकार दूर करने की क्षमता रखने के कारण वे गुरु (अन्धकार को दूर करने वाला) कहलाते थे। प्रस्तुत परम्परा आरम्भ से ही अपनी विचार-वीथि को वायु पर पनपने वाले प्राणियों को 'गुरु के शिष्य' कहती थी जो कि अपभ्रंश में सिक्ख और बाद में गुरु के समय में 'खालसा' नाम से प्रसिद्ध हुए।

उपरि-सांकेतिक दसों गुरुओं का जीवन और उपदेश इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सिक्ख-धर्म गृहस्थियों को सदाचारपूर्ण और सात्विक-जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने की एक परम्परा थी जिसे केवल गृहस्थियों का धर्म (Religion of House Holders) कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योगी वैरागी उदासी तथा तपस्वी तो प्रभु की वास्तविकता का अनुभव करने और जीवन-मरण के चक्कर से मुक्ति पाने के लिए आजन्म जंगलों पहाड़ों तीर्थों और निर्जनता में धक्के खाते थे। तपस्या में अपने शरीर को गला-सड़ाकर स्वास्थ्य के मूल्य पर वे ईश्वर को खरीदना चाहते थे। लेकिन सिक्ख गुरु गृहस्थियों के लिए ब्रह्मैक्य का सुगम-मार्ग प्रचलित करते थे जिसमें वैराग्य नहीं श्रद्धा की अपेक्षा थी। श्रद्धा और गुरु ज्ञान-ज्योति पर आश्रित यह धर्म 'विशिष्ट-मानववाद' का प्रतीक बन गया।

गुरुओं ने अपने शिष्यगण के मार्ग प्रदर्शन के लिए समय-समय पर आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। यह साहित्य हिन्दी में भक्तिकालीन निर्गुण साहित्य का एक अंग बना। इसमें मानव के लिए मानवीयकरण के आधार श्रद्धा और प्रेम भक्ति कर्म मन-माया नाम और हुक्म जीवात्मा-परमात्मा सदाचार व सात्विक-जीवन गुरु-ज्ञान गुरु-महत्ता शिष्य और उसके कर्तव्य प्रभृति रहस्यों का विश्लेषण करने का उपक्रम किया गया है। सिक्ख-गुरुओं की विचारधारा जिस पर दशमेश के समय सिक्ख धर्म की निर्विवाद नींव रखी गई थी प्रस्तुत साहित्य में बालू में स्वर्ण-कणों की भांति बिखरी पड़ी है। इस कृति 'संत-काव्य का दार्शनिक विश्लेषण' (गुरु नानक संदर्भ में) में मुख्यतः प्रथम गुरु श्री गुरु नानक देव की रचनाओं वाणियों और पदों के आधार पर मैंने उक्त स्वर्ण-कणों को बालू से पृथक कर चिन्तन की कुठाली में तपा तथ्य के मानदण्ड पर उसके खरे-खोटे होने की पहचान प्रस्तुत की है। इसलिए गुरु नानक विचार-सरणी के सार वाक्यों 'गुरु की सहायता से हुक्म का नाद' 'नाम रहस्य की जानकारी' 'नाम-जाप द्वारा नामी' में विलीनता' की पुनरावृत्ति मुझे अनेक स्थानों पर स्थिति अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में करनी पड़ी है।

रचना में मुख्यतः उद्धरण गुरु नानक-वाणी से ही जो कि प्रामाणिक-रूप में गुरु ग्रन्थ साहिब (प्र. शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर, अगस्त १९२१ संस्करण हिन्दी लिपि) में संगृहीत हैं लिए गए हैं। अतः पाद-टिप्पणियों में उनके साथ 'महला १' या 'गुरु ग्रन्थ साहिब' लिखना अनिवार्य नहीं समझा गया। परन्तु

राग-रागनियों का नाम शब्दों की क्रम संख्या पद का नम्बर और ग्रन्थ-साहिब के उपर्युक्त संस्करण की पृष्ठ-संख्या मात्र द दी गई है। जहाँ गुरुनानक या प्रमाण क्रम से गुरु अंगद गुरु अमरदास गुरु रामदास गुरु अर्जुनदेव या गुरु तेग बहादुर का कोई पद उद्धरित किया गया है वहाँ उनके लिए क्रमश: महला २ ३ ४ ५ तथा ६ का अतिरिक्त संकेत भी किया गया है। क्योंकि इनकी वाणियाँ भी उसी ग्रन्थ में सम्मिलित हैं अत: पुस्तक का नाम वहाँ भी नहीं लिखा गया। केवल गुरु गोविन्द सिंह सम्बन्धी ग्रन्थ तथा अन्य वे ग्रन्थ जिनकी सहायता की अपेक्षा यथास्थान लेखक को रही है ग्रन्थकार एवं पृष्ठ-संख्या सहित उद्धरित किए गए हैं। अभिप्राय यह है कि पाद टिप्पणी में ग्रन्थ का नाम न होना 'गुरु ग्रन्थ साहिब तथा महला संख्या' का न होना 'गुरु नानक वाणी' का संकेत है। पदों के साथ जो आँकड़े लिखे गये हैं वे पद और शब्द संख्या के द्योतक हैं। यदि वे आँकड़े दो हैं, तो उनमें पहला पद संख्या तथा दूसरा शब्द-संख्या है, और तीन होने की स्थिति में पहले दो पद-संख्याओं का ही संकेत करते हैं।

रचना में कुछ शब्दों का धार्मिक रस बनाए रखने के लिए, उनके हिज्जे गुरु-काव्य के अनुसार ही प्रस्तुत किए गए हैं—यथा

प्रयुक्त शब्द	शुद्ध शब्द
हउमैं	अहं (भाव)
तमोगुण	तमगुण या तमस्
रजोगुण	रजगुण या रजस्
सतोगुण	सतगुण
सिमरन	स्मरण
करतार	कर्तार
सतपुरख	सत्पुरुष
गुरमुख	गुरुमुख
सतिगुरु या सतगुरु	सद्गुरु

प्रबन्ध की तैयारी में जिन विद्वानों सन्तों महात्माओं और मुस्लिम फ़कीरों की कृतियों तथा वाणियों से मुझे सहायता मिली मैं उनका अतीव आभारी हूँ, और नतमस्तक उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करता हूँ। पंजाब में प्रस्तुत-विषय के निष्णात पण्डित स्वनाम-धन्य डॉ॰ भाई साहिब जोधसिंह जी (भूतपूर्व उप-कुलपति पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला) जिनके योग्य-निरीक्षण में यह प्रबन्ध पूर्ण हुआ मेरी श्रद्धा के विशेष-पात्र हैं। अपने अतीव-व्यस्त जीवन में भी कई बार अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा कर वे अमूल्य समय मुझे देते रहे। उनके सुझावों तथा पथ-प्रदर्शन के प्रति

वाणी को अभाव-पूर्ति के लिए छोड़कर स्वयं विलीन हो गई। ब्रह्मानुभव करने वाले ये संत प्रकाश के पुंज होते थे। अज्ञान का अन्धकार दूर करने की क्षमता रखने के कारण वे गुरु (अन्धकार को दूर करने वाला) कहलाते थे। प्रस्तुत परम्परा आरम्भ से ही अपनी विचार-वीथि को वायु पर पनपने वाले प्राणियों को 'गुरु के शिष्य' कहती थी जो कि अपभ्रंश में सिक्ख और दसवें गुरु के समय में 'खालसा' नाम से प्रसिद्ध हुए।

उपरि-सांकेतिक दसों गुरुओं का जीवन और उपदेश इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सिक्ख धर्म गृहस्थियों को सदाचारपूर्ण और सात्विक-जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने की एक परम्परा थी जिसे केवल गृहस्थियों का धर्म (Religion of House Holders) कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योगी वैरागी उदासी तथा तपस्वी तो ब्रह्म की वास्तविकता का अनुभव करने और जीवन-मरण के चक्कर से मुक्ति पाने के लिए आजन्म जंगलों पहाड़ों तीर्थों और निर्जनों में धक्के खाते थे। तपस्या से अपने शरीर को गला-सड़ाकर स्वास्थ्य के मूल्य पर वे ईश्वर को खरीदना चाहते थे। लेकिन सिक्ख गुरु गृहस्थियों के लिए ब्रह्मैक्य का सुगम-मार्ग प्रदर्शित करते थे जिसमें वैराग्य नहीं श्रद्धा की अपेक्षा थी। श्रद्धा और गुरु ज्ञान-ज्योति पर आश्रित यह पथ 'विशिष्ट-मानववाद' का प्रतीक बन गया।

गुरुओं ने अपने शिष्यगण के मार्ग-प्रदर्शन के लिए समय-समय पर आध्यात्मिक साहित्य की रचना की। यह साहित्य हिन्दी में मध्यकालीन निर्गुण साहित्य का एक अंग बना। इसमें मानव के लिए मानवीयकरण के आधार श्रद्धा और प्रेम भक्ति कर्म मन-माया नाम और हुक्म, जीवात्मा-परमात्मा सदाचार व सात्विक-जीवन गुरु-ज्ञान गुरु-महत्ता शिष्य और उसके कर्तव्य प्रभृति रहस्यों का विश्लेषण करने का उपक्रम किया गया है। सिक्ख-गुरुओं की विचारधारा जिस पर दशमेश के समय सिक्ख धर्म की निश्चित नींव रखी गई थी प्रस्तुत साहित्य में बालू में स्वर्ण-कणों की भांति बिखरी पड़ी है। इस कृति संत-काव्य का दार्शनिक विश्लेषण' (गुरु नानक संदर्भ में) में मुख्यतः प्रथम गुरु श्री गुरु नानक देव की रचनाओं साखियों और पदों के आधार पर मैंने उक्त स्वर्ण-कणों को बालू से पृथक कर चिन्तन की कुठाली में तपा तथ्य के मानदण्ड पर उसके खरे-खोटे होने की पहचान प्रस्तुत की है। इसलिए गुरु नानक विचार-सरणी के सार वाक्यों गुरु की सहायता से हुक्म का न्याय' 'नाम रहस्य की जानकारी' 'नाम-जाप द्वारा नामी में विलीनता' की पुनरावृत्ति मुझे अनेक स्थानों पर स्थिति-अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में करनी पड़ी है।

रचना में मुख्यतः उद्धरण गुरु नानक-वाणी से ही जो कि प्रामाणिक-रूप में गुरु ग्रन्थ साहिब (प्र शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी अमृतसर, अगस्त १९५१ संस्करण हिन्दी लिपि) में संगृहीत हैं लिए गए हैं। अतः पाद टिप्पणियों में उनके साथ 'महला १ या 'गुरु ग्रन्थ साहिब' लिखना अनिवार्य नहीं समझा गया। परन्तु

राग-रागनियों का नाम, शब्दों की क्रम संख्या, पद का नम्बर और ग्रन्थ-साहिब के उपर्युक्त संस्करण की पृष्ठ-संख्या मात्र दे दी गई है। जहाँ तुलना या प्रमाण रूप में गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुनदेव या गुरु तेग बहादुर का कोई पद उद्धरित किया गया है, वहाँ उनके लिए क्रमशः महल्ला २, ३, ४, ५, तथा ९ का अतिरिक्त संकेत भी किया गया है। क्योंकि इनकी वाणियाँ भी उसी ग्रंथ में सम्मिलित हैं अतः पुस्तक का नाम वहाँ भी नहीं लिखा गया। केवल गुरु गोविन्द सिंह सम्बन्धी ग्रन्थ तथा अन्य वे ग्रन्थ जिनकी सहायता की अपेक्षा यथास्थान लेखक को रही है ग्रन्थकार एवं पृष्ठ-संख्या सहित उद्धरित किए गए हैं। अभिप्राय यह है कि पाद टिप्पणी में ग्रन्थ का नाम न होना 'गुरु ग्रन्थ साहिब तथा महल्ला संख्या' का न होना 'गुरु नानक वाणी' का संकेत है। पदों के साथ जो आँकड़े लिखे गए हैं वे पद और शब्द संख्या के द्योतक हैं। यदि ये आँकड़े दो हैं तो उनमें पहला पद संख्या तथा दूसरा शब्द-संख्या है, और तीन होने की स्थिति में पहले दो पद-संख्याओं का ही संकेत करते हैं।

रचना में कुछ शब्दों का धार्मिक रस बनाए रखने के लिए, उनके हिज्जे गुरु-काव्य के अनुसार ही प्रस्तुत किए गए हैं—यथा

प्रयुक्त शब्द	शुद्ध शब्द
हउमै	अहं (भाव)
तमोगुण	तमगुण या तमस्
रजोगुण	रजगुण या रजस्
सतोगुण	सत्गुण
सिमरन	स्मरण
करतार	कर्तार
सतपुरख	सत्पुरुष
गुरमुख	गुरुमुख
सतिगुरु या सतगुरु	सद्गुरु

प्रबन्ध की तैयारी में जिन विद्वानों, सन्तों, महात्माओं और मुस्लिम फ़कीरों की कृतियों तथा वाणियों से मुझे सहायता मिली, मैं उनका अतीव आभारी हूँ और नतमस्तक उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करता हूँ। पंजाब में प्रस्तुत-विषय के निष्णात पण्डित स्वनाम-धन्य डॉ० भाई साहिब जोधसिंह जी (भूतपूर्व उप-कुलपति पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला), जिनके योग्य-निरीक्षण में यह प्रबन्ध पूर्ण हुआ मेरी श्रद्धा के विशेष-पात्र हैं। अपने अतीव-व्यस्त जीवन में भी कई बार अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों की उपेक्षा कर वे अमूल्य समय मुझे देते रहे। उनके सुझावों तथा पथ प्रदर्शन के प्रति

मैं आजीवन ऋणी रहूँगा। प्राध्यापक बी० बी० प्रभु, (अध्यक्ष दर्शन विभाग रामजस कालिज मानसर) को जो भारतीय-दर्शनों-सम्बन्धी चर्चा के लिये प्राय: मुझे समय देते रहे मैं धन्यवाद देता हूँ। उन सबका आभार भी मैं स्वीकार करता हूँ जो परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध की तैयारी की अवधि में मेरे सहायक बन रहे।

पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ ने इस रचना पर पी-एच० डी० की उपाधि देकर मुझे सम्मानित किया इसके लिए मैं आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी अध्यक्ष हिन्दी विभाग विश्वविद्यालय-अधिकारियों एवं उन विद्वान परीक्षकों का जिन्होंने प्रबन्ध की मान्यता की जाँच कर मुझे प्रोत्साहित किया अतीव आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध को पुस्तकाकार में पाठकों तक पहुँचाने का श्रेय 'भारतेन्दु भवन चण्डीगढ़' के प्रकाशकों को है अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

हिन्दी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र।

मनमोहन सहगल

कहाँ क्या है ?

परिशिष्ट–१

परिशिष्ट–२



१
विषय-प्रवेश

तूं आपे दाता, आपे भुगता, हउ तुधु बिनु अवरु न जाणा
तूं पारब्रह्म बेअंतु तेरे किया गुण आखि वखाणा ।
(१ २ आसा)

दर्शन

किसी विशेष अध्ययन को परिभाषा की सीमा में बाँधना प्रायः असम्भव-सा होता है। न जाने उसका संश्लेषण या विश्लेषण करते समय उक्त परिभाषा की सीमा-रेखाओं का उल्लंघन कहाँ कहाँ और कितनी बार करना पड़े और फिर मानव की असन्तुष्ट एवं सतत विचार-शक्ति के सामने विश्व की चमत्कारपूर्ण दैनिक नवलता किस रूप में मुखरित हो यह भी कल्पनातीत बात है। दर्शन सरीखे गम्भीर विषय का स्वरूप आज कुछ ऐसी ही समस्याओं का अखाड़ा है। सम्पूर्ण मानवता अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा विचारधारा के आश्रय उत्थान-पतन की झीनी झिल्लियों में लिपटी जीवन की वास्तविकता खोज रही है। सम्पर्क भिन्न हैं, व्यक्तियाँ जुदा हैं और वातावरण प्रासंगिक है। ऐसे में 'अन्धे और हाथी' की कहावत चरितार्थ हो रही है। जो अंग जिसके हाथ लगा, वही उसकी यथार्थता बन गया। समन्वय से कोसों दूर, ये आंशिक वास्तविकताएँ दर्शन की परिभाषा में जीवन के स्वप्न सजो रहीं लेकिन रूप का अपूर्ण की परिधि में बाँधना दुष्कर ही नहीं असम्भव प्रमाणित हुआ। मानसिक-जीवन तथा विश्व-विरचना की अधूरी व्याख्या का परिणाम अपनी असफलता पर बार-बार झुंझलाता रहा और अन्ततः मानव-मस्तिष्क निजी असमर्थता को छिपाने के लिए परिभाषा-क्षेत्र में सत-पूर्ण-सम्भावना का लोभ संवरण न कर सका। परिभाषा ऐसी बनी जिसमें जीवन और जगत की सम्पूर्णता का स्थान था तथा प्रत्येक एकांगी प्रयत्न उसमें कहीं न कहीं अवस्थित किया जा सकता था। दर्शन को सम्पूर्ण जीवन तथा विश्व-प्रकृति की व्याख्या और मूल्यांकन का सद्प्रयास कहा जाने लगा। अब तो वास्तविकता का यथातथ्य स्वरूप (Ontology) पराभौतिक विचारधारा (Metaphysics) तर्क और प्रमाण सब दर्शन के अन्तर्गत समा गये। जगत की निश्चितता हो या संदेह का दृष्टिकोण व्यावहारिक आस्था हो या ज्ञान-

दर्शन की कामना आध्यात्मिक रहस्यों के गुप्त अनुभव हो या मृत्यु को समझने और जीतने की तृष्णा सबने 'दर्शन' में अपना लोक निकाला। ऐसी स्थिति भी आई कि लोग दर्शन के 'दर्शनत्व' (देखना अर्थात् समझना या मनन करना—सत्य का) को भुलाकर मात्र नित्य-नवीन समस्याओं को जन्म देना ही अपने कर्तव्य की इति-श्री समझने लगे और प्रत्येक चमत्कृत-उक्ति या गूढार्थ प्रतीति-मूलक कूटोक्ति दर्शन बन बैठी। तथ्य-दर्शन का यह प्रयास (दर्शन) अपने अपेक्षित-क्षेत्र को भुलाने लगा परन्तु शीघ्र ही सम्भल गया। जीवन की सर्वांगीणता तथा प्रकृति की अखण्डता से सम्बन्धित प्रत्येक नव-संधान एवं समस्या दर्शन के विशाल उदर में पैठ पूर्वागन्तुओं से सह अस्तित्व स्थापित करने लगी। दर्शन सच्चाई (जीव की प्राणों की ओर इसकी संज्ञा तक किसी गुप्त और रहस्यात्मक शक्ति की) के दर्शनार्थ संधान अनुसंधान और प्रतिसंधान करता रहा है और रहेगा यही इसकी सार्थकता है। अनेक महानुभावों ने दर्शन को वरदान दिये। विवेक-सम्पन्न विचारकों धार्मिक नेताओं महान् वैज्ञानिकों शोधकों तर्कशास्त्रियों मनस्वियों महात्माओं प्रभृति ने प्रकृति और जीवन की जड़ और चेतन समस्याओं के अनेक समाधान प्रस्तुत किए। इन समाधानों की पृष्ठभूमि संस्कृति वातावरण विचार-शैली एवं जीवन उपादानों की भिन्नता के कारण स्वरूप भेद लिये हुए मिलती है तो भी जहाँ तक दर्शन के आधारों का प्रश्न है वे समस्या की एक-रूपता में लगभग सब जगह एक-से ही रहे हैं। हाँ भारतीय और पाश्चात्य वातावरण तथा दृष्टिकोण के अन्तर से उनके समाधान निस्सन्देह भिन्न हो सकते हैं। अस्तु,

दार्शनिक-तत्त्व अभिप्राय

मनुष्य में केवल दो ही मुख्य भाव रहते हैं—स्वत्व और परत्व। इन्हीं से प्रेरित होकर उसके सम्मुख आज तक दो दार्शनिक समस्याएँ आई हैं। 'परत्व' के आश्रय वह विश्व क्या है? विश्व का आधार-तत्त्व क्या है? आदि जानना चाहता है। उसकी सत्ता की पराभौतिक व्याख्या करना चाहता है और अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ वहीं केन्द्रित कर आयु भर किसी रहस्यात्मक-सत्य की खोज करता रह जाता है। दूसरी ओर 'स्वत्व' का सहारा ले वह अपने लिए भी उलझा रहता है। 'वह स्वयं क्या है? उसके अन्तर में मन क्यों है? मन और शरीर का क्या सम्बन्ध है? आत्मा कौन है? उसका स्वरूप क्या है? आदि प्रश्न दूसरी समस्या की जटिलताएँ हैं। श्री रॉय ने इन्हें मानव-स्वरूप सम्बन्धी मानवीय समस्याएँ कहा है। ये ही समस्याएँ किसी विशिष्ट विचारधारा की आधार बनती हैं। इन्हीं से प्रेरित हो पश्चिम में आज तक मनस् पदार्थ और ईश्वर के अस्तित्व अनस्तित्व का संघर्ष चलता रहा है और पूर्व में जीव ब्रह्म और सृष्टि पर जिससे काफी धारणाओं का प्रसव-स्थान भी यही स्वत्व और परत्व की टकराहट है।

पूर्व में भारतीय विचारधारा विशेषकर धर्मावलम्बित रही है। आर्य जाति को कुछ परिस्थितियों बाह्य-आक्रमणों और भयंकर आन्तरिक अव्यवस्था का सामना करना पड़ा है। ऐसी परिस्थितियों में जनता की भ्रमगामी दशा को विश्वस्त स्थिति प्रदान करने के लिए तत्कालीन लोक-नायकों ने समय और क्षेत्र को परखते हुए वे नियम-सिद्धान्त स्थापित किये जिन्हें आज की संकीर्ण परिभाषा में धर्म कहा जाता है। वास्तव में यह धर्म उजड़े हुए हृदयों और हताश भावनाओं को पुनर्प्रोत्साहित करने के लिये तथा समाज की अव्यवस्था का सुधार रूप से सामना करने हेतु कल्पना किया गया था। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ धार्मिक-नियमों में भी परिवर्तन आते रहे और सामाजिक-समस्याओं का आश्रय ले आर्य-धर्म जैन-धर्म बौद्ध-धर्म पुन आर्य-धर्म (हिन्दू-धर्म) मुस्लिम-धर्म सिक्ख-धर्म ईसाई-धर्म पारसी-धर्म आदि उदित प्रचारित और प्रसारित हुए। इन धर्मों से जनता की मानसिक शान्ति का रक्षण होता था। किसी विशेष धर्म को स्वीकार करने या उसके नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने में भी सामाजिक-स्तर और आर्थिक एवं राजनैतिक लाभों को सम्मुख रखा जाता था। नीच जाति के लोगों द्वारा बौद्ध-धर्म का अपनाया जाना सामाजिक स्तर का लाभ हिन्दुओं द्वारा मुस्लिम-धर्म अपनाया जाना आर्थिक एवं राजनैतिक लाभों के प्रतीक हैं। स्पष्ट ही धर्म किसी को पौरुष जगाने प्रोत्साहन या प्रेरणा देने और उभारने से अधिक कुछ मूल्य न रखते थे। जनता अपनी मानसिक शान्ति बनाये रखने तथा अपने अस्तित्व की आस्था सुदृढ़तर बनाने के लिये इन धर्मों की रक्षा चाहती थी। जीवन-यापन के ये नियम सिद्धान्त (धर्म) जनता का कवच थे और इन पर आघात पहुँचाने वाले से जनता तद्वत् व्यवहार करती थी। यही युद्धों का मुख्य कारण था। रक्षण की इसी खींचा-तानी में प्रतिशोधार्थ वातावरण की आवश्यकता हुई तो नेताओं ने 'कर्म' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। पराजित एवं निराश स्थिति में टूटे दिल के तार जोड़ने का त्याग और तपस्या—योग और वैराग्य' के सिद्धान्त स्थापित किये गये। बौद्ध शून्यता के विरुद्ध कर्म क्षेत्र में स्वविस्मरण की अपेक्षा हुई तो 'समर्पण और भक्ति' का यशोगान हुआ तथा राजनैतिक दुरवस्था में मुसलमानों द्वारा अपने धर्म पर तलवार चलते देख अहं की रक्षार्थ 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' तथा सृष्टि के मायावादी सिद्धान्त को जन्म दिया गया। मुसलमानों द्वारा निजी-शक्ति के विनाश से अपने को हीन न देखने के अभिलाषी हिन्दुओं ने 'अहं' को उच्चतम शक्ति ब्रह्म की कल्पना में लीन कर सकने के सिद्धान्तों को उभारा। सामाजिक निराशा में आशा की शुभ्र किरण प्रदीप्त करने वाले इन सिद्धान्तों पर धीरे-धीरे आध्यात्मिकता का रंग चढ़ता गया और परवर्ती विचारकों ने इनमें रहस्य की पुट देकर नित्य-नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। येही व्याख्याएँ भारतीय-दर्शन कहलाईं।

मध्ययुग की परिस्थितियों में एक निराशापन था। उस समय का आन्तरिक

समाज (देश की भीतरी स्थिति) दो मुख्य भागों में बंटा हुआ था—उच्च जातियाँ और निम्न जातियाँ। मुसलमानों के आगमन से उच्चजातियाँ धर्म-क्षेत्र में मुसलमानों से पराजित हुई और हतोत्साहित-सी जीवन-संघर्ष करने लगीं। निम्न जातियाँ जो उपेक्षित समझी जाती थीं अपने सम्मुख एक सुव्यवस्थित समाज (मुस्लिम समाज) को जिनका हार्दिक-स्वागत करता देख रही थीं। आकर्षण स्वाभाविक था। अभिप्राय यह कि भारत की आन्तरिक जातियों में चतुर्दिक एक खिन्नता फैली हुई थी। विशेष कर उत्तर भारत में तूफान मचा था सफलता की कहीं आशा न थी असहाय निष्प्राण जनता 'गज की पुकार पर नंगे पाँव भागने वाले' भगवान् को टेरते-टेरते निराश हो चुकी थी। जरूरत थी किसी शक्तिशाली लोक-नायक की जो हिन्दुओं और मुसलमानों के संघर्ष का कठोरता-पूर्वक सामना करता हुआ दोनों के नियम-सिद्धान्तों में समन्वय प्रस्तुत कर उनका एक-छत्र नेतृत्व कर सकता। उत्तर प्रदेश में कबीर रूप में ऐसी शक्ति का उदय हुआ। पंजाबी जनता की दशा और भी शोचनीय थी। सीमा-प्रान्त होने के कारण सब प्रकार से उसका पतन हो रहा था। वहाँ भी कबीर जैसे लौह-पुरुष की अपेक्षा थी। गुरुनानक के अवतरित होने से वह पूरी हुई। परिस्थिति मर्म देखकर जन-धैर्य का आह्वान नानक ने भक्ति आवरण में अद्वैत स्थापना के माध्यम से किया। जनता की विवशता को किसी रहस्यमयी शक्ति के संकेतों में धीरज बंधाने के लिए ही सम्भवतः नानक ने 'हुकमु' की फिलासफी को जन्म दिया।[1] १ओ सतिनाम करता पुरख निरभउ निरवैर अकालमूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि के महामन्त्र से जनता को श्रद्धा प्राप्त कर उसे व्यवस्थित मानसिक-शान्ति का वरदान दिया। प्रस्तुत विचार-धारा के परिवेश में भी उपर्युक्त जीव ब्रह्म और सृष्टि-निर्माण सरीखे आधारों को पृष्ठभूमि बनाया गया। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों में पति पत्नी के शृंगारिक-स्वरूप की पुट देकर नानक ने अपनी धारणा के आधारों को और भी आकर्षक बना दिया तथा सिद्धान्तों में गार्हस्थ्य अनुकूलता का विशेष ध्यान रखा। सृष्टि-निर्माण में माया की कल्पना की और इस अज्ञान तिमिराच्छ को विदीर्ण करने की शक्ति गुरु में अवस्थित रखी गई। अतः माया का आवरण हटा कर रंजन को निरंजन में तन्मय करने का साधन माध्यम गुरु को स्वीकार कर लिया गया। मोक्ष प्राप्ति का माध्यम गुरु होने से उसकी महत्ता और कृपा हेतु श्रद्धापूर्ण गुरु भक्ति का महत्त्वशाली स्थान स्वाभाविक ही था। अस्तु, जीव माया शुद्ध अकाल-पुरुष (निरंजन) आदि गुरु नानक की 'हुकमु' फिलासफी के आधार बने

---

१ किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि। हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि ॥ —जपुजी

और इससे भी ऊपर नाम-जाप तथा गुरु-भक्ति 'सोऽहं' की स्थिति तक पहुँचने के सोपान कहलाये।

भिन्न-भिन्न रूप से होती हुई भक्ति गुरु नानक तक पहुँची थी यहाँ यह जान लेना भी अप्रासंगिक न होगा।

भारत में भक्ति परम्परा

भारतीय संस्कृति धर्माधारित मानी जाती है। उसमें भक्ति का आन्दोलन किसी एक विशेष समय या अवधि में आरम्भ हुआ स्वीकार करना वस्तुतः वास्तविकता को झुठलाने का कुप्रयास होगा। 'समय की माँग समाज के परिवर्तन का कारण होती है' अतः हो सकता है कि भक्ति के स्वरूप साधना तथा ध्येय में कभी अन्तर आया हो और धर्म की धारा हिचकोले खाती डगमगाती परन्तु आगे बढ़ती कहीं मुखर, कहीं धूमिल रूप प्रदर्शित करती पन्द्रहवीं सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के स्वर्णकाल तक पहुँची हो। मार्ग में श्रद्धा भक्ति ज्ञान और कर्म योग तन्त्र तथा पाखण्ड प्रभृति अनेक तरंगों का सामना करना पड़ा हो तो क्या अचम्भा! परन्तु यह एक तथ्य है कि भक्ति के बीज वैदिक ऋचाओं और उपनिषदों में ही वर्तमान थे। 'वैदिक ऋचाएँ देवताओं की उपासना में भक्ति और श्रद्धा के भावों से भरपूर हैं—आरण्यक का उपासना-काण्ड तथा उपनिषद् विश्वास और उपासना के पथ 'भक्ति-मार्ग' की नींव कहे जा सकते हैं।"[1]

हिन्दू विचारधारा के सम्मुख में धर्म का जो स्वरूप विचारों की जो परिपक्वता तथा विश्वास और श्रद्धा का जो अजस्र स्रोत बहता मिलता है, उसका भी प्रवेश वैदिक काल में ही हो गया था। वेदों में निस्सन्देह अनेकेश्वरवाद का दिग्दर्शन होता है प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व को देवी देवता के रूप में स्वीकारा गया है उनके समाधान हेतु ऋचा-पाठ तथा प्रसन्नता के लिये यज्ञ-विधान रचा जाता रहा है तथापि प्रकृति के इन रूपों और विविध व्यवहार-नर्तन की पृष्ठभूमि में किसी अनुपम और रहस्यमयी शक्ति की सत्ता भी स्वीकार की गई है। इस स्वीकृति को चरम विकास तक पहुँचाने का श्रेय निर्विवाद उपनिषदों को दिया जायगा। आरण्यक के उपासना-काण्ड का संकेत ऊपर किया जा चुका है। ब्राह्मण-ग्रंथ भी उसी रहस्यमयी

Shri Rama krishna Centenary Memorial 'The Cultural Heritage of India Vol II p. 48. (Quoted from H. R. Chandhry's An Early History of the Vaishnav Sect.

"The Vedic Hymns are replete with sentiments of piety and reverence in the worship of the Gods .. .. The Upasana kanda of Aranyakas and Upanishads lay the foundations of the Bhaktimarga, way of devotion and faith.

भक्ति का गुणगान करते दीख पड़ते हैं। ऐसा विश्वास साधुओं की निजी विभूति है कि उस सक्रिनिष्ठ शक्ति पर अखण्ड विश्वास रखने उचित नीति और रीति में मर्यादित रखने तथा भौतिक कठिनाइयों में भी सहायतार्थ शुद्ध हृदय से पुकारे जाने पर, वह मानवीय मनोकामनाओं की पूर्ति करती है। सदैव गृहस्थ बनी रहने पर भी वह शक्ति प्रत्यक्ष सहायक होती है यही वह विशेषता है जिसकी व्याख्या में सबके सब उपनिषद् कटिबद्ध दीखते हैं।

उपनिषदों में भक्ति

भक्ति अथवा ईश्वर में दत्त-चित्त निष्ठा का सिद्धान्त परवर्ती उपनिषदों में सविस्तार प्रस्तुत किया गया है।[1] 'भक्ति' का शब्द सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रयुक्त हुआ है।[2] मुण्डकोपनिषद् के कुछ उदाहरण प्रमाण रूप से जुटाए जा सकते हैं— 'परमात्मन् का ज्ञान वेदाध्ययन बुद्धि या गम्भीर शिक्षण से प्राप्त नहीं हो सकता केवल वह सौभाग्यशाली महापुरुष जिस पर उसकी कृपा होती है और जिसका पक्ष लेते हुए वह जिसके सम्मुख अपने को अनावृत करता है वही परमात्मन् को पहचान सकता है दूसरा कोई नहीं।[3]

सबके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वर उपासनारूप बल से रहित मनुष्य द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। समस्त भोगों की आशा छोड़कर एक मात्र परमात्मा की ही उत्कट अभिलाषा रखते हुए निरन्तर विशुद्ध भाव से अपने इष्टदेव का चिन्तन करना —यही उपासना रूपी बल का संचय करना है। ऐसे बल से रहित पुरुष को वे नहीं मिलते।" जो बुद्धिमान प्रमादरहित होकर उत्कट अभिलाषा से निरन्तर परमेश्वर की उपासना करता है उसकी आत्मा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाती है।

—III २ ४ मुण्डक। गीता प्रेस गोरखपुर।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
III २ ३।

---

1 The Doctrine of Bhakti or Single-Minded devotion to God is clearly evident in later Upanishads." The Cult of Bhakti by Jadunath Sinha.

2 'The word Bhakti occurs for the first time in the Upanishads — Same

३ मुण्डक III २ ३।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति
नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति
पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।
III २ ९ ।

इसी प्रकार "जो उस परमशक्ति ब्रह्म को पहचानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। उसका सम्पूर्ण कुल ब्रह्ममय होगा, वह शोक-पाप से मुक्त होता, वासना पर अधिकार पाता और अमरत्व को प्राप्त करता है।"[1] तैत्तरीय और बृहदारण्यक में ब्रह्म को परम-आनन्द का स्वरूप तथा मानवीय-जीवन का सर्वाधार माना गया है। श्री महेन्द्रनाथ सरकार उपनिषदों के विचारों का ऐसा विभिन्न रूप स्वीकार करते हैं जो अपने ही तक सीमित था।[2] निस्सन्देह इस विचार-सरणी के बीज वेदों में ही मिल चुके थे परन्तु सत्यानुभव के सम्बन्ध में दोनों दृष्टिकोणों (वेदों और उपनिषदों) में अन्तर है। "एक का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी है, दूसरे का बहिर्मुखी। एक आत्मा की गहराइयों में पैठकर सत्यान्वेषण करता है, दूसरा प्रकृति के व्यक्त रूपों के सहारे।"[3] स्पष्ट है कि वेदों में पाए जाने वाले भक्ति के बीजारोपण का विकास उपनिषदों में सुचारु रूप से हुआ। आगे चलकर षड्दर्शनों ने भी ईश्वरवाद का भूरि भूरि गुणगान किया परन्तु वे मुख्यतः ज्ञान पुञ्ज ही रहे, आराधना की आलम्बिनी नहीं बने। सृष्टि के निर्माण की तात्त्विक चर्चा उनका प्राण-विषय रहा। इसमें भी सांख्य दर्शन का गतिशील प्रकृति तथा निष्क्रिय ज्ञानशील पुरुष की त्रिगुणात्मक क्रीड़ा से विश्व क्रियाओं का सार्वभौम सम्बन्ध जोड़ता है, एकेश्वरवाद के लिए उपनिषदों के साथ साथ सौम्यक्षेत्र तैयार करता रहा है। "कहा गया है कि उपनिषदों में सांख्यिक और मीमांसिक विचारों का समन्वय हुआ और सांख्य के पुराने विचार वेदान्त के 'सोऽहं' एवं उपनिषदों के 'ब्रह्मवाद' के सहायक हुए।" उपनिषदें सांख्य के ईक्षण और त्रिगुणात्मक प्रकृति के विचारों के पूर्व रूप को सुरक्षित रखती हैं और यह भी बतलाती हैं कि किस प्रकार सांख्यमत की भित्ति पर एकेश्वर वाद का निर्माण बाद वाले दार्शनिकों द्वारा किया जा रहा था।"[4]

षड्दर्शनों में भक्ति

षड्दर्शनों में योग-शास्त्र भक्ति के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान रखता है। उसका

---

१ मुण्डक III २ ९।
2. Mysticism in Bhagvad Gita p 27
3 Mahendranath Senkar in Hindu Mysticism quoted by Dr Braj Mohan Gupta in हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ p 4
४ भारतीय ईश्वरवाद—पाण्डेय रामावतार शर्मा।

परम सत्य है जीव के निजी स्वरूप की पहचान। यह रहस्यवादियों की भाँति इस स्वरूप को भावात्मक न बनाकर बौद्धात्मक वैज्ञानिक रूप में स्वीकार करता है।[1] सच तो यह है कि योग आरण्यकों के दृष्टिकोण का सहज विकसित रूप है।[2]

वास्तव में आत्मा स्वयं प्रकाश होने के कारण सदैव निष्कलंक ज्योतिर्मयी अनुभूति है परन्तु मन के तमावरण में अपनी वास्तविकता को खो बैठती है। मन की वृत्तियाँ ही उसका तमावरण हैं अतः इन्हीं वृत्तियों के निरोध का नाम योग है।[3] *प्रस्तुत लक्ष्य-सिद्धि हेतु योगी भक्ति को साधन बना सकता है।* पातंजलि ने योग-साधना के अपनाने के लिये कई एक तरीके दिये हैं जिनमें ईश्वरोपासना भी एक है। ध्यान रहे यह ईश्वरोपासना को अपने में साध्य नहीं मानता केवल लक्ष्य-प्राप्ति अर्थात् मन-संयम का साधन मानता है।[4]

सूत्र युग में भक्ति

सूत्र युग में लगभग सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में मनु-संहिता की रचना हुई। मनु के मत में सृष्टि का निर्माण तामसिक प्रकृति व परमात्मन् द्वारा उत्पत्ति माने से हुआ। मनु भी आत्मज्ञान को ही ब्रह्मैक्य में उच्चतम स्थिति स्वीकार करते हैं और यज्ञादि द्वारा शरीर और मन की पुनीतता में आलोचन स्वीकार करते हैं। ईश्वरवाद की विचारधारा मनु के समय पर्याप्त पनप उठी। वेदों की नाईं उसने भी भक्ति को ज्ञान और उपासना पर ही आश्रित रखा।[5]

तन्त्रों में भक्ति

उपनिषदों ने जिन आदर्शों का विश्लेषण सैद्धान्तिक रूप से किया था अब उन तक पहुँचने के लिए सोपान की अपेक्षा हुई। पातंजलि योग द्वारा ब्रह्मैक्य का मार्ग पहले ही बता चुके थे परन्तु तत्कालीन समाज इस कठिन और दुष्कर साधन को अपनाने में लगभग असमर्थ रहा था। कुछ आत्म-संयमी तथा मननशील योगी ही इस क्षेत्र में अवतरित हो सके जनसाधारण के लिए तो यह बोझ-सा बन गया। अतः समाज में किसी ऐसे नव सिद्धान्त का जब निकलना था जनता को अधिक आकर्षित

---

1 "Yoga is the seeking of Union by the intellect, a science; "Mysticism is the seeking of the same union by emotion. An Introduction to Yoga by Annie Besant p 25.

२ ब्रजमोहन गुप्त—हिन्दी काव्य की रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ पृ ४।

३ योगश्चित्तवृत्ति निरोधः पातंजलि योग सूत्र १ २।

4 Annie Besant An Introduction to Yoga, p 26

5 Kumudranjan Ray—Evolution of Gita, p. 70

कर सकता हो स्वाभाविक भी था और आवश्यक भी । सम्भवतः इन्हीं परिस्थितियों में वशीभूत होकर भारत में शांकरादि के निषेधात्मक मार्गों के उपरान्त तान्त्रिक-साधनों की प्रचुरता बढ़ गई । लक्ष्य दोनों का एक था परन्तु मार्ग विरोधी—दोनों सत्यानुभूति के समर्थक थे परन्तु एक निवृत्ति मार्ग पर चलने वाला तो दूसरा प्रवृत्ति पर एक आत्मा और परमात्मा के बीच के पर्दे को विदीर्ण करने में विश्वास रखने वाला तो दूसरा उसी पर्दे को मिलन का साधन बनाने की कल्पना करने वाला ।

तान्त्रिक विचारधारा हिन्दुओं और बौद्धों दोनों में प्रचलित हुई । बौद्ध तो पहले से ही प्रवृत्ति-मार्ग पर बढ़ रहे थे अतः बौद्ध तान्त्रिकों का उदय पूर्व-भाव में आने वाली गिरावट के कारण ही माना जाना चाहिए । हिन्दू तान्त्रिक एक कठिनाई को दूसरी कठिनाई में विसर्जित करने के स्वप्न में रहे थे । वे अपने भिन्न सम्प्रदायों और विचार-पद्धतियों के लिए सर्वविदित एक ही लक्ष्य सच्चिदानन्द की प्राप्ति या पूर्ण शिव में मिल जाने के भिन्न साधन ढूँढ रहे थे । सम्भवतः इसीलिए प्रमथनाथ मुखोपाध्याय ने तान्त्रिक-पद्धति के विषय में 'कम सार्थकता और मोटी निरर्थकता' शब्द प्रयोग किया है ।[1] हिन्दू तन्त्रों की पाँच श्रेणियाँ हैं—शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य तथा सौर । इनमें भी शैव और शाक्त की गणना मुख्य तन्त्रों में होती है । समय-समय पर स्वार्थी विचारकों द्वारा किसी भी विचारधारा में जो विलासोन्मुखता तथा अनावश्यक-तत्वों का सम्मिश्रण हो जाता है यदि उसकी अवहेलना करते हुए देखा जाय तो तन्त्र भी उपनिषदों की रहस्यमयी अनुपम सत्ता की ओर संकेत करते दीख पड़ते हैं । यह सत्ता तान्त्रिक-भाषा में सच्चिदानन्द कहलाई जिसके दो पक्ष शिव और शक्ति हैं । यहाँ शिव की निष्क्रियता सांख्य के पुरुष की तरह शक्ति के लिए प्रेरक है । डा० ब्रजमोहन गुप्त द्वारा उद्धरित शब्दों में ये दोनों रूप अविभेद्य और अविभाज्य हैं । तन्त्र में शिव को परम सत्य माना गया है और शक्ति को उसकी सत्ता का मूल-तत्त्व । उनमें द्वैत का भाव नहीं वरन् अनन्यता है अभिन्नता है ।[2] सचराचर संसार की उत्पत्ति मूल प्रकृति या पराशक्ति माया द्वारा नाद और बिन्दु (ऊर्ध्व-मन्त्र) की रचना के पश्चात् स्वयमेव होती चली जाती है । तन्त्रानुसार जीव पशु है और संसार के पाश में बन्धा है । उसे शिव बनना है और यह प्रवृत्ति मार्ग में ही सम्भव है । बाहरी वासनायें जब उन्नतीकृत हो अन्तर्मुखी हो जाती हैं तो मनुष्य के लिए ब्रह्मत्व का मार्ग खुलता है ।

---

1 Tantra as a way of Realization. (Shri Ram Krishna Centenary memorial—The cultural Heritage of India.)

२ कल्याण साधनांक—पं० गोपीनाथ कविराज पृ० ८८१ ।

पुराणों में भक्ति

भक्ति मानव-मन की वह सद्भावना है जिसकी उत्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के समन्वय से होती है। जिसके प्रति हम श्रद्धा रखते हैं उसके गुण-श्रवण में हमें आनन्द मिलता है उसकी वार्ता से प्रसन्नता होती है उसके निन्दकों से घृणा और उसके प्रशंसकों से प्यार होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया प्रत्येक व्यवहार—गुण हो या दोष हमारे लिए उसी में सुन्दर विश्वास होता है और फिर जब उसमें प्रेम का समावेश होता है तो चाहक चातक ही बन जाता है। वह अपने प्रेम-पात्र के लिए ही सोता-जागता है उसी के स्वप्न देखता है और उसके प्रेम के रंग में धीरे-धीरे इतना रंग जाता है कि स्वयं ही प्रेममय होकर अपने इष्ट का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार सद्भक्ति सम्पन्न ज्ञानी मानवात्मा प्रथम स्थिति में अपने इष्ट के लिए विरह में तड़पती है दूसरी स्थिति में प्रेम के नशे में सब जड़-चेतन में उसी का ह्रास विकास देखती है और अन्ततः चरम-स्थिति में 'कृष्ण कृष्ण रटत राधा कृष्ण भई' का तथ्य सिद्ध होता है। स्पष्ट है कि भक्ति की प्रथम स्थिति 'विरह-विदग्धता' आत्मन् की जिज्ञासा के कारण उसके पूर्व पाप विमोचन का आधार बनती है दूसरी में भक्त अहंभाव का त्याग करता है और तीसरी स्थिति में ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। यही भक्ति का चरम-लक्ष्य है।

इस प्रकार की भक्ति के बीज हम पीछे वैदिक काल में अंकुर उपनिषद् काल में तथा विकासोन्मुख प्रस्फुटन तत्त्वों में देख चुके हैं। भक्ति का प्रस्तुत होनहार बिरवा पुराणों और गीता की सहायता से पल्लवित-पुष्पित हो भारत के कोने-कोने में और-मधुगन्ध फैलाने लगा। यह मादक सौरभ पा भारतीय संस्कृति ने करवट बदली चिन्तन का युग आरम्भ हुआ और १२वीं शती तक पहुँचते-पहुँचते कथित पेड़ सन्तमत का सरस और मधुर फल धारण कर ऊँच-नीच शूद्र-ब्राह्मण सबको आकर्षित करने लगा। पौराणिक भक्ति का मूल व्यक्तिगत श्रद्धा है अर्थात् उसमें किसी परम पुरुष परमात्मा की कल्पना अनिवार्य है। विष्णु तथा भागवत् पुराणों में इस परम ईश्वरत्व की कल्पना विष्णु में की गई है। इस प्रकार सर्वप्रथम यहीं पूर्व-कालिक देवता विष्णु को भगवान् का रूप दिया गया और उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन हरिभक्ति दर्शाया गया। भगवान् के निवास-स्थान वैकुण्ठ की कल्पना करते हुए जीवों को वैकुण्ठ-विभूति की प्राप्ति की प्रेरणा दी गई। हरिभक्ति को सर्वोच्च धर्म माना और उसके लिए अखण्ड श्रद्धा तथा आत्म-विसर्जन की कामना की। ऐसा करने में आत्मा-परमात्मा के मिलन (मुक्ति) भी पा जाता वहीं वह सारूप्य तथा सायुज्य कहलाई। भारतक्षेत्र क्योंकि नारायण के शरीर में अर्जुन की भाँति त्रिलोक खण्ड ब्रह्माण्ड देख चुका था अतः उसके पुराण में सब कुछ नारायण के अन्तर्गत

होने की विचारधारा पाई जाती है। उसके लिए भक्त तो भगवान् में समाया हुआ है ही केवल जागृति की आवश्यकता है।

भगवद्गीता में भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता की रचना के समय दो प्रकार की साधनाएँ प्रधानतः प्रचलित थीं जिनमें एक 'ज्ञानयोग' और दूसरा 'कर्मयोग' था। इनमें से प्रथम का रूप मुख्यतः आत्मोपासना का था जिसके अनुसार मनुष्य का कर्तव्य अपने चित्त को सभी सांसारिक बन्धनों से हटाकर तथा उसे नित्य शुद्ध एवं ज्ञानमय आत्मा की ओर उन्मुख कर पूर्ण आत्मज्ञान की उपलब्धि करना और दूसरे का रूप इसी प्रकार 'कर्मोपासना' का था जिसके अनुसार सब किसी को चाहिए कि अपने कर्म सम्बन्धी व्यापारों का निर्वाह उन्हें यज्ञ या कर्तव्य मानकर करें जिससे आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति हो। ये दोनों मार्ग क्रमशः 'निवृत्तिमार्ग' एवं 'प्रवृत्तिमार्ग' भी कहलाते थे और श्रीकृष्ण ने इन दोनों को मर्यादित कर इनका 'ज्ञान कर्मयोग समुच्चय' के रूप में समन्वय कर दिया।[1] ज्ञान और कर्मयोग के अतिरिक्त गीता में श्रीकृष्ण ने योग और भक्ति का समावेश भी किया। भक्ति-क्षेत्र में गीता को पूर्वकालिक धर्म-ग्रन्थों से पर्याप्त विकसित आश्रय प्राप्त हुआ था। वैसे भी परिस्थितियाँ धर्म के साथ भक्ति की माँग कर रही थीं। अनेक प्रकार के भ्रम चक्रों में फँसी जनता एक ऐसा अवलम्ब चाहती थी जो, उसके सन्देहयुक्त हृदयों में विश्वास का बीजारोपण कर सके उसकी डगमगाती धर्म-नौका की पतवार बन सके और जो जनता को शून्यता के क्षेत्र से हटा साक्षात् सगुण ब्रह्म का स्वरूप दिखा सके। ऐसी शक्ति तात्कालिक स्थिति में मात्र भक्तियोग में ही निहित थी। अतः गीता में श्रीकृष्ण ने जनसमाज को ईश्वर वाद के पर्दे में व्यक्तिगत परमात्मा को देख लेने के लिए कहा—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

गीता अ० १२। श्लोक ८॥

अर्थात् 'हे मानव तू मुझमें अपने मन को रमा मुझमें ही अपनी बुद्धि को सन्निहित कर। तब तू निस्सन्देह मुझमें ही समा जायगा।'

शाण्डिल्य-सूत्र तथा नारद-सूत्र

गीता की भगवद्भक्ति परवर्ती साहित्य शाण्डिल्य भक्ति सूत्र तथा नारद भक्ति सूत्रों में और भी खिल उठी। शाण्डिल्य ने भक्ति को ईश्वर के प्रति अटल अविच्छेद्य सम्पूर्ण तथा अनन्य अनुरक्ति की भावना स्वीकार किया है। ईश्वर के प्रति

---

१ उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी पृ० २१।

अतीव आदर, आनन्द की संवेदनाएँ, जुदाई में विरह पाना, अन्य सब वस्तुओं से विरक्ति, निरन्तर भगवद् यशोगान, उसी के प्रति जीवन-समर्पण, उसकी सर्वव्यापक सत्ता के प्रति जागरूकता, उसके सर्वोपरि होने का ज्ञान तथा उसके प्रति विरोध का अभाव सच्ची भक्ति के चिह्न हैं।[1] श्रीकृष्ण ने गीता में ज्ञानवान् तथा भक्त को लग-भग समान अवस्था में रखकर ज्ञान और भक्ति को समस्तर कर दिया है। परन्तु शाण्डिल्य ने स्पष्टतः भक्ति को ज्ञान प्रकृति का न मानकर मानसिक संवेग रूप में स्वीकार किया है। भक्ति के उदय में ज्ञान का अवसान होना, भक्ति का रागानुभूति स्वीकार किया जाना, घृणा-सरीखी निम्न वृत्तियों में भी ज्ञान का पाया जाना और पूर्णतः अनपढ़ अशिक्षित तथा अज्ञानी लोगों का भी केवल भक्ति द्वारा मुक्त हो जाना कुछ ऐसे प्रमाण हैं जो शाण्डिल्य अपने कथन की पुष्टि में प्रस्तुत करते हैं। जीवन मरण का चक्र भी अज्ञानता के कारण नहीं चलता, शाण्डिल्य के मत में उसका कारण भी भक्ति का अभाव है। भक्ति-भावना के उदय होते ही जीव इस चक्र से मुक्ति पा सकता है।

नारद भक्ति सूत्र पूर्वोक्त सभी धारणा से अछूता और भक्ति का अगम्य स्रोत है। भक्ति की परिभाषा में नारद ने परम प्रेम को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। 'परम' शब्द यहाँ तीन मुख्य बातों को दर्शाता है (१) भक्ति अनिवार्यतः अविभाजित है, यह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य से नाता तोड़ती है। (२) कर्म या चिन्तन इसे कभी प्रभावित नहीं कर सकते। यह अपने में साध्य है साधन नहीं। (३) यह अन्तर्मुखी या निष्क्रिय नहीं—अपने आप वचन कर्म और मनोविचारों से इसका प्रकटीकरण होता रहता है।[2] नारद के मतानुसार भक्ति सर्वप्रेम-सम्पन्न शक्ति है, सत्यों की मात्र सिद्धि और आदर्शों में परमादर्श है। दुनिया की आसक्ति का त्याग करना, ईश्वर नाम की उपासना करना तथा भक्ति की 'भावना' में ओतप्रोत रहना मुक्ति तथा ब्रह्मैक्य का सहजतम और सीधा मार्ग है। भक्ति कई प्रकार से अपनाई जा सकती है, मुख्यतः इसके ९ रूप हैं, कोई भी एक लक्ष्य-सिद्धि का आधार बन सकता है—श्रवण, नाम स्मरण, प्रणाम, पूजन, प्रार्थना, दास्य, सख्य, आत्म-समर्पण।

दार्शनिक चिन्तन का कारण

भक्ति की उपरिवर्णित तरंगों के पश्चात् देश में चतुर्दिक बौद्धमत का तूती बोलने लगा। जाति भेद की अमान्यता राज्य-धर्म के रूप में ग्रहण किया जाना और

---

1 Sandilya Sutra 44 Translated & Quoted by Jadunath Sinha in the Cult of Bhakti

2. Nand Lal Sinha Bhakti Sutras of Narad quoted by Jadunath Sinha in the Cult of Bhakti.

महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित सच्चरित्रता का स्तर अधिक रखने के सद्प्रयास बुद्ध-धर्म के विकास में अतीव सहायक हुए। पुनः जन-साधारण का सौभाग्य न उसमें हठयोग था न उसमें नाम-काण्ड या कर्मसिक्त सीधे-सादे भावों को अपनाए नीति पर आधारित यह धर्म था। महात्मा बुद्ध द्वारा प्रकाशित चतुसत्य मानव जीवनानुभवों का एक अंश थे इसलिए समझ आने में कठिनाई नहीं हुई और दूसरी ओर शान्त अष्ट-मार्ग पर जीवन-यापन करना कर्म या ज्ञान काण्ड से कहीं महत्व था। बस फिर क्या था ब्राह्मणों की लच्छेदार संस्कृत भाषा और यज्ञ-कर्मों से तंग आए देशवासी बुद्धिगम्य व लोकभाषा के इस संदेश की ओर बढ़े। हिन्दू-धर्म की नींवें हिल गई शास्त्रज्ञों-विद्वानों की जीवन-तरी मझधार में डगमगा गई। हो सकता था कि बुद्ध धर्म में ही सब लुप्त हो जाता परन्तु गुणों की अनन्तता में विकारों का समावेश उनकी मृत्यु से भी कुछ पहिले कहा जाए तो क्या अत्युक्ति! बुद्ध-धर्म में भी विकृति आई। वज्रयान सरीखी उपशाखाएँ उदित हो गई और वे अपनी ही शाखा पर कालिख पोत बैठे। आगे चलकर उन्हीं की शिष्य-परम्परा में आय-भिक्षुओं ने उनकी दुष्टताओं का विरोध किया और अपने नव-सम्प्रदाय में हिन्दुत्व की ओर पुनः मुड़ गए। परन्तु बौद्ध-धर्म की उस सामयिक-दुर्बलता से अनुओं ने लाभ उठाया। हिन्दू मतावलम्बियों और धार्मिक नेताओं ने धर्म का चिन्तन व अंश में लाकर उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि की पुष्टि करनी आरम्भ की तथा तर्क-पद्धति को अपना कर बौद्धों की दुर्बलताओं का ढिंढोरा पीटा और लोगों को अपनी ओर पुनराकर्षित करने में बहुत कुछ सफल हो गए। इतिहास इसे हिन्दू-धर्म की पुनर्स्थापना कहकर पुकारता है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

शंकराचार्य जिनका समय संवत् ८४५ से सं० ८७७ है सर्वप्रथम नव-पद्धति प्रणेता कहे जा सकते हैं। शंकर ने परम-तत्त्व को ब्रह्मन् का नाम दिया जोकि 'ज्ञान-स्वरूप' अथवा 'निर्गुण' और 'निर्विकार' स्वरूप-ज्ञान का प्रतीक है। जब ब्रह्म अपनी शक्ति माया या मूलाविद्या से युक्त होता है तो सगुण सविकार या अपार ब्रह्म अथवा ईश्वर कहलाता है। तब वह संसार का रचयिता पोषक तथा संहारक बन बैठता है यह उसका बाह्याचार है।[1] शंकर माया को मात्र भ्रम नहीं मानता। उसका अस्तित्व अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है। उसका मूल-अस्तित्व नहीं क्योंकि यह विलपता ब्रह्म और केवल ब्रह्म की है वह अनस्तित्व भी नहीं क्योंकि वह ब्रह्म के बाह्याचार का कारण बनती है उसमें अस्तित्व तथा अनस्तित्व धर्मों की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वह सघन भ्रमात्मक है। अतः उसे मिथ्या कहना

---

1 Indian Philosophy—Chandradhar Sharma Banaras University

अधिक उचित है। श्री चन्द्रधर शर्मा के शब्दों में वह खरगोश के सींगों के समान मूलतः अनुपस्थित भी तो नहीं वह अध्यास है।[1]

जीव जब तक अज्ञानाच्छन्न है वह ब्रह्म की इस पदार्थ-सृष्टि (माया) को वास्तविक समझता है अज्ञान का आवरण फटते ही माया का भ्रम भी दूर हो जाता है और मिथ्या-अनित्य संसार की 'सत्यता' का भ्रम भी।

शंकर सिद्धान्त में तीसरी वस्तु आत्मा है। शंकर उसे ब्रह्म से पृथक नहीं मानता वह स्वयं ब्रह्म है केवल अविद्या या अज्ञान के कारण भ्रम में पड़ी वह भाव अपने को परम-सत्य से जुदा समझती है।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद

ब्रह्म आत्मन् और माया का जो स्वरूप शंकर तर्क-बल से स्थापित कर पाया था वह विद्वानों आचार्यों और शास्त्रज्ञों के लिये तो बुध्यानुमान था परन्तु शेष जन-साधारण हेतु वह और वह भी फीका। ज्ञानस्वरूपी निर्गुण ब्रह्म उनके मस्तिष्क की ग्राह्यशक्ति के बाहर की वस्तु थी[2]। ग्यारहवीं शताब्दी विक्रमी में रामानुजाचार्य ने इसे अनुभव किया और शंकर के अद्वैत को नव-स्वरूप-विधान के सांचे में ढालकर विशिष्टाद्वैत का वेष पहनाया। उसने ईश्वर को सत्य चिन्मय और असीम कहा। उसकी उपाधियाँ और गुण भी अनन्त और असीम हैं। 'नेति नेति' द्वारा असीम की 'ससीमता' का निषेध किया गया है स्वयं असीम का नहीं।[2] रामानुज ने जीव और पदार्थ की पृथक सत्ता स्वीकार की है परन्तु फिर भी उनका अस्तित्व परम-तत्त्व ईश्वर के अन्तर्गत माना है। डा० राधाकृष्णन ने जीव और पदार्थ का परम-तत्त्व से इस प्रकार का सम्बन्ध बताया है जैसे धर्म का वस्तु के साथ जैसे अंश का पूर्ण के साथ या जैसे शरीर का आत्मा के साथ—जो उसमें प्राण संचरित करती है।[3] वे (जीव एवं पदार्थ) प्रकार हैं तो ईश्वर प्रकारी वे नियम्य हैं ईश्वर नियन्ता वे शेष हैं ईश्वर शेषी। वे वास्तविक और स्थायी हैं यद्यपि परिवर्तन और विनाश हेतु वे उस परम-तत्त्व ब्रह्म के अधीन हैं।[4] स्पष्ट ही

---

1 Indian Philosophy—Chandradhar Sharma Banaras University

२ हिन्दी काव्य की रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ—डा० ब्रजमोहन गुप्त।

3 Indian Philosophy Vol II p 684 by Dr Radhakrishanan.

Souls and matter are comprehended within the unity of the Lord's essence and are related to the Supreme as attributes to a substance as parts to a whole, or as body to the soul which animates it

4 Indian Philosophy by Radhakrishanan p 685

रामानुज द्वारा की गई ईश्वर की व्याख्या में हम तीन मुख्य संकेत पाते हैं (१) ईश्वर परम-सत्य है। (२) वह ब्रह्म है और ब्रह्म सविशेष या गुण-धर्म युक्त ही होना चाहिए। (३) ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का नियंता है तथा पदार्थ और आत्मन् उसी के अन्तर्गत हैं।[4] जीव ईश्वर के अन्तर्गत होते हुए भी अपने में स्वतन्त्र है। अपने कर्मों का वह पूरा-पूरा उत्तरदायी है यही कारण है कि कर्मफल-भोग के लिए वह जन्म मरण के चक्कर में पड़ता है। केवल मुक्ति ही एक ऐसा साधन है जिससे वह पुनः आवागमन के चक्र से बच सकता है। मुक्ति-प्राप्त जीव सूक्ष्म हो सदा के लिए ईश्वर में विश्राम करता है। वह ईश्वर जैसा हो उसके सभी गुणों का ग्रहण कर लेता है—अपवाद केवल इतना ही है कि उसमें उत्पत्ति संरक्षण-पोषण तथा संहार या प्रलय शक्ति सरीखे ईश्वरीय गुण नहीं आ पाते। वह ईश्वर में मिलकर भी सृष्टि का आन्तरिक नियंता नहीं बन पाता। कहने का अभिप्राय यह कि मुक्ति के उपरान्त भी जीव ईश्वर से कुछ भिन्न रहता ही है।

रामानुज भक्ति को ही मुक्ति का सरल और मुख्य आधार स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार ईश्वर दयालु है जब कोई उसे एक-चित्त स्मरण करता है उसके विरह में दुःखी होता और मिलन के लिए तड़पता है उसकी आराधना करता और उपासना में मग्न रहता है तो स्वयं ईश्वर उसकी तड़प देख उस पर कृपा करते हैं और उसे अपने में लीन करने को तत्पर होते हैं। रामानुज भक्ति के क्षेत्र में भी 'आत्मसमर्पण' भाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन्होंने इसे 'प्रपत्ति' कहकर पुकारा है।

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित जनता भगवान की गोद में शरणागत की अपेक्षा रखती थी। शंकर तथा रामानुज के निर्गुण एवं सविशेष ब्रह्म जनता की दुखती नब्ज़ को पकड़ पाने में असमर्थ थे। लोगों को ऐसे भगवान् की आवश्यकता थी जो गज की पुकार सुन कर नंगे पाँव दौड़ पड़ें जो डूबते ब्रज को उबारने के लिए गोवर्धनधारी बन जायें और जो सखा के पूँछ बन भाव से विदुर का अनूठा साग भी ग्रहण करें। जनता को आवश्यकता थी उस भगवान् की जो भक्त पर आई विपत्ति देख सुदर्शन ले नंगे दौड़ें भक्त के शत्रुओं का नाश और भक्त के मित्रों का कल्याण बनकर रहें। समय की इस माँग का अध्ययन वल्लभाचार्य ने किया और अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत के समकक्ष जनवादी बन शुद्धाद्वैत की स्थापना की। वल्लभ ने ईश्वर को सगुण माना जिसका साक्षात्

4 Indian Philosophy by Chandradhar Sharma

स्वरूप वासुदेव श्रीकृष्ण में उपलब्ध है। वे परम दयालु हैं जनता की पुकार प
सहायतार्थ दौड़ते तथा भक्त के वश में रहते हैं। माया उनकी सबसे शक्ति
लेकिन किसी भी रूप में उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उसका कार्य-क्षे
तथा सक्रियता दोनों ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। ईश्वर सगुण है उसमें अपार
और असीम गुण हैं। सत्, चित् और आनन्द उसके प्रधान गुण हैं इसीलिए उ
सच्चिदानन्द भी कहा जाता है।

जीव भी ब्रह्म है परन्तु उसमें आनन्द का गुण नहीं होता। इसीलिए व
अविद्या युक्त हो संसार में दुःख-सुख सहन करता है। यदि भगवद्-कृपा से उ
आनन्दांश मिल जाए, तो वह जगतातीत हो जाता है और ब्रह्मवत् गुणयुक्त हो स्व
ब्रह्म बन जाता है। यही मुक्ति है।

वल्लभ का मत है कि ईश्वर जब अकेले रहते तब ऊबकर तभी उसने अपनी
इच्छानुसार अपने ही में से जीवों और सृष्टि का निर्माण किया। स्पष्ट ही क्योंकि
जीव और सृष्टि ईश्वर या ब्रह्म का अंश हैं वे सत्य ही होंगे। ब्रह्म में से जीवों क
आविर्भाव अग्नि से स्फुलिंगों की भाँति होता रहता है।[1] इससे सृष्टि का विकास
क्रम कभी ढीला नहीं पड़ता। वल्लभाचार्य मुक्ति-प्राप्ति का एक मात्र साधन ईश्वर
कृपा को मानते हैं जिसे वल्लभीय भाषा में 'पुष्टि' कहा जाता है। इसी से वल्ल
के सुझाव तथा विचार को 'पुष्टि मार्ग' भी बोलते हैं। ध्यान रहे पुष्टि की प्राप्ति
भगवद्भक्ति से ही होती है। पुष्टिमार्ग का उच्चतम लक्ष्य मुक्ति नहीं प्रत्युत श्रीकृष्ण
की अबाध और सर्वाङ्गीण सेवा है जिसमें जीव श्रीकृष्ण के वृन्दावन विहार में भाग
लेने की योग्यता प्राप्त करता है।[2]

बौद्ध तान्त्रिक

छठी-सातवीं शती के तान्त्रिकों में वेद-विहित आचार का इतना पालित करने की
प्रवृत्ति बहुत तीव्र है। ये लोग सात प्रकार के आचार मानते थे जिनका उत्तरोत्तर
श्रेयस् क्रम इस प्रकार है—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार,
सिद्धान्ताचार और कौलाचार।[3] कौलाचार वाले किसी भी नियम को स्वीकार नहीं
करते। वामाचारी तो नारी-भोग को ही मुक्ति का मार्ग मानते थे। पूर्व की ओर जिन
वज्रयानी तान्त्रिकों का प्रभाव था वे वामाचारी वर्ग के ही थे और सिद्ध कहलाते
थे। जनता उनसे पर्याप्त भयभीत रहती क्योंकि वे ऋद्धि सिद्धियों के धारक थे और

---

१ डा० कृष्णमोहन गुप्त—हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक प्रवृत्तियाँ।
2. Indian Philosophy Dr Radhakrishanan p 760
३ मध्यकालीन धर्म साधना—हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ६६-६७।

जनता का विश्वास था कि वे अलौकिक शक्ति-सम्पन्न होते थे। 'बिहार के नालंदा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्या-पीठ इनके अड्डे थे। बख्तियार खिलजी ने जब इन स्थानों को उजाड़ा तब ये सब तितर-बितर हो गए। बहुत से भोट आदि अन्य देशों को चले गए।'[1]

दसवीं शताब्दी तक आते आते हिन्दू धर्म पर्याप्त सुदृढ़ता की पुनःप्राप्ति कर चुका था। परन्तु बौद्ध धर्म में टोना-टोटके की वृत्ति भी बढ़ती जा रही थी। भारत में मुसलमानों के आगमन से समाज में एक महान क्रान्ति आ रही थी। हिन्दू जाति को एक और सुव्यवस्थित और स्वतन्त्र विचारधारा की प्रबल शक्ति का सामना करना पड़ रहा था। दोनों में आत्मरक्षा की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और दोनों अपने समाज की नित नवीन क्रिया-भक्तियाँ करने लगे।

नाथ-पंथ

नाथ-पंथी योगी भी वज्रयान सिद्धों की ही एक शाखा है जो कि उसमें छूट कर अपने साधन और साध्य को परिवर्तित करने में ही श्रेय मानती रही है। जहाँ वज्रयान वीभत्साचार और अश्लीलता में ही अपनी करामातों की महानता समझते थे वहाँ नाथ योगियों ने पातंजलि द्वारा स्थापित योग का साधन और ईश्वर प्राप्ति के परम-लक्ष्य को साध्य रूप में अपनाया। गोरखनाथ (११वीं शताब्दी) एक प्रथम व्यक्ति मिलते हैं जिन्होंने अपने मत का खूब प्रचार किया और हठयोग तथा मनोमारण की क्रियाओं की शिक्षा दी। "गोरख ने अजपा जाप द्वारा चंचल मन को स्थिर कर ब्रह्मरंध्र महारस का योगामृत उपलब्धि की विधि बताई है।—श्वास क्रिया की धौंकनी के सहारे ही रस जमाकर उक्त कार्य सम्पन्न किया जाता है।"

—(गोरखबानी (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) पृ० ९१-९२ पद ६। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी द्वारा उद्धृत)

नाथ पंथ में जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं था अतः निम्नजाति के लोगों ने इस सम्प्रदाय को ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक आश्रय दिया। क्योंकि नाथ पंथ एकेश्वरवाद को लेकर चला था इसलिये मुसलमानों के लिए भी उसमें आकर्षण था। अतः इस पंथ को अपनाने वाले हिन्दू-मुसलमान दोनों थे—स्पष्ट है हिन्दू मुसलमानों का समान व्यवहार और एक भक्ति-मार्ग देने में नाथ-पंथ ही सर्वप्रथम ठहरता है। यहीं से निर्गुण धारा का उदय होता है।

महाराष्ट्र में भक्ति

गोरखनाथ ने महाराष्ट्र में भी प्रचार किया था। वहाँ के प्रसिद्ध संत ज्ञानदेव

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० ९।

(ज्ञानेश्वर) ने अपने को गोरख की शिष्य परम्परा में स्वीकार किया है—आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर। ज्ञानदेव के समकालीन महाराष्ट्र में प्रसिद्ध महात्मा नामदेव हुए हैं। वे जाति के छीपी थे। कहते हैं कि जब परशुराम ने क्षत्रियों का नाश करने का बीड़ा उठाया उस समय अपने को बचाने के लिये इनके पूर्वजों ने अपनी जाति छिपायी थी, अन्यथा वे भी मूलतः क्षत्रिय थे। बाद में जाति छिपाने के कारण छीपी कहलाने लगे। सुनते हैं कि एक बार ज्ञानदेव इनको साथ लेकर तीर्थयात्रा को गए। वहाँ एक रात जब सब महात्मा जन मिलकर बैठे तो किसी के इस प्रस्ताव पर कि बताओ कौन पक्का है, भगवान महात्मा ने जो कि कुम्हार थे, अपने मिट्टी ठोकने वाले डण्डे से सब के सिर पर चोट लगानी शुरू की और जब नामदेव की बारी आई तो वे सिहर उठे और कच्चे घोषित कर दिए गए।[1] इस घटना के बाद नामदेव ने गुरु की खोज की। (ध्यान रहे यहीं से निर्गुण परम्परा की 'गुरु बिन गति नहीं होय' का श्रीगणेश हो जाता है।) एक दिन मन्दिर में उन्होंने एक व्यक्ति को विट्ठल की मूर्ति पर पैर रखे सोए देखा। मूर्ति का अपमान न सह सके, शीघ्रता से उस व्यक्ति के पैरों को खींचकर दूसरी ओर कर दिया। देखते हैं कि मूर्ति भी साथ ही घूम गई। फिर क्या था, जोगी को गुरु मिल गया। नामदेव उनके चरणों में गिर पड़े और उनसे दीक्षा ली। उस व्यक्ति का नाम था विसोबा खेचर। संत नामदेव ने भगवद्भक्ति के अनेक पदों की रचना मराठी और हिन्दी में की है। इनके कुछ पद 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी संगृहीत हैं। भारत की भक्ति परम्परा में इनका नाम सगुण और निर्गुण धाराओं के दोराहे पर आता है। सम्भवतः ये पहले संत हैं जिन्होंने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य अपने ही जीवन में गुरु के महत्त्व तथा निर्गुणोन्मुखी सगुण वाणी का साक्षात् अनुभव प्रदान किया और आने वाली 'निर्गुण-धारा' का मार्ग खोल दिया। हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों में व्याप्त भेद पाखण्डों की कटु आलोचना भी नामदेव से ही आरम्भ हो गई थी, बाद में कबीर ने इसी का आह्वान किया।[2]

---

1 इस घटना का वर्णन बहुत से आचार्यों ने किया है, यथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में और डा० विनय मोहन शर्मा ने 'महाराष्ट्रीय संतों की हिन्दी को देन' में।

2 हिन्दू अन्हा तुरकू काणा दुहाँ ते गिआनी सिआणा ।
हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमाणु मसीति नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीति ॥
—आदिग्रन्थ राग गौंड नामदेव की बाणी पृ० ८७५ ।

सूफी-भक्ति

सन्त नामदेव से बहुत पहले भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो चुके थे। मुस्लिम विजेताओं में जब पठानों ने भारत में अपना राज्य जमाना शुरू किया तो उसके साथ-साथ मुस्लिम धर्म भी भारत में फैलने लगा जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। लगभग १३वीं शताब्दी में मुसलमान महात्माओं की कुछ टोलियाँ रमते योगियों की भाँति घूमती फिरती भारत में आईं। इनमें सुप्रसिद्ध टोली चिश्तिया टोली कहलाती है जिसने भारत में सर्वप्रथम अपने विचारों का प्रचार किया। इसके प्रणेता थे खुरासान के चिश्तनगर-वासी अबू इसहाक नामी चिश्ती। इन्हीं की शिष्य परम्परा में मुइनुद्दीन चिश्ती (सं० ११९९ से १२९३) भारत में आए और लाहौर (पंजाब) में दातागंज (यह अबुल हसन अलहुज्विरी प्रसिद्ध सूफी फकीर की समाधी है। ये चिश्ती से पहले आए थे परन्तु प्रचार का वास्तविक श्रेय मुइनुद्दीन से ही होता है) के पास ठहरे। वहाँ से संवत् १२२२ में ये अजमेर चले गए और वहाँ से अपने मत का प्रचार करते रहे। आज भी इनकी समाधी (दरगाह) अजमेर में चिश्तियों का 'मक्का' नाम से प्रसिद्ध है और हर वर्ष लोग वहाँ ज़ियारत के लिए आते हैं।

सर्वमान्य विषय है कि जब कभी धर्म में बाह्याडम्बर बढ़ जाए आन्तरिक अवस्था दुराचारपूर्ण और पाखण्डयुक्त हो तो उसकी प्रतिक्रिया रूप में कोई न कोई विद्रोही पक्ष होता ही है। कैथोलिकों के विरोध में प्रोटेस्टेंट्स का पैदा होना हिन्दुओं की गन्दगी के विरोध में सिक्खों का उदय जिस प्रकार प्रतिक्रियाएँ हैं हमारे मत में ठीक वैसे ही मुसलमानों की खिलाफत के विरोध में सूफियों का उदय हुआ है। हज़रत मुहम्मद के देहावसान (संवत् ६८८) के बाद खलीफा लोगों अबूबकर (मृत्यु सं० ६९१) उमर (मृ० सं० ७००) उसमान (मृ० ७१२) और अली (मृ० ७१७) तक कार्य सदाचार पूर्ण और नीति संगत चलता रहा। बाद के खलीफाओं ने वैभव-सम्पत्ति अपनाई और फतवे आदि देने का पालन रखा। ऐसे ही वातावरण की प्रतिक्रिया में सूफीमत का आरम्भ हुआ।[1] यद्यपि भारत में सूफियों का आगमन १३वीं शताब्दी में हुआ तो भी अरब देशों में यह सम्प्रदाय आठवीं शताब्दी से चल निकला था। मुस्लिम जन-श्रुति के अनुसार सर्वप्रथम सूफी फकीर सिमा शेख अबू हाशिम को माना जाता है जिन्होंने मेसोपोटामिया में एक मठ बनाया था और वहीं से इस मत के विकास का श्रेय उन्हें दिया जाता है। तब से भारत प्रवेश तक अनेक सूफी महात्मा हुए। मुस्लिम धर्म के ठेकेदारों ने उन्हें

---

१ सूफी काव्य संग्रह—परशुराम चतुर्वेदी तथा तर्जुमा कुरान शरीफ (भूमिका)—नन्दकुमार अवस्थी।

अनेक कष्ट दिये। मंसूर सरीखे महापुरुष पर काफिर का फतवा लगा सूली (सन् ६७१) पर चढ़ा दिया। जुन्नुन् मिस्री को कठोर कारावास का दण्ड दिया और महान् मुस्लिम महात्मा मौलाना रूम के [illegible] शम्सुल तबरेज की खाल खिंचवाली गई। भारत में आने पर सूफियों और मुस्लिम विजेताओं में धर्म प्रचार के क्षेत्र में मतभेद रहा। मुस्लिम विजेताओं ने तलवार के बल पर धर्म फैलाया तो सूफियों ने अपने चमत्कार के बल पर। सच पूछो तो दोनों काम शरीअत के विरुद्ध हुए।[1]

सूफी साधना का अन्तिम लक्ष्य है वस्ल (ईश्वर-मिलन)। भारतीय साधना इसी लक्ष्य को लिये आवरण प्रगति करती आ रही है। इस लक्ष्य को देखकर भारतियों को इसमें अधिक आत्मीयता दिखाई दी और भारतीय पद्धतियों पर सूफियों के लक्ष्य-सिद्धि-पथ का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सूफी साधना बका (तद्रूप होना) को जीवनोद्देश्य मानती है। प्रस्तुत जीवनोद्देश्य तथा चरम-लक्ष्य 'वस्ल' तक पहुँचने के लिये मनुष्य को नासूत की स्थिति से ऊपर चलना होता है। जीवन में पवित्रता प्राप्त करने वाला व्यक्ति जब ईश्वरीय-ज्ञान का चिन्तन करने लगता है तो वही मारफत की अवस्था होती है। दूसरी अवस्था 'इश्क' की है। ईश्वरीय ज्ञान का चिन्तन जब आवेगयुक्त हो जाता है तो इश्क (प्रेम) का उदय होता है। इश्क की स्थिति कभी-कभी उन्मादमयी हो जाती है। यह तीसरी स्थिति है जिसे 'वज्द' कहते हैं। इसमें साधक कभी समाधि में खो जाता है। चौथी स्थिति वही चरम-लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य तड़पता रहता है। इसे ही 'वस्ल' बोलते हैं। कुछ सूफी काव्यों में शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत नाम के चार सोपान उपलब्ध हैं। इन सोपानों पर पहुँचने के लिये मुरीद (शिष्य साधक) को मुर्शिद (गुरु) का सहारा अपेक्षित है। गुरु को पीर भी कहा गया है और यह पीर ही वास्तव में रसूल और अल्लाह तक पहुँचाने का उत्तरदायी होता है। परन्तु ध्यान रहे पीर केवल तभी सहायक हो सकता है यदि मुरीद अल्लाह अनन्य प्रेम के चुम्बक की ओर स्वयं खिंचता रहे। वास्तव में 'प्रेम' सूफी-सिद्धान्तों और सूफी काव्य का प्राण है। मजा उस बात में है कि वे सीधे खुदा के प्रेम को लक्ष्य करके लेखनी नहीं उठाते। साधारण सांसारिक प्रेमी-प्रेमिका की कहानी [illegible] और तदोपरान्त उसके रूपक का रहस्योद्घाटन [illegible] इश्क-मिजाजी [illegible] की ओर ध्यानाकर्षित करना है। इस पद्ध[illegible] मध्यकालीन [illegible] संत-कवियों पर पर्याप्त मात्रा में दीख [illegible] है। [illegible] प्रेम-कथाओं को अधिक [illegible] नहीं था [illegible] सफल [illegible] था है।

अस्तु सूफियों द्वारा अपनाया जाने वाला प्रेम और गुरु का स्वरूप 'निर्गुण-सन्त परम्परा' के आधारस्तम्भों में स्थान पाने का गौरव भी प्राप्त कर सका।

कबीर और निर्गुण-सम्प्रदाय की नींव

पंजाब में पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति के उदय एवं पल्लवन के लिए अभी हमें निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर और उनकी नवीन-पद्धति पर विचार करना होगा। पीछे हम जगह जगह संकेत दे चुके हैं कि शंकर का वेदान्त, नाथपंथ का हठयोग और सूफियों का प्रेम सभी समीचीन रूप में निर्गुण-पंथ के निर्माण में प्रतिफलित होते आ रहे थे। समय-समय पर पूर्व-विचारकों ने इन्हीं प्रणालियों का योगक्षेम कर दिया था जो अन्तम कबीर सरीखे महापुरुष द्वारा समन्वित होकर निर्गुण भक्ति की धारा बन गए। भक्ति के जिस स्वरूप को कबीर ने अपनाया वह दक्षिण से उत्तर की ओर सतत विकास पा रहा था। रामानुजाचार्य ने जिस विशिष्टाद्वैत की नींव रखी थी और प्रपत्तिवाद की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया था वही निर्गुण-परम्परा का आधार बनी। रामानुजाचार्य की ही शिष्य-परम्परा में पन्द्रहवीं शताब्दी में काशी में रामानन्द का उदय हुआ जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की पूजा पर जोर दिया और रामानन्दी सम्प्रदाय की नींव रखी। उन्हीं दिनों वल्लभाचार्य ने प्रेममूर्ति आनन्दकन्द कृष्ण की उपासना का प्रचार जनता का दिया। (पीछे इसका वर्णन हो चुका है) भक्तमाल की टीका में रामानन्द का मृत्यु-समय संवत् १५०५ बताया गया है और कबीर के जन्म सम्बन्धी विवाद का निचोड़-बिन्दु संवत् १४५६ ठहरता है। अतः कबीर और रामानन्द का मिलाप बड़ा स्वाभाविक है। कबीर-पंथियों में प्रचलित यह पद—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
प्रगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड॥

सिद्ध करता है कि रामानुजी-परम्परा से कबीर ने बहुत कुछ पाया परन्तु यह सब रामानन्द के ही संसर्ग में पाया यह विवादास्पद विषय है। रामानन्द विष्णु के अवतार राम के भक्त थे परन्तु कबीर अवतारवाद को स्वीकार ही नहीं करते। कबीर के द्वारा रामनाम का जाप या रामोपासना कहीं यह सिद्ध नहीं करती कि वे मर्यादापुरुषोत्तम दशरथसुत राम के भक्त हों। एक पद के अनुसार, जो कि कबीर का लिखा बताया जाता है राम चार प्रकार के गिने गए हैं—

एक राम दशरथ का बेटा
एक राम घट-घट में बैठा।
एक राम का सकल पसारा
एक राम सबसे न्यारा॥

इसमें दशरथ-सुत राम को तो सृष्टि का सर्वेसर्वा माना ही नहीं गया। बहुत सम्भव है कि कबीर सबसे न्यारे राम' के भक्त रहे होंगे। दूसरी बात जो कबीर और *रामानन्द के शिष्यत्व-गुरुत्व सम्बन्ध से विवाद बन रही है वह है रामानन्द का* कट्टर ब्राह्मण होना। भिन्न इतिहास और काव्य ग्रंथों में यह देखने को मिलता है कि रामानन्द बड़े स्वतन्त्र विचारों के पुरुष थे और उनके शिष्यों में बहुत से निम्न जाति के लोग थे परन्तु इसका प्रमाण कोई उपलब्ध नहीं। और फिर कबीर तो मुसलमान घराने में पलने के कारण मुसलमान गिने जाते थे। रामानन्द ने यदि नीची जाति के लोगों को दीक्षा दी भी होगी तो वे हिन्दू थे मुसलमान नहीं। फिर भी कबीर के ये शब्द 'काशी में हम परगट भए रामानन्द चेताए' विद्वानों के लिए एक सिरदर्द बने हैं। कबीर बचपन से ही ईश्वर प्रेमी और भगवदोपासक थे। वे साधु संगत और सन्तोपदेश में बड़ा रस लेते थे। इसी से समय-समय पर कभी वेदान्तियों और कभी नाथ योगियों कभी सूफियों और कभी वैष्णवों के सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने बहुत कुछ सीखा था। वेदान्तियों से उस जीव और ब्रह्म के ऐक्य का विचार, नाथयोगियों से अन्तस्साधना सूफियों से प्रेम और गुरु भक्ति और वैष्णवों से अहिंसा तथा प्रपत्ति के विचार मिले थे। उसने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा और उसकी भक्ति के लिए सूफियों का प्रेम तत्त्व अपनाया।[1] हिन्दू-मुसलमानों की एकता का भाव भी उन्हें काशी-निवास से मिल चुका था—जाति-पाँति और ऊँच-नीच की उपेक्षा सिद्धों की देन थी। इतनी सब विचार वीथियों से होता हुआ कबीर एक निश्चय पर पहुँचा था और इस पहुँचने के कारण 'पहुँचा हुआ' कहलाता था। इसी 'पहुँच' के कारण वह सब प्रकार की लाज-लज्जा त्यागकर लोगों को अशुद्ध मार्ग पर जाते देख टोकता था, कोसता था और सन्मार्ग पर चलने के उपदेश देता था। यह क्रम पर्याप्त समय तक चलता रहा परन्तु बाद में लोग उस पर निगुरा (गुरु-विहीन) होने का आक्षेप लगाने लगे। विचित्र बात थी कबीर सरीखे आत्म-गुरु पर निगुरा होने का आरोप! अस्तु कबीर ने गुरु की खोज की। उस युग में कबीर को ऐसा कोई न दिखा जो उसका गुरुपद ग्रहण करे। रामानन्द का समाज में पर्याप्त मान था। सोचा कि उन्हें ही गुरु-स्थान की दिव्यता का पूरक बनाया जाए, परन्तु रामानन्द किसी मुसलमान को शिष्य बनाने को कभी तैयार न थे। कबीर-पंथियों में प्रचलित एक जन-श्रुति[2] के अनुसार कबीर एक बार मुँह अँधेरे ही पंचगंगा के उस घाट पर जा लेटे जहाँ रामानन्द स्नान

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पृ० ९४।

२ डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'कबीर का रहस्यवाद' में इसका कुछ परिष्कृत वर्णन किया है।

को प्रतिदिन जाते थे। अंधेरे में वहीं उनके पैर की ठोकर कबीर के लगी और वे अकस्मात् राम राम कह उठे। बस फिर क्या था कबीर ने घोषणा कर दी कि रामानन्द उनके गुरु हैं। रामानन्द से जब पूछा गया कि उन्होंने कबीर को दीक्षा कब दी तो उन्होंने इंकार किया। भेंट होने पर कबीर द्वारा नदी तट की घटना याद दिलाने पर भी रामानन्द ने उन्हें शिष्य स्वीकार नहीं किया परन्तु कबीर उस दिन से अपने को रामानन्द का शिष्य ही कहते रहे। यही उपरोक्त उक्ति का कारण भी है जो प्रमाण रूप में उन विद्वानों द्वारा सुनाई जाती है जो कबीर को रामानन्द का शिष्य स्वीकार करते हैं।

कुछ आचार्य शेखतकी को उनका गुरु मानते हैं यह भी कुछ जंचता नहीं। कबीर की इस उक्ति—

घटि घटि है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख।

से तो कबीर ही शेखतकी को उपदेश देते दीख पड़ते हैं। हम डॉ० रामकुमार वर्मा के इस कथन 'कबीर शेखतकी के सत्संग में रहे होंगे या उनका कुछ पारस्परिक व्यवहार होगा' से अक्षरशः सहमत हैं।[1]

अब प्रश्न उठता है कि जब कबीर का अपना गुरु कोई नहीं था, तो वह 'गुरु बिन गति नहीं होय' की धारणा में गुरु को ईश्वर से भी बड़ा मानने तथा सबको गुरु की खोज करने और उसकी भक्ति में रमने का उपदेश देने का साहस क्योंकर कर सके थे? उत्तर स्पष्ट है—परिस्थितियाँ आदमी को बनाती हैं आदमी परिस्थितियों को नहीं। समाज की प्रतिकूल परिस्थितियों ने कबीर को वह देवत्व प्रतिदान में दिया था जो जनता की त्राहि त्राहि की पुकार सुनकर भगवान् स्वयं उनके त्राण-पान को भेजे जाते हैं। परिस्थितियों ने कबीर जैसे महात्मा द्वारा सब धर्मों के पाखण्डों की कटु आलोचना अपेक्षित कर दी थी। उसे ऐसा करने के लिए एक आन्तरिक-शक्ति आत्मिक-बल मिला था जो जन-साधारण में प्रत्यक्ष को प्रतिगम्य नहीं मिल सकता। हिन्दू धर्म हो या मुसलमान सभी ईश्वर द्वारा दी जाने वाली उपर्युक्त शक्ति को स्वीकार करते हैं। गीता का श्लोक[2]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ अध्याय ४ श्लोक ७ ॥

तथा कुरान के अनुसार 'गुनाह और कुफ्र (पाप और नास्तिकता) को मिटाने और

---

१ कबीर का रहस्यवाद पृ० १८६।
२ श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस गोरखपुर।

यही मार्ग दिखाने के लिए ईश्वर कृपा से किसी महान् शक्ति, ईश्वर दूत यथा *पैगम्बर अथवा भगवान का अवतार होता है*[3] आदि इसके प्रमाण हैं। ईसाई धर्म भी इस बात को स्वीकार करता है कि जब संसार में जनता कष्टयुत हो पुकारती है तो खुदा अपने बेटे को उसके त्राण के लिए भेजता है। कबीर को यही ईश्वर प्रदत्त शक्ति मिली थी अतः गुरु के न होने हुए भी वह स्वयं भगवदनुकम्पा के कारण *दूसरों का गुरु होने के योग्य था। उसके द्वारा जन-साधारण के लिए गुरु की महत्ता* स्थापित करना वास्तव में अनुभव-सिद्ध संकेत है। वह दूसरों को ऐसा मार्ग दिखाना चाहता है जिस पर चलता हुआ हर एक मनुष्य उस परम-पद तक पहुँच सके जिसका संकेत निर्गुण-धारा का प्रत्येक कवि करता दीखता है। गुरु मार्ग-दर्शक है वह अज्ञानान्धकार में ठोकरें खाने की अपेक्षा जीव को प्रकाश दिखाता और सन्मार्ग पर लगाता है। जिससे जीव की वह यात्रा जो सम्भवतः अनेक जन्मों में भी पूरी न हो एक ही जीवन में चैतन्य रहते हुए अनुभव कर ली जाती है। गुरु की इस महानता से आँखें नहीं मूँदी जा सकती और इसी कारण से कबीर उसके गुण गाता और उसकी महनीयता को ईश्वर से भी बड़ा मानता है। कबीर न जाने कितने जन्मों में कबीर बना[4] परन्तु वाह री गुरु शक्ति! तुमने इसी जन्म में मनुष्य को ब्रह्म बना दिया।

---

३ *तर्जुमा कुरानशरीफ़ (परिचय)—श्री अहमद बशीर।*

४ महात्मा बुद्ध ने पुनः जनन के सम्बन्ध में बौद्ध-विचारक इसी दृष्टिकोण को अपनाए हैं। बौद्ध-दर्शन के अनुसार मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों के सत्कर्मों के कारण एक समय ऐसी सुव्यवस्था में पहुँच जाता है कि निर्वाण-पद का भागी बनता है। मैंने स्वयं श्री आनन्द कौसल्यायन जो कि अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिनामा बौद्ध-भिक्षु हैं से यह प्रश्न किया था कि जब बौद्ध आत्मा का स्वीकार ही नहीं करते तो एक बार मरने के पश्चात् दोबारा जन्म लेने वाला कौन होता है? क्या वह वही है या बदल गया है? यदि वही है तो मरने पर वह इतनी देर कहाँ रहता है जब तक दोबारा जन्म नहीं ले लेता? इसके उत्तर में आनन्द जी ने सुझाया था कि मरने और पैदा होने वाले में सम्बन्ध न 'है' का है और न 'नहीं' का है। जैसा दूध और दही में होता है। जैसे दूध के मरने पर दही और दही के मरने पर छाछ और छाछ के मन्थन से माखन और उसकी मृत्यु पर घी की उत्पत्ति होती है ठीक वैसे ही मानव हर बार एक कदम उन्नति करता है और अन्ततः निर्वाण पद की प्राप्ति करता है जैसे बुद्ध ने किया। कबीर के सम्बन्ध में भी ऐसी उक्तियाँ उपलब्ध हैं कि वे कई बार मानव भूमि में आए और थोड़ा कुछ कार्य पूराकर लौट गए। परन्तु अब जबकि जनता अति पीड़ित हो गई है और

(शेष अगले पृष्ठ पर)

कबीर की स्थिति देखते हुए निश्चय ही ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुण धारा का यह महान् भक्तिमार्ग ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का त्रिवेणी-संगम है। कबीर के भक्तियोग पर सम्पूर्ण भारतीय भक्ति परम्परा का जिसमें मुख्यतः पुराणों का विश्वास नारद भक्ति सूत्र के भक्त और भक्ति का समन्वय गीता की प्रेममयी श्रद्धा विशिष्टाद्वैत की प्रपत्ति और सूफियों का प्रेम-तत्त्व मुख्य है प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। ज्ञानयोग में गीता का ज्ञान कुरआन की स्पष्टवादिता और शंकर के अद्वैतवाद का स्वरूप जगह जगह झलकता है। कर्मयोग में बाहरी आचार-विचारों की शुद्धि के अतिरिक्त पातंजलि की यौगिक क्रियाओं का वर्णन भी जिधर-तिधर उपलब्ध है। इतना ही नहीं सिद्धों के प्रभाव में मिली उलटबासियाँ नाथ-पंथ के प्रभाव से हठ योग की क्रियाएँ तथा जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भावों का त्याग और सर्वोपरि मुसलमानों का एकेश्वरवाद तथा वैष्णवों की अहिंसा-भावना सब मिल कर इस निर्गुण-सन्त-परम्परा के आभूषण हैं। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि कबीर द्वारा प्रवर्तित यह सन्त-परम्परा जो काव्य-क्षेत्र में निर्गुण भक्ति-मार्ग कहलाई युग की प्रतिकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। देश की सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था विषम हो चुकी थी। समाज में जातिभेद के कारण दम्भ कपट द्वेष मद कटुता और हिंसा का साम्राज्य था। नीची जातियों पर अत्याचार हो रहे थे। मुसलमानों और हिन्दुओं में घृणा बढ़ रही थी। धर्म के नाम पर रक्त बहाया जा रहा था। हिन्दुओं ने गीता के उपदेशों और मुसलमानों ने शरीअत की आवाज को भुला दिया था। पंडित और मुल्ला दोनों धर्म-दण्ड लिए विलास में पड़े थे और जन-साधारण गाजर-मूली की तरह कट रहे थे। तरह-तरह के पाखण्डों से समाज अधीन हो गया था चारों ओर स्वार्थ का तूती बजता था। राजनीति में दुष्टता और कुटिलता अनीति और अव्यवस्था गरज रही थी। मुसलमान शासक आँखें मूँदे अपनी हिन्दू जनता को मुल्लाओं के दुर्नीति फतवे पर भूस देना व सामने दाम देना कुत्तों से कटाना सूली पर लटकाना मामूली बात समझते थे। हिन्दुओं की बहु-बेटियाँ दुर्व्यवहार के पतन आचार पर मुसलमानों की वासनापूर्ति का सामान समझी जा रही थीं किसी का स्वाभिमान सुरक्षित न था। बलात् कलंकित किये जाते मूर्तियाँ तोड़ी-जातीं ब्राह्मणों के सिर फाड़े जाते और मन्दिरों की

(पिछले पृष्ठ का शेष)—

उनका उद्धार अत्यावश्यक है अ कबीर बनकर आए और निरीह जनता को मुक्ति-मार्ग दर्शाने लगे।

सत्य पुरुष जगहित हम भेजा हमहीं अतीत रूप नहीं देखा
हमहीं आप कबीर कहाया हमहीं अपना आप समाया।

नींवें रखी जाती। अभिप्राय यह कि सब ओर गामभाम हो रहा था। हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने स्वार्थ को रोते थे। अत्याचारों से साधारण-जनता त्राण चाहती थी। किसी का विरोध करना मृत्यु का आह्वान करना था। कोई ऐसा वीर दिल अपेक्षित था जो सर्व-साधारण समुद्र-आचरण करने वाले को टोक सके, रोक सके और यदि सम्भव हो तो सन्मार्ग दिखा सके। आवश्यकता थी ऐसे फक्कड़ की जिसे संसार, समाज, जाति, राजा, प्रजा और फतवों की परवाह न हो—ऐसी भयंकर विपरीत स्थिति में केवल ऐसा ही उदात्तमना महामानव जनता की रक्षा कर सकता था। वह सुधारक बन जननायक कहला सकता था। यह कार्य कबीर ने किया। निर्गुण-धारा सुधारक-आन्दोलन के रूप में अपनी पूर्ववर्ती भक्ति-परम्परा के उपयुक्त सब सुविचारों को अपनाए, सब धर्मों के आदर्शों को समेटे, कुप्रथा, अत्याचार तथा धार्मिक मलिनता के विरुद्ध युद्ध की दुन्दुभी बजाती उत्तरोत्तर अग्रसर हुई। सन्त रूपी हंसों ने तद्युगीन धर्मों का नीर क्षीर विवेचन कर दिया और एक नए सम्प्रदाय की नींव रखी जो सब का साँझा था और सत् का पक्षपाती। यही वह सम्प्रदाय है जिसने पंजाब में गुरु परम्परा का वरदान दिया।

पंजाब में भक्ति-आन्दोलन का उदय

कबीर के समय जिन मर्मस्पर्शी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों का वर्णन पीछे किया गया है वे उत्तर प्रदेश तक ही सीमित न थीं, सम्पूर्ण उत्तर भारत उनका शिकार बना था। और फिर पंजाब भारत-भवन का सिंह-द्वार, जहाँ से मुस्लिम जातियों का आगमन हुआ था, क्योंकर सुखी और सम्पन्न रह सकता था? पुराना कथन है कि जो जाति पंजाब को पराजित कर आगे बढ़ी वह देश में कहीं और हार नहीं मानेगी। भारत-रक्षा हेतु दुर्ग की भाँति पंजाब ने मुसलमानों से भी लोहा लिया था परन्तु दुर्भाग्यवश परस्पर फूट और प्राकृतिक-कोप के कारण पंजाबी-वीर मुसलमानों के प्रवाह को रोक न सके। पुनः यह स्वाभाविक बात है कि आक्रमणकारी को जहाँ अधिक कठोरता का सामना करना पड़ता है, अधिक हानि उठानी पड़ती है, विजय के पश्चात् उस क्षेत्र से वह भयंकर प्रतिशोध लिए बिना टलता नहीं। यही दशा पंजाब की भी हुई। पंजाब मुसलमानों के द्वारा सम्भवतः सर्वाधिक दलित प्रदेश बना। सामाजिक स्थिति यहाँ भी वही थी जो पन्द्रहवीं शताब्दी में शेष उत्तर भारत की रही। धर्म के क्षेत्र में नाथ-सिद्धों और सूफियों के करामाती ढंग जनता को दोनों के प्रति सभय बनाए हुए थे। गोरखनाथ के द्वारा योग की जो शाश्वत धारा बहाई गई थी वह जन-साधारण पर पर्याप्त प्रभाव रखती थी परन्तु वर्णधर्मी ब्राह्मण अभी तक अपने शास्त्राध्ययन में मग्न थे। ग्राम में नारी को स्थान न मिलने के कारण पंजाब में नारी का पतन हो रहा था। स्त्री जाति की

उपेक्षा जनता के आचार-पतन का कारण बन रही थी। लोग नाथों की ओर आकृष्ट तो होते परन्तु 'हठयोग' का कठोर मार्ग सफलतापूर्वक अपना सकने में असमर्थ रहते थे। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती — निराश हो मुसलमान धर्म अपना लेना। सूफी दरवेश शाहे-वक्त (तत्कालीन शासक) का यशोगान कर उसकी प्रसन्नता के भाजन भी बनते और एकेश्वर सत्ता का प्रचार कर हिन्दुओं की पुरातन प्रेम-गाथाओं के माध्यम 'इश्क-हकीकी' का पाठ भी पढ़ाते। हिन्दू लोग युगों से चली आती इन कथाओं को सुन सूफियों में हिन्दुत्व को परिलक्षित करने के लिए स्वयं उनके मत प्रभाव में डूब जाते। दूसरी ओर पंजाब के मुस्लिम नवाबों और शासकों ने बल पूर्वक धर्म प्रचार आरम्भ कर रखा था। मुसलमान के लिए जीवन था सम्पत्ति थी भोग विलास था और था सम्मान। हिन्दू के लिए मृत्यु थी विपन्नता थी कष्ट और विषमता थी और था अपमान। जनता जीवन के लोभ में मुसलमान बनना स्वीकार कर रही थी और 'नई मुहब्बत अल्ला ही अल्ला पुकार' की कहावत चरितार्थ हो रही थी। हिन्दुओं में जिनको किसी प्रकार राज्य कर्मचारी पद मिल गया था वे शासन की आँखों में अपने को हितैषी प्रमाणित करने का अपने ही भाइयों का गला काटने में अधिक गौरवानुभव करते थे। ऐसी स्थिति निरख स्वयं गुरु नानक ने लिखा था कि बादशाह अत्याचारी था राज्य कर्मचारी कुत्तों की तरह जनता का रक्त पी रहे थे और निरीह तथा नारी की रक्षा करने वाला कोई न था। धर्म नष्ट हो चुका था और लोग मिथ्या के सागर में डूब रहे थे। नानक ने तो ईश्वर द्वारा इतने बड़े अत्याचार को सह लेने पर उसे भी उलाहना दिया है।[1] अनेक देवी देवताओं की उपासना के कारण जो छोटे-छोटे सम्प्रदाय बन चुके थे वे प्रायः आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। प्रत्येक सम्प्रदाय को अपने देवता की शक्ति पर गर्व था। परन्तु मुसलमानों के आने पर जब कोई देवी-देवता अपने उपासकों की सहायता तो क्या करता मन्दिरों में अपनी सहायता भी न कर सका तो जनता का साहस क्षीण पड़ गया। उनके विरुद्ध मुसलमानों के एकेश्वरवाद में उन्हें अधिक सार्थकता परिलक्षित हुई, वे (हिन्दू लोग) अधिकाधिक उधर झुके। इससे पूर्व कि पंजाब में हिन्दू-धर्म लगभग मुसलमानों में विलीन हो जाता गुरु नानक सरीखे महापुरुष ने

---

१ गुरु ग्रंथ साहिब राग आसा ३९ । २ । खुरासान खसमाना "
और भी—

राजे सीह मुकदम कुत्ते। जाइ जगाइन बैठे सुते।
चाकर नहदा पाइन्हि घाउ। रतु पितु कुतिहो चटि जाहु।
जिथै जीआं होसी सार। नकी वढी लाइतबार।

२ २२ श्लोक म० १। मलार की वार म० १। पृ १२८८।

इसे उद्धार किया। शरीर के किसी भाग पर विषैला फोड़ा हो जाने पर उस भाग को काट नहीं दिया जाता, उसका उपचार किया जाता है, उसका विष निकाल दिया जाता है और उस अंग का पुनर्संस्कार कर अपनाए रखा जाता है। गुरु नानक की भी यही धारणा थी। हिन्दूधर्म में अनेक मलिनताएँ आ चुकी थीं, लोग अज्ञानी और उदासीन थे, उनके पुरोहित स्वार्थी और [illegible] थे, दोनों एक ही साथ निरर्थक पाखण्डों और वहमों में डूबे थे।[1] ऐसी स्थिति को यदि समय पर सम्भाला न जाता तो धर्म ही लुप्त हो गया होता। इसी व्याधि को दूर करने का बीड़ा पंजाब के भक्ति आन्दोलन ने उठाया। हिन्दू-धर्म का सुधार, रक्षा और संशोधन इस आन्दोलन के प्रवर्तक गुरु नानक के द्वारा किया गया। प्रस्तुत आन्दोलन पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक महत्त्वपूर्ण रहा। समय से टक्कर लेने की शक्ति निर्गुण-धारा की पंजाब-शाखा में ही उत्पन्न हुई। आन्दोलन के संचालकों ने धर्म रक्षा के लिए समय की माँग को पूरा करते हुए अपने सिर कटा दिए, अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया परन्तु झुके नहीं। आवश्यकता पड़ने पर स्वयं भी इस बीच युद्ध-क्षेत्र में उतरे और शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये। इसमें सन्देह नहीं कि जिस धर्म की रक्षा के लिए यह सब कुछ हुआ, सत्रहवीं शती में उसी धर्म ने आन्दोलन की महत्ता स्वीकार करने से इन्कार किया। शत्रु की कपट-चर्या और विभाजन-नीति काम कर गई। परन्तु आन्दोलन की गति शैली ने यहीं रूप अवश्य बदल गया। जिस प्रकार ईसाइयों में कैथोलिक धर्म की कुरीतियों, दुराचारों और कुटिलताओं के विरोध में उसी धर्म का एक निखरा हुआ रूप प्रोटेस्टेन्ट धर्म पैदा हो गया था, ठीक इसी प्रकार ब्राह्मणों और पुरोहितों के पाखण्ड, आडम्बरों, कुरीति तथा कर्मकाण्डवाद के विरुद्ध इस आन्दोलन ने उसी धर्म का निखरा रूप सिख-धर्म (हिन्दू प्रोटेस्टेन्ट) स्थापित कर दिया।

पंजाब का यह भक्ति आन्दोलन अपने में अनुपम, अतुल और अद्वितीय था। इसकी सफलता आत्म रक्षा की भावना में है। भारत में समय-समय पर अनेक भक्ति आन्दोलन चले, धर्म सम्प्रदायों का जन्म हुआ और कुछ समय के बाद जल-बुदबुद की भाँति उनका अन्त भी आया। विरोध का सामना शायद कोई भी सम्प्रदाय इतने धैर्य से नहीं कर सका जितना नानक-संचालित पंजाब-भक्ति-आन्दोलन ने किया। पंजाब सरीखे एक छोटे से क्षेत्र में फैल कर भी इसकी ज्योति इतनी जाज्वल्यमयी हुई कि आज विश्व-धर्मों में अपना विशिष्ट स्थान बनाये है। अन्य आन्दोलन

---

1 Duncan Greenlees—The Gospal of Guru Granth Sahib Preface. p. XVIII.

से और मिट गए, वह आज भी नेताओं की अनुपस्थिति में अपने पूर्व प्रणेताओं की वाणी के सहारे जीवित है और जीवित रहेगा।

पंजाब का सन्त-सम्प्रदाय

सन्त शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए अनेक मत प्राप्त हैं। इस शब्द के ऐतिहासिक प्रयोग सन्तों की भिन्न विशेषताओं का संकेत देते हैं, निश्चित परिभाषा किसी ने नहीं दी। भागवत् पुराण के प्रथम स्कन्ध में आए शब्द 'प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयंहि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः'[1] सन्त को पुनीतात्मा मान प्रशंसित करते हैं। जबकि महाभारत 'आचारः सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः' द्वारा केवल सदाचार को ही सन्त का लक्षण मानता है। तुलसी ने 'सन्त असज्जन करनी' में सन्त को असज्जन का विपरीतार्थक (सज्जन) ही मान लिया है। अभिप्राय यह कि काव्य में निर्गुण धारा तथा १५वीं शताब्दी में सन्त-परम्परा के उदय से बहुत पहले ही सन्त शब्द का प्रयोग हो चुका था और उसका संकेत सदा 'सद्गुण' की ओर ही रहता आया था। अन्तःकरण की पवित्रता, सदाचार, सज्जनता आदि गुण मिलकर किसी भी उच्चमना को सन्त की कोटि तक पहुँचा सकते थे। परन्तु मध्यकाल में 'सन्त' शब्द सत्पुरुष मात्र के लिए ही नहीं प्रत्युत एक गूढ़ और विशिष्ट रहस्यात्मक शक्ति के अन्तःपालक के लिए प्रयुक्त होने लगा। धीरे-धीरे 'सन्त' और 'ब्रह्म' एक हो गए।

(क) साईं सरीखे सन्त हैं यामें मीन न मेख।[2]

(ख) सन्त औ राम को एक कै जानिये दूसरा भेद न नेकि आनैं।[3]

(ग) जो प्राणी निसिदिन भजै रूप राम तिह जानु।
हरिजन हरि अन्तर नहीं नानक साची मानु।[4]

कुछ विद्वानों का मत है कि 'शान्त' शब्द ही सन्त का पूर्वज है। उनके द्वारा जुटाये जाने वाले प्रमाण हमें महाराष्ट्र में पहुँचाते हैं। कहते हैं कि महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के भक्त और सगुण विठ्ठल के उपासक पहले-पहल अपनी शान्त सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कारण सन्त कहलाए। बाद में उत्तर भारत के निर्गुणी महात्माओं में महाराष्ट्रीय महात्माओं के गुणों की झलक देख कर, उनके लिए 'सन्त

---

१ अध्याय १६ श्लोक ८।

२ गरीबदास जी की बानी पृ० ८०।

३ पलटू की बानी, पृ० ८।

४ सलोक गुरु तेग बहादुर—ग्रंथसाहिब पृ० १४२७।

ऐसे टूटे दिलों के लिए वरदान बन गई। सहारा चाहिए था उन्हें सहारा मिला। सूफी फकीर प्रचारार्थ इश्क-मिजाजी से आरम्भ हो इश्क-हकीकी की ओर चलते थे सांसारिक प्रेम को आध्यात्मिक रूप देते थे सर्वोपरि यह कि वे धर्म-परिवर्तन के लिए किसी को विवश नहीं करते थे। फिर क्या था पंजाब की पीड़ित जनता अपने घावों पर प्रेम का अनुलेप लगाने सूफियों की ओर मुड़ी। प्रेम की जान्हवी में स्नान कर उन्होंने पुन अपने-अपने इष्टदेवों को प्रेम-अर्घ्य चढ़ाना आरम्भ किया। सिर पर लटकी मुस्लिम-अत्याचार की तलवार के होते हुए भी इससे जनता के मन में 'शान्ति' के अंकुर फूटने लगे। पंजाबी सन्तों ने जनता के झुकाव का अनुभव करते हुए तथा हिन्दू-मुसलमान एकता के प्रति अनिवार्य समझते हुए 'सूफी प्रेम का आह्वान किया। परन्तु सन्त-मत द्वारा अपनाए जाने पर वह 'इश्क-मिजाजी नहीं अन्तर्मुखी 'इश्क-हकीकी' ही बन रहा। उनके मत में ईश्वर प्रेम ही लोक-प्रेम है परन्तु इसकी प्राप्ति सेवा और समर्पण से ही सम्भव है। 'जो लोग ईश्वर से प्रेम करते हैं वे सबसे प्रेम रखते हैं। बिना दास्य-भाव के ईश्वर प्रेम की कल्पना नहीं की जा सकती।'[1] अतः सूफियों के प्रेम-तत्त्व के साथ-साथ पंजाबी-सन्तों ने श्रद्धा का पुट मिला उसे पूर्णतः भारतीय बना लिया।

पंजाब के सन्त श्रीमद्भगवद्गीता के कर्म-योग को परिमार्जित रूप से अपनाए हुए हैं। जीवन की विपरीत और कटु परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए इन महात्माओं ने प्रवाह बदले थे—न वे स्वयं भागे थे न जीवन की वास्तविकता से भागने का किसी को उपदेश देते थे। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि में कर्मयोगी बनने का उपदेश दिया था पंजाबी सन्तजन जन्म से कर्मयोगी थे। अतः गृहस्थों की ही तरह उन्होंने अपने परिवारों के प्रति किसी भी कर्तव्य की उपेक्षा नहीं की थी। संन्यासी बन जंगलों में भटकने नहीं जाए थे अपने परिवार के बीच रह अपने ही अन्तर से परम-तत्त्व को प्राप्त किया था। इतना ही नहीं जब परिस्थितियों के करवट बदलने पर उनके कर्तव्य-पालन की 'परीक्षा' हुई तो वे स्वयं शस्त्र बाँध युद्ध-क्षेत्र में उतर आए थे। 'युग-वाणी' के साथ चलना बहुत सरल है संसार द्वारा अपनाई जाने पर अपनी विचारधारा अनुसार कर्म करना भी सुगम है परन्तु महान वे हैं जो जग-विरोध में भी अपनी स्वच्छन्द विचारधारा अपनाते और दूसरों को अपने पीछे चलने को बाधित कर देते हैं।'[2] पंजाबी सन्त ऐसे ही कर्मयोगी थे जिन्होंने

---

1 Principal Tej Singh in Guru Nanak s Religion in his own words (Rama Krishna Centenary Cultural Heritage of India Vol. II p 230)
(जो रही सोइ जाने जिन भावै सब कोय)

2. Emerson s Essays.

एक ओर मुसलमानों द्वारा किए जाने वाले साम्प्रदायिक अत्याचारों और दूसरी ओर हिन्दुओं द्वारा खड़े किए गए अवरोधों के बीचोंबीच अपना मार्ग बनाया था। किसी स्वार्थ के लिए उन्होंने कोई मार्ग नहीं अपनाया। धर्म की रक्षा हेतु और अत्याचार के विरोध में यदि तलवार उठाई भी गई, तो वह अपने लिए नहीं दुःखी निरीह जनता के लिए। स्पष्ट ही वे निष्काम-कर्मयोगी थे जिन्होंने सात्विकता और परमात्मकता के मार्ग पर अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया था परन्तु उफ तक न की। वे सत्य के पुजारी थे। सत्य के मार्ग से विचलित करने वाला शाह हो या गदा (राजा या रंक) उनका शत्रु था और वे कर्मवीर परिस्थितियों के अनुकूल अपने शत्रु से बदला चुकाना खूब जानते थे। गुरु हरिगोविन्द तथा गुरु गोविन्द इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। चारों ओर से विरोधियों द्वारा घिरे होने पर भी गुरु अमरदास तथा गुरु अर्जुनदेव की एकनिष्ठ साधना और सत्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए [illegible]-सी तन्मयता अपने में अद्वितीय एवं अपूर्व थी। गुरु पंजाबी सन्तों ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया था वे एक ऐसे धर्म की ओर संकेत करते थे जिसे कर्मवादी-गृहस्थ-धर्म कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। वह बुद्ध-धर्म या वाम-मत की तरह किन्हीं गिने चुने व्यक्तियों के लिए न था—उसमें केवल भिक्षु या योगी ही परम-पद प्राप्ति के अधिकारी न थे। उन्होंने तो जीवन का एक आदर्श-पथ सुझाया था, जिसमें प्रत्येक सम्प्रदायी—गृहस्थी हो या वैरागी—के लिए मुक्ति का आयोजन था। बाह्य कर्म-काण्ड जप माला छापा तिलक या यज्ञ-हवन उपवास तीर्थादि में उन्हें निस्सन्देह कोई सहानुभूति न थी। वे जीवन में कृत्रिमता न चाहते थे। सद्गुणों सद्वृत्तियों को अपनाकर सद्व्यवहार के क्षेत्र में विचरण करता अन्तर्मुखी हो पूर्ण-ब्रह्म का अन्वेषण और प्राप्ति उनका आध्यात्मिक लक्ष्य था। इसमें उपर्युक्त कर्मकाण्ड और आडम्बर की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके लिए पावभर सुगन्धित सामिग्री ढेर भर बेर की लकड़ी और दो चार रटे-रटाए श्लोक यज्ञ की विभूति नहीं थे। वे इसे मनुष्य की आडम्बर-प्रवर्ती प्रवृत्ति मानते थे। उनके मतानुकूल वास्तविक हवन और यज्ञ मानव की हृदय-वेदी पर ही किया जा सकता है जिसमें ममत्व को जलाया जाए और मिथ्या अरमानों की आहुति डाली जाए। या फिर आत्मा की शुद्धि हेतु हृदय के हवन-कुण्ड पर अग्नि की वह्नि में दुष्कर्मण्यता अथवा अकर्मण्यता का होम किया जाए। यही सच्चा यज्ञ होगा—शेष सब दम्भ। 'यदि सत्यलोक में स्थान पाने की कामना हो तो संसार में कर्मशील रहना अनिवार्य है। लम्बे-लम्बे तर्कों व एकान्त निवास की उपलब्धि नहीं मुक्ति के लिए सदाचार का अभ्यास अपेक्षित है।'[1] इस प्रकार की शिक्षा देने वाले सिख-गुरु अध्यात्म और

---

1 Principal Tej Singh in Guru Nanak's Religion in his own words.

समाज को समपात बनाने में अतुलनीय और भारत की सांस्कृतिक रेखाओं द्वारा यथार्थता का चित्रांकन करने में सचमुच अनुपमेय है। डॉ॰ अग्रवाल ने लिखा है कि 'संसार से भागने वाला सन्त नहीं जिसे अपने अध्यात्म की कसौटी पर कसने के लिये जीवन-संघर्ष से भागना पड़े उसके लिए भारतीय आदर्श में बहुत ऊँचा पद नहीं है।'[1] भारतीय आदर्श किसी भी सफल मनुष्य से सक्रिय-गति की अपेक्षा रखता है और इन सन्तों की सक्रियता का प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि वे साधारण जीवन बिताते हुए अपनी साधना द्वारा गुरु की महत् कृपा प्राप्त कर स्वयं ही सत्य में लीन हो गए।

९वीं शताब्दी में शंकर ने दक्षिण में अद्वैतवाद के जिस रूप की स्थापना की थी वह भी पन्द्रहवीं शती तक महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश से होता हुआ पंजाब में पहुँच चुका था। पंजाबी संतों ने भी अपने 'अकाल-पुरख' निर्गुण ब्रह्म तथा जीव को शंकर के ब्रह्म और आत्मन् की परिभाषाओं के माध्यम से देखा है। दोनों ने मिलन में माया को बाधक भी माना है और यह भी स्वीकार किया है कि माया ही आन्तरिक ज्योति को विलुप्त कर सत्य को असत्य रूप में व्यक्त करती है। शंकर माया के इस आवरण को छिन्न करने में सत्य-ज्ञान की खोज का संकेत देते हैं। यहाँ सन्त शंकर से सहमत तो हैं परन्तु माया के प्रभाव में रहने वाले जीव को यह ज्ञान प्राप्त क्योंकर हो? इस पर शंकर स्पष्ट हों या न हों पंजाबी सन्त झट वह साधन प्रस्तुत करते हैं जो सत्य-सिद्धि में प्रेरक सहायक निर्देशक सब कुछ है वह है गुरु। गुरु-गुरु (अन्धकार को दूर करने वाला) है माया-तिमिर-नाशक। गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्ति की धारणा पंजाबी-सन्तों को नाथ-योगियों से मिली हो या महाराष्ट्रीय-सन्तों से अपने अनुभव की विभूति हो या अन्य-संकलित पथ प्रदर्शन का प्रस्तुत साधन महत् है अनिवार्य है। शंकर का ब्रह्म सिख-गुरुओं ने अलख अपार, अगम अगोचर आदि रूपों में पा ही अपना लिया है।[2] वह अपने में सम्पूर्ण अविनाशी और स्वोत्पत्ति है।[3] उसके गुण अकथनीय हैं। स्वयं ईश्वर, ब्रह्मा देवी-देवता खण्ड-ब्रह्माण्ड सती सती-सन्तोषी सभी उसके गुण गाते हैं। तीनों में उसी की महिमा बिखरी है पर

---

१ डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल—'सन्त' (साहित्य सन्देश)।
अलख अपार अगम अगोचर ना तिसु कालु न करमा।
जाति अजाति अजोनी सम्भउ ना तिसु भाउ न भरमा॥
आदि ग्रंथ राग सोरठि मु १ श्लोक ६ १ पृ ५९७।

२ आदि पुरख करतार करण कारण सभ आप नमो
अविनाशी अविगत आपे आपि उतपति—सवैय श्री मुखवाक (आदि ग्रंथ)
मु २ पृ ११८५।

में वा बाहर सब स्थानों में वह व्याप्त हो रहा है। उसकी महिमा इतनी अनन्त है कि कभी मनोगम्य मात्र से सीमित नहीं हो सकती।[1] शंकर के 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' को मान गुरु-परम्परा ने भी स्वीकार किया है। मात्र ब्रह्म या अकाल-पुरुष की सत्ता को ही सत्य स्वीकार किया गया है। गुरु गोविन्द ने स्पष्ट लिखा है कि उस परम सत्य की सत्ता न मानो। उसका सत्य स्वरूप सब में विद्यमान है 'एकोऽनेकाय' है।[2] अर्थात् वह एक ही रूप है परन्तु अनेक में प्रकट होता है। कहते हैं कि जब मियाँ मिट्ठू साहिब सियालकोटी ने गुरु नानक को मुहम्मद के नाम का सम्मानित करने हेतु आमन्त्रित किया तो नानक ने कहा था 'लाखों मुहम्मद' उस खालिके-कुल के द्वार पर सिजदा किए रहते हैं उनको क्या गाएँ प्यारे की बात करो। वह दाता गोपाल और बे-अन्त है उसके गुण बखान में कहना असम्भव है।[3] अद्वैतवादी माया सिद्धान्त को भी पंजाबी संतों ने मिथ्या बालू की भीत पानी का बुलबुला या रात्रि का सपना कह कर पुकारा है।[4] जिस प्रकार रात्रि का सपना सुप्तावस्था में ही सत्य होता है जागने पर वह कुछ नहीं ठीक उसी प्रकार संसार की सत्यता तब तक ही है जब तक गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान मिलने के साथ ही संसार का मिथ्याभाव स्वयमेव व्यक्त हो जाता है। स्पष्ट है कि पंजाबी-सन्तों ने अद्वैतवाद से बहुत कुछ अपनाया है। सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण भावना तो जीव और ब्रह्म के मिलन की है। वे इस मिलन की अवस्था को शंकर के समान ही न देखते हुए भी उससे इतने प्रभावित होते हैं कि जीव को ब्रह्मांश स्वीकार कर 'सागर में बूँद के सम्मिलन' का सम्बन्ध स्पष्टतः किये बिना नहीं रह पाते। वे गुरु को महत्त्व देते हैं उसे ब्रह्म का परिचायक मानते हैं नाम-स्मरण को माया का आवरण-नाशक और आत्म-समर्पण को निकटता पाने का साधन मानते हैं परन्तु लक्ष्य शंकर और सन्तों का एक ही है। अतः दोनों के विचारों में अन्तर होते हुए भी साम्य की मात्रा पर्याप्त है इसे झुठलाया नहीं जा सकता।

---

१ आदि ग्रन्थ मु० १। राग आसा १ १ पृ० ३५७।

२ एक ही की सेव सब ही को गुरुदेव एक
एक ही स्वरूप सबै एकै जोत जानबो — अकाल उसतत ८५।

३ तू आपे दाता आपे भुगता हउ तुध बिनु अवर न जाणा।
तू पारब्रह्म बेअंतु बेअंतु जी तेरे किआ गुण आखि वखाणा॥
आदि ग्रंथ मु० १। राग आसा १ २। पृ० ३४८।

४ गुर मनमत सगु साजिया जिउ बालू घरबार।
बिनसत बार न लागई जिउ कागद बूंदार। तथा
पेखा सुपना रैनका तैसा संसार।
आदि ग्रन्थ राग बिलावल मु० ५, ११ १ २ पृ० ८०८।

ऊपर उन परिस्थितियों का चित्रण किया जा चुका है जिनके प्रभाव स्वरूप पंजाबी जनता नाथों और कनफटे योगियों की विचार-पद्धति की ओर आकर्षित हो रही थी। परन्तु वहाँ भी मानसिक शान्ति न पा सकने के कारण किंकर्तव्य विमूढ़ से पंजाबी किसी ऐसे अवलम्ब की अपेक्षा करते थे जो उन्हें तुष्टि दे सकता। सिक्ख गुरुओं ने जनता की यह आवश्यकता पूरी की। कबीर पहले से ही नाथों के विरोध में बहुत कुछ कह चुके थे। सगुण शाखा में तुलसी भी 'गोरख जगायो जोग भक्ति भगायो लोग' का हवाला दे रहे थे। ऐसे में नानक नाथ पंथ की आडम्बर युक्त क्रियाओं का विरोध करते हुए पंजाबी जनता के लिए उद्धारक-रूप में प्रकट हुए। उन्होंने जनता को सदाचार निर्लिप्ति और भगवद् भजन का मार्ग प्रदान किया। उन्हें उन लोगों से चिढ़ थी जो गोदड़ी डाल डण्डा लिये शरीर पर भस्म रमाए कानों में मोटी-मोटी मुद्राएँ डाले सिर मुँडाये जगह-जगह सिंगी (तूती) बजाते फिरते थे।[1] नानक के मतानुसार योग (ईश्वर से मिलन) की प्राप्ति बाहर श्मशान भूमि में ताड़ी लगा बैठने से नहीं होती[2] उसके लिए चाहिए समदृष्टि और मायावी जगत से ऊपर उठने की शक्ति।[3] पंजाबी सन्तों द्वारा प्रदत्त यह भावना जनता के लिए अमृत-समान सिद्ध हुई और लोगों ने योग का आश्रय छोड़ सन्त-मत का भक्ति मार्ग अपना लिया। यह सब तो हुआ परन्तु पंजाबी सन्त नाथ-पंथ का विरोध करते हुए भी उसकी शब्दावली अपनाए रखने का लोभ संवरण नहीं कर सके—अन्तर इतना रहा कि वे ही शब्द जो योगी लोग बाहरी क्रियाओं और पाखण्डों के लिए प्रयोग करते थे पंजाबी सन्तों ने भीतरी क्रियाओं के लिये किए। आन्तरिक विराम और शब्द श्रवण द्वारा अन्तर्मुख होने का जो स्वरूप पंजाबी सन्तों ने प्रस्तुत किया था उसमें यौगिक शब्दावली को स्थान दिया गया। किंगुरी आन्तरिक-ध्वनि (वैदिक आकाश वाणी) का प्रतीक बनी झोली और डण्डा सन्तोष और ध्यान का तथा सिंगी

---

१ जोगु न खिंथा जोगु न डंडै जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मूंडि मुडाइऐ जोगु न सिंङी वाईऐ॥
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोगु जुगति इव पाईऐ।
आदि ग्रन्थ रागसूही मु० १। ८ १।

२ १ ए हसनि करि समसरि जाणै जोगी कहीऐ सोई।
आदि ग्रन्थ रागसूही मु० १। ८ २।

जोगु न बाहरि मड़ी मसाणी जोगु न ताड़ी लाईऐ।
जोगु न देसि दिसंतरि भविऐ जोगु न ताड़ी लाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोगु जुगति इव पाईऐ॥
आदि ग्रन्थ रागसूही मु० १। ८ ३ पृ० ७३०।

आत्मोपलब्धि का प्रतीक बने ।[1] पंजाबी सन्तों ने योगी की परिभाषा ही बदल डाली । उनके लिए परब्रह्म को पहचानना उसकी भक्ति में तल्लीन रहना माया-मोह का त्याग निर्मलमना जीवन बिताना आदि सच्चे योगी के लक्षण थे ।[2] वे सब गृहस्थी थे । कुटुम्ब छोड़कर जंगलों-पहाड़ों में मारे-मारे फिरना उन्हें स्वीकार न था ।[3] उनकी शिक्षा शरीर रूपी घर में रहते हुए गुरु-कृपा तथा सहायता से परम-पद में समा जाने मात्र का संकेत करती थी । पंजाबी सन्तों की महानता और महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपने अनुयायियों से न घर छुड़ाया न परिवार त्यागने को कहा न किसी कर्मकाण्ड में डाला—और फिर भी महामुक्ति का सहज मार्ग दिखाया विश्वास दिलाया और पुष्टभक्ति प्रदान की । ऐसे योगी भी पैदा किये जो बिन बजाए ही अहर्निश किंगुरी की ध्वनि सुन सकते थे जो जगत् में लीन हो गए अर्थात् मुक्ति पा गए थे ।[4]

गुरुओं ने अपने अग्रणी कबीर द्वारा कही अनेक नीके पथों की रक्षा रहने दी । जाति-पाँति के बन्धनों की उपेक्षा हिन्दू-मुसलमानों की साम्प्रदायिक कुरीतियों का खण्डन कर्मकाण्ड का विरोध जातीय असम्मत धारणाओं का संशोधन आदि विषय पंजाबी सन्तों ने भी अपनाए थे अन्तर केवल इतना था कि इनमें कबीर सरीखा अक्खड़पन और उनकी कटुता नहीं थी । वे उलटबासियों के चक्कर में पड़कर जनता को भ्रम में नहीं डालना चाहते थे । उन्हें जो कुछ कहना होता विनम्रतापूर्वक कहते विरोध करना होता तो सभ्यतापूर्वक करते और किसी लाभ में तर्क पहुँचाना पड़ता तो शिष्टता की सीमाओं को बनाए रखते । अभिप्राय यह कि पंजाब के सन्तों ने उपर्युक्त विचारधारानुसार गुरुओं से बहुत कुछ अपनाया परन्तु निजत्व बनाए रखा ।

---

१ ऐसी किंगुरी बजाइ जोगी जितु किंगुरी अनहदु वाजै हरि सिउ रहै लिव लाई ।
सतु संतोखु पतु करि झोली जोगी अमृत नामु भुगति पाई ।
धिआन का करि डंडा जोगी सिंङी सुरति वजाई ॥
आदि ग्रन्थ रामकली-अष्टपदी मु० ३ । १ १ तथा २ पृ० ९०८ ।

२ गुरमुखि सो जोगी कहिए, एकस सिउ चितु लाए ।
सहसा तूटै निरमलु होवै जोगु जुगति इव पाए ॥
आदि ग्रन्थ रामकली-अष्टपदी मु० ३ । १ ७ पृ० ९०८ ।

३ गृहु जोगु न होवै जोगी जि कुटुम्ब छोडि परभवणु कराहि ।
गृह सरीर महि हरि-हरि नामु गुर परसादी अपणा हरि प्रभु लहहि ॥
आदि ग्रन्थ रामकली-अष्टपदी मु० ३ । १ ८ पृ० ९०९ ।

४ बिनु बजाई किंगुरी वाजै जोगी सा किंगुरी वजाइ ।
कहै नानक मुकति होवहि जोगी साचे रहहि समाइ ॥
रामकली अष्टपदी मु० ३ । १ १२ पृ० ९०९ ।

पंजाबी सन्तों की अन्य सामान्य विशेषताएँ

सिख गुरु सबके सब भले परिवारों के सद्गृहस्थ थे। उनका मत भी गृहस्थियों के लिये वरदान था। वे घर-परिवार छोड़ जंगलों घाटियों पहाड़ों आदि में ईश्वर की खोज के पक्षपाती नहीं थे। उनका ईश्वर उनसे जुदा नहीं था केवल उसको देखने वाले आन्तरिक-नेत्र की अपेक्षा थी।[1] वह नेत्र गुरु की कृपा से खुल सकता था जिसकी प्राप्ति का मार्ग था सदाचारपूर्ण जीवन गुरुभक्ति गुरु में अगाध विश्वास और आत्म-समर्पण। इन साधनों की सिद्धि के लिए घर-द्वार छोड़ना परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों से भागना पाखण्डपूर्ण आडम्बर रचना या दण्ड-भिखारी के बहाने भरना आदि की किंचित आवश्यकता न थी। गुरुओं के आदर्श जीवन जनता के सम्मुख थे उन्होंने परिवार में रहते हुए सन्तान और पत्नी की सन्तुष्टि के साथ-साथ उस परम-तत्त्व को प्राप्त किया था जिसके लिए वेदकालीन ऋषि-मुनि जंगलों में शरीर-यन्त्रणा प्राप्त कर वर्षों तपस्या करते थे। उनमें यदि सही विश्वास था कर्म-काण्ड नहीं भक्ति थी आत्मोत्पीडन नहीं आत्म-समर्पण था फिर भला ईश्वर-कृपा से वंचना कैसी? अभिप्राय यह कि सन्त-मत के आदर्श गृहस्थ के आदर्श थे यदि विपरीत परिस्थितियों में पड़े उद्भ्रान्त गृहस्थी के पथ प्रदर्शक और सामान्य संसारी की आध्यात्मिक परम-सिद्धि के महत् साधन कहे जाएँ तो अत्युक्ति न होगी। सन्त मत ने न तो शरीर को संतप्त करने का पाठ पढ़ाया न श्वास रोकने की क्रिया सिखाई, यहाँ न माला की आवश्यकता थी न यज्ञ की न व्रत रखे गए न आहुतियाँ पड़ीं तथापि उनके सहज-उपासना के मार्ग में जिसे सामान्य गृहस्थी सहज अपना और निबाह सकता है, नाम जाप द्वारा ईश्वरीय कृपा का आह्वान हुआ और गृहस्थियों के लिए *महान सहयोगी उपासना-पद्धति* की नींव रखी गई। अतः यदि पंजाबी सन्त मत को 'पारिवारिक धर्म' कहें तो अधिक उचित होगा।

ये महात्मा जैसा कि कहा जा चुका है किसी विशेषवर्ग सम्प्रदाय या मत-मतान्तर के पोषक न थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रखने वाले ये महा मानव सब धर्मों-सम्प्रदायों से ऊँचे थे उनके लिए देश-विदेश या साम्प्रदायिकता की सीमाएँ उपेक्षित थीं। हिन्दू-मुसलमान राजा-रंक सबको समदृष्टि से देखने वाले इन सन्तों को मात्र मानव-धर्म के प्रचारक कहा जा सकता है। गुरुनानक की अरब देशों की यात्रा मुसलमान भाइयों के साथ नमाज में भाग लेना आदि घटनाएँ उनकी मानवता का महनीय मूल्यांकन है। अपना बलिदान देकर भी न्याय की

---

१ जैसा कि बुल्लेशाह ने लिखा है। शौह तैथों वक्ख नहीं पर देखन वाली अक्ख नहीं—बुल्लेशाह।

रक्षा करना, अन्यायी का विरोध तथा निरीह को सहयोग देना पंजाबी सन्तों की विशाल-हृदयता तथा आत्मा की सशक्तता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। जहाँगीर की ओर से खुसरो के साथ अन्याय होने पर गुरु अर्जुन देव द्वारा उसे सहयोग दिया जाना और उसके फलस्वरूप अपने शरीर पर असह्य कष्ट सहना तथापि उफ न करना और क्षमा माँगने की अपेक्षा न रखना पंजाबी सन्तों की न्यायप्रियता और मानव प्रेम का प्रतीक है। निस्सन्देह समयानुसार पंजाबी सन्तों ने अत्याचार का सामना करने के लिए शस्त्र भी धारण किया परन्तु यह धारणा भी मानवता की रक्षा पर ही आश्रित थी। विदेशियों द्वारा अन्यायपूर्ण होने वाले कराल अत्याचारों का अन्त तथा साम्प्रदायिकता की प्रचण्ड-पवन के झोंकों में डगमगाती मानवीय-नौका को पतवार प्रदान करने हेतु नाव मल्लाह का स—'खालसा' न्याय की साक्षी बनी रह गई। वर्तमान युग में उन के द्वारा संचालित सिक्ख-पंथ गुरु-शिक्षाओं को भुला मानवता पथ से विचलित रहे या अविचलित परन्तु यह पंजाबी सन्तों की महानता की कसौटी नहीं। उनकी विशेषता तो इस बात में है कि उन्होंने संसार में निरीह की सहायतार्थ जन्म लेने वाले व्यक्तियों के एक उपकारधर्मी-वर्ग का प्रवर्तन किया था। योग्य समय पर यह वर्ग न्याय, शौर्य और बलिदान के महत्त्व स्वरूप में प्रकट भी हुआ परन्तु स्वार्थ के बीजों के अंकुरित होते ही मानवता वहाँ भी दम तोड़ने लगी। वर्तमान युग सन्तों द्वारा रखी मानवता की उन नींवों को हिला झकझोरकर, पंजाब को पतन के गर्त में धकेल रहा यह उसकी कृतघ्नता है महात्मा सन्तों का दोष नहीं। आवश्यकता है मानव के पुनरागमन की।

सिक्ख-गुरुओं की शिक्षा जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद-भावों से सर्वथा मुक्त थी। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में ब्राह्मण और शूद्र का क्या भेद? यहाँ तो जिसने परमेश्वर (ब्रह्म) को पहचाना वही ब्राह्मण हो गया।[1] सम्भवतः यही धारणा ब्राह्मण समाज द्वारा पीड़ित जनता को सन्तमत की ओर आकृष्ट करने में सहायक हुई थी। एक बड़ा लाभ इससे यह हुआ कि कथित समाज द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत निम्न कोटि की हिन्दू जनता जो सामूहिक रूप से मुसलमान धर्म अपनाए जा रही थी अपनी मौलिक स्थिति की ओर लौटी। सन्तों की इस मानसिक भावधारा ने हिन्दू-धर्म को सजीव बनाए रखा अन्यथा बहुत सम्भव था कि नैसर्गिक-व्यवस्था का पोषक मानव एक ओर से घृणा और तिरस्कार की भावना छोड़कर अन्य सुव्यवस्थित समाज (मुसलमान-समाज) का सदस्य बनने का दुस्साहस करता। प्रस्तुत मानसिक अनुभूति की उत्पत्ति किसी भी समाज की सम्पन्नता नष्ट करने में सार्थक हो सकती

---

१ जाति का गरबु न करियहु कोई, ब्रह्मु बिन्दे सो ब्राह्मण होई।
(आदि ग्रन्थ राग भैरउ म० ३ पृ० ११२८)

है। इस ओर गुरु अमरदास ने संकेत[१] भी किया था। भारतीय समाज को पहली बार, एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी न था। आचार भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और उनके द्वारा किसी नई जाति की रचना करली जाती। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ-उपजातियाँ बनती जा रही थीं तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी प्रकार चलती जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज (मुस्लिम-समाज) था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्म मत को यदि स्वीकार करता तो इस्लाम सब भेद-भाव को भूल जाता था'।[२] ऐसे में हिन्दू-धर्म की रक्षा और प्रस्तुत स्थिति के अतिक्रमण का एक ही मार्ग था जिसे सन्तों ने अपनाया। धार्मिक विचारों से ऊँच-नीच के भेद-भाव को हटाने की आवश्यकता थी यह पूर्ण हुई। पंजाब में ही नहीं सब-भारत में सन्त-मत के विकास के मूल में जाति-भेद-उच्छेद का बहुत बड़ा हाथ था। इसके उन्मूलन के लिए सन्तों के पास परिमार्जित तर्क थे। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य हो या शूद्र भगवान् से सभी की उत्पत्ति एक ही प्रकार से की है। सभी तो मास गर्भ में रहे हैं वीर्य और शुक्र का योग सब के लिये बराबर रहा है फिर भला जब भगवान् ने उनकी व्युत्पत्ति में समानता अपनाई हमें क्या अधिकार है कि हम उनमें भेद डालें।[३] यह तो विश्व सृष्टि के निमित्त-कारण की बात है सन्तों ने पदार्थ-कारण पर भी इसी कोण से दृष्टिपात किया है। उनके अनुसार जैसे कुम्हार गीली मिट्टी (पदार्थ-कारण) से अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न बरतन बनाता है तो भी रूप रंग के जुदा होने पर मिट्टी में कोई अन्तर नहीं आता। उसी तरह मनुष्यों के शरीर भी सृजनकर्ता ने एक ही प्रकार के पाँच तत्त्वों से रचे हैं फिर उनमें भेद क्यों देखा जाये?[४] वास्तव में सन्तों की विचारधारा विश्वबन्धुत्व की ओर संकेत करती थी। वे मानते थे कि किसी का जन्म ऊँचे या नीचे घराने में उसके पूर्व संचित कर्मों के कारण होता है। जिस तरह हम अपने घर में कर्म फल भोगते हुए किसी रोगी का तिरस्कार नहीं करते वैसे ही हमें

---

१ जाति का गरबु न करि मूरख गवारा। इस गरबु ते चालहि बहुत विकारा॥ वही

२ सन्त-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

३ चारे बरन आखै सभु कोई, ब्रह्म-बिन्दु ते सभ ओपति होई।
(आदि ग्रन्थ राग भैरउ म० ३ पृ० ११२८)

४ माटी एक सगल संसारा बहु बिधि भांडे घड़ै कुम्हारा।
पंच ततु मिलि देही का आकारा घटि वधि को करै बिचारा॥
(आदि ग्रन्थ राग भैरउ म० ३ पृ० ११२८)

कर्म-वश ऊँचे-नीच घरानों में जन्म लेने वाले समभावी मनुष्यों के तिरस्कार का कोई अधिकार नहीं। जो सब तो कर्म-चक्र में पड़े उन निष्पाप लोगों को सच्चे गुरु का नाम बताया ताकि वे इस नाम से मुक्ति पा सकें और सदा के लिए जन्म-मरण से छूट जायें।[1] स्पष्ट ही यह भाव पंजाबी सन्तों में समाज-सुधार और आध्यात्मिकता का सामंजस्य प्रतिबिम्बित करता है।

गुरु-परम्परा में नामोपासना को अतीव महत्त्व दिया गया है। पारब्रह्म या अकाल पुरुष के नाम-जाप से ही मुक्ति की कल्पना की गई है। शुद्ध एवं पवित्र हृदय से लिया गया प्यार का नाम वह महान् विभूति है जो स्वयं ब्रह्म को पुकारते हुए जीव की ओर आकर्षित करती है। जीव उन्मुक्त है तथा पुरुष—जब तक दूसरे के लिए पुकारना और दूसरा 'अपने नाम की लाज' हेतु सहायतार्थ दौड़ पड़ता है, तो दोनों का मिलन स्वाभाविक है यही मुक्ति है और यही ब्रह्मैक्य। परन्तु गुरु-प्रदत्त नामाभ्यास के बिना मनुष्य की स्थिति 'जहाज के पंछी' जैसी होती है जो कितना भी उड़े किनारा नहीं पा सकता और अन्ततः वहीं आ बैठता है। इसी प्रकार मानव भी संसार में कितना भी ऊँचा उठने का प्रयास करे, गुरु द्वारा बताए सच्चे नाम की उपासना के अभाव में ब्रह्म-पद के सत्य को नहीं पा सकता।[2] लोग मन और आत्मा की शुद्धि के लिए तीर्थ-यात्रा करते हैं, वहाँ बाहरी क्रियाकलापों में फँस जल-स्नान कर शरीर भी भले ही चाहे साफ हो, मन की मैल क्योंकर छूटेगी? मन की मलिनता और आत्मा का भ्रम छुड़ाना तो नाम-स्नान से ही सम्भव है। घर बैठे नाम जाप हिन्दू-धर्म के अड़सठ तीर्थों के पुण्य-संचय से अनेक गुना गम्भीर और महत्त्व लिया है, असीम ब्रह्मानन्द की उपलब्धि है।[3] इसीलिए पंजाबी सन्तों ने संसारिक-जीवों को बार-बार चेतावनी दी है कि पिया मिलन (ब्रह्म में लीन होना) चाहते हो तो सच्चे नाम का ध्यान करो, उसी के नाम जापो, उसी में रमे रहो, वही सगन-गाठ में बाँध-रखता है।[4] नाम अमृत के समान है, अपने वाला नाम-स्मरण अमर हो जाता है अर्थात् अमृत के गुणों को प्राप्त करता है। नाम ही एकमात्र ऐसी शक्ति

---

१ कहु नानक इहु जीउ करम बंधु होई।
बिनु सतिगुर भेटे मुकति न होई॥
(आदि ग्रन्थ राग भैरउ म० १ पृ० ११२८)

बिनु हरिनाम न मुकति होइ, गुर सबदि समाइ नामु सोइ।
(आदि ग्रन्थ राग बसन्त म० १ ५ २ पृ० ११६६)

३ नानक साचि महारसु हरिजपि अठसठि तीरथ नाता।
(आदि ग्रन्थ बारहमाहा तुखारी १५, म० १ पृ० ११०९)

४ साचो सचा नामु धिआवहु आपनी पति सेती घरि जावहु।
(राग मलार, म० १ १ १ पृ० १२५४)

है जो जीव को ब्रह्म से मिलाती है।[1] सन्तमत तो नाम की सत्ता को स्वयं 'निरंजन रूप' मानता है। लिखा भी है 'कि स्वर्ण सरीखे मानव शरीर में आत्मा सदैव पवित्र है क्योंकि उसमें 'ब्रह्म-नाम' की सत्ता विद्यमान रहती है। इस सच्चे नाम के जपने से शरीर के सब दुःख-रोगों का अन्त हो जाता है और आत्मा देदीप्यमान हो उठती है।[2] यही वह शक्ति है जिससे दुर्मति का अन्त होता और निर्वाण-पद की प्राप्ति होती है—इसी की शरण में मानव निर्भय रह सकता है।[3] सच तो यह है कि जगत में हरि-नाम के जाप से ही जीवन की सफलता है अन्यथा हमारे द्वारा किए जाने वाले तीर्थ-स्नान, संयम-ध्यान, पवित्र भोजन या संसार चक्र में पड़ना सब व्यर्थ है कालकूट के समान है।[4] संसार के असंख्य सद्गुण भी क्षण-मात्र नाम की महिमा का पार नहीं पा सकते। यह गुण-प्रदत्त साधन ईश्वरीय है इसमें परम-सत्य की कान्ति, अनन्य प्रेम की अखण्ड-सत्ता और अकाम-पुरुष की अपार कृपा का सामंजस्य रहता है। सन्त मत में नाम को सत्यं-शिवम्-सुन्दरं स्वीकार किया गया है। वह सत्य है, संसार की मिथ्या अनुभूतियों, रोग-शोक, हर्ष-आनन्द, उत्थान-पतन सब का एक अन्त है परन्तु नाम अक्षय है, जो किसी युग, धर्म या गुण की सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। वह अमर है और भक्त को अपने समान अमरता का वरदान देता है। नाम शिवम् है, विश्व में कल्याण का एकमात्र मार्ग, अंसख-ज्योति तक पहुँचने का एकमात्र सोपान और महिमामय ईश्वर का योग्य पुत्र नाम ही तो है। नाम संसार-सागर से पार कराने वाली अनुपम शक्ति है। नाम का अद्वितीय सौन्दर्य आँखों देखने की वस्तु नहीं अन्तःकरण के अनुभव की चीज है। जिसने प्रस्तुत अनुभव की सरसता का पान किया है वह किसी भी मूल्य पर नाम की पृथकता सहन नहीं कर सकता। नाम ने जिस चिर-सुन्दर का गुणगान किया है उसकी अपूर्व ललाम शोभा की संसार के नाच-रंग-तमाशों से तुलना ही क्या? अभिप्राय यह कि

---

१ गुरमुख मिलावहि सि अंमृत पावहि सेई सूचे होही ।
अहि निस नामु जपहु रे प्राणी मैले हछे होही ।
(मलार, म १ १ ३ पृ० १२५४)

२ कंचन काइआ निरमलु हंसु, जिसु महि नामु निरंजन अंसु ।
दूख रोग सभि गइआ गवाई, नानक छूटसि साचै नाई ॥
(मलार, म १ ७ ४ पृ० १२५६)

३ रे मन ओटि लेहु हरिनामा—जा कै सिमरनि दुरमति नासै पावहि पद निरबाना।
रामकली म० ६ पृ ९०१।

४ रामनाम बिनु बिरथे जगि जनमा
बिखु खावै बिखु बोली बोलै बिनु नावै निहफलु मरि भ्रमना ।
(आदि ग्रन्थ राग भैरउ म० १ ८ १ पृ० ११२७)

...म नाम है उसकी महानता का बखान पंजाबी सन्तों ने किया है उसे प्रतिष्ठा ...है उसके जाप की अपेक्षा है वहीं ब्रह्मैक्य की उपलब्धि है।

उपर्युक्त नाम-महत्ता का यशोगान सुनकर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ...स्तुत नाम जिसे साधारणतः सभी नहीं समझते किसकी अनुकम्पा से प्राप्त होता ...? वह कौन है जो नाम-रहस्य समझाकर जीव के लिए ब्रह्म-पथ निर्धारित करता ...? ब्रह्म-पथ-गमन की प्रेरणा मार्ग की बाधाओं और कठिनाइयों के हरण में ...हायता तथा लक्ष्य-सिद्धि हेतु साधना की उपचेष्टाएँ किस से प्राप्त होती हैं? ...ह कौन शक्ति है जो टूटे सम्बन्ध (जीव और ब्रह्म की पृथकता) पुनर्स्थापित करती ...? वह कौन है जो भेड़ों में पलने वाले शेर (भूले हुए जीव) को उसकी वास्तविकता ...का सद्‌ज्ञान करवाता है? कौन है जो अज्ञान या माया के आवरण को हटाकर ...जीव को ब्रह्म बनाता है? सबका एक ही उत्तर है—'गुरु'। पंजाबी सन्तों ने महान ...म क्योंकि गुरु की आराधना को बहुत ऊँचा स्थान दिया है।

गुरु वास्तव में स्वयं ईश्वर-रूप होता है। उसमें और ईश्वर में कोई अन्तर ...हीं वह ईश्वर का ही मानवीय रूप होता है या जीवों को चेतना और जागृति ...देने के लिए स्वयं ब्रह्म द्वारा नियुक्त किया जाता है। डंकेन ग्रीनलस ने लिखा है 'ईश्वर प्राप्ति का कोई सुगम और छोटा मार्ग नहीं। उसकी (ईश्वर की) उपलब्धि उसी द्वारा निमत साधनों से सम्भव है और वे हैं जाप पूर्व सुकर्मों के फलस्वरूप किसी सन्त की संगति करना। वास्तव में भक्ति एक ऐसी सुनहरी वस्तु है जो किसी महात्मा या सन्त के प्रथम मिलन में ही हृदय में अंकुरित होती है और धीरे-धीरे ज्वाला-सम प्रचण्ड हो मन की मलिनता का होम कर अन्तःकरण के स्वर्ण-मन्दिर की पावनता का कारण बनती है। विशुद्ध-पवित्र हृदय में स्वयं ईश्वर अपने नाम-रूप में विद्यमान रहता है। सच तो यह है कि जहाँ गुरु है वहीं ब्रह्म पहले ही वर्तमान होगा—सन्त और ईश्वर का मार्ग इतना निकट-का है कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस समय कौनसी शक्ति कार्यरत है वे दोनों जुदा हैं या मात्र एक ही।'[1] सिख गुरुओं ने गुरु को परमात्मा के ही रूप में देखा था। वे मानते थे कि

1 'There is no short-cut to God no easy way He is found through His own appointed means the contact with a saintly devotee to be gained only as the reward of past good actions Devotion is infectious It arises in the heart even at the first such contact it becomes a flame which burns away the dross and purifies the golden nugget there. In the pure heart God Himself comes to dwell in the manifest form of His name It is true to say that where the Guru is there already is the Lord—so close is the

(शेष अगले पृष्ठ पर)

दुनिया में यदि किसी ने ईश्वर पाया तो गुरुज्ञान के सहारे; गुरु कृपा हुई तो मुक्ति मिली। अतः गुरु करता धरता परमेश्वर और सर्वस्व है।[1] गुरु प्रेम का स्रोत है उसके शब्दों में परमानन्द की प्राप्ति निहित है अतः उसकी सेवा से इहलोक में सुख और परलोक में भगवत्प्राप्ति होती है।[2] गुरु नानक ने तो स्पष्ट स्वीकार किया है कि शास्त्र बार बार विचारने पर भी वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि संसार के असंख्य कर्म और वेद शास्त्र मिलकर भी अज्ञान-तिमिर का नाश नहीं कर सकते। गुरु वह ज्योति-पुंज है जो न केवल ज्ञान का प्रकाश ही फैलाता है प्रत्युत उसके शब्दों में मुक्ति की सत्ता विद्यमान रहती है।[3] गुरु सत्य-सन्तोष का सरोवर है उसमें स्नान करने के बराबर संसृति का कोई तीर्थ नहीं। उसका मन चिर-निर्मल होता है वह अनाचार और कुमति की मलिनता को धोने में समर्थ है। उसका नाम ही मनुष्य को पशु से देवता बना देता है।[4] स्पष्ट ही पंजाबी सन्तों की वाणी में गुरु को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कारण गुरु-गुरु में स्वाभिमान है। जो व्यक्ति माया फंद-जड़ित मनुष्य का उद्धार करता और उसे सतिनाम अकालपुरख से मिला देता है वह परम-पूज्य ही नहीं सर्वस्व समर्पणीय है।

पंजाबी-सन्तों की सामान्य विशेषताओं में 'हुकम' के अनुसार काम करने की भावना पर्याप्त विकसित रूप में मिलती है। 'हुकम' शब्द का साधारण-अर्थ है

(पिछले पृष्ठ का शेष)
union between the saint and God we cannot say which is acting at any moment they are as it were the same." Duncan Greenless in The Gospal of Guru Granth Sahib p. 91

1 जिन जिन्या सा गुर ते जानिआ गुर किरपा ते मुगध मन मानिआ ।
गुर करता गुर करणै जोगु, गुर परमेसर है भी होगु
कहु नानक प्रभु इहै जनाई बिन गुर मुकति न पाईए भाई ॥
(आदि ग्रंथ राग गौंड म ५ ७ ४ पृ ८६४)

2 बिनु गुर प्रम न पाईऐ सबदि मिलै रंगु होइ रहाउ ।
गुर सेवा सुख पाईऐ हरि वरु सहजि सीगारु ॥
(राग सिरी अष्टपदी म १ पृ० ५८)

3 बिनु गुर सबद न छूटिए देखहु बिचारा ।
जे लख करम कमावही बिनु गुर अंधिआरा ॥
(राग गउड़ी असटपदी म १ १८ १ पृ २२९)

4 गुर समान तीरथु नही कोई गुर संतोखु तासु गुरु होई
गुर दरिआउ सदा जल निरमलु मिलिआ दुरमति मैलु हरै ।
सतिगुर पाइऐ पूरा नावणु पसू परेतहु देव करै ॥
(आदि ग्रन्थ राग प्रभाती म० १ ६ १ व २ पृ० १३२९)

'भाणा'। सन्त-वाणी में इस शब्द का पारिभाषिक रूप 'ईश्वरीय-नियम या ईश्वरेच्छा' है। इन महात्माओं ने ईश्वरेच्छा को सर्वोपरि स्वीकार किया था यही उनका आदेश उपदेश और प्रचार था। अपनी ओर से जीव द्वारा सदाचारी जीवन व्यतीत करना सद्गुणों का विकास और गुरु-कृपा से नाम-रहस्य की जानकारी प्राप्त कर उसका अभ्यास करना आवश्यक है प्रकट में फल की आशा नहीं की जा सकती। इसका सामर्थ्य परम-तत्त्व के बाँटे आया है। जीव को मिलने वाले दुःख रोग शोक और हर्ष विस्मय सुख आदि सब उसी शक्ति की इच्छा पर निर्भर हैं। पंजाबी सन्तों ने सुख-उपलब्धि के लिए नाम जपना या दुःख आने पर ब्रह्म-तत्त्व से विमुख होना या उससे घृणापूर्ण नास्तिकता का भाव बना लेने का सर्वथा विरोध किया है। नाम जाप नाम-जाप के लिए है जो आन्तरिक ज्योति प्रदान करता है और अन्तत मुक्ति-दान देता है। अतः गुरु प्रदर्शित भाव का आश्रय लिये ईश्वरेच्छा शिरोधार्य कर अग्रसर होना अनिवार्य है प्रकाश स्वयं फैलता जाएगा और माया का आवरण अपने आप विलीन होगा।[1] पंजाब के इन सन्तों ने परम-तत्त्व की परिभाषा इस प्रकार दी है— १ ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि। अर्थात् वह 'ओंकार' एक है (अद्वितीय है) उसका नाम सत्य है वह सृष्टि का रचयिता है उसे किसी का भय या किसी से शत्रुता नहीं वह तीनों कालों का निर्भय स्वरूप है जन्म-मरण से परे है स्वाभिव्यक्त है और केवल गुरु कृपा से उपलब्ध होता है। इस परिभाषा से सिद्ध है कि पंजाबी महात्माओं का अकाल-पुरख सत्य-स्वरूप होने के साथ-साथ कर्ता होने के कारण हुकम सम्बद्ध भी है। आचार्य चतुर्वेदी के मतानुसार ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट होता है कि यहाँ 'करना' 'करने वाला' 'रहना' 'रहने वाला' अथवा 'होने वाला' और 'होना' भी वास्तव में भिन्न नहीं हैं। सबके सब चाहे वस्तु हों या क्रिया हो एक ही में सम्मिलित व आत्मसात् हैं और कोई भी अंश किसी भी रूप में उस एक मात्र सत्य से अलग नहीं। हुकम हुकम देने वाला तथा जिसे हुकम किया जा रहा है वे सब एक हैं।[2] शंकर के अद्वैत के प्रभाव में समानान्तर चलने वाला पंजाबी सन्तों का सर्वात्मवाद इसी ओर संकेत करता है।

प्रस्तुत सन्तों ने उपर्युक्त महिमामय हुकम का यशोगान किया है। संसार की प्रत्येक वस्तु क्रिया और फल सब हुकम के बन्दे हैं उससे बाहर कुछ नहीं। इस विचार को अपनाने वाला हुकम पर आश्रित होता है तो स्वभावतः ही उसके

---

[1] किव सचिआरा होईऐ, किव कूड़ै तुटै पालि
हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि।
(आदि ग्रन्थ जपु १ पृ० १)

[2] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा पृ० १५४।

अहंभाव का अन्त हो जाता है।[1] गुरुओं ने 'तेरा भाणा मीठा लागे' के इस आदर्श को अपने जीवन में साक्षात्कार करके दिखाया है। जहाँगीर के द्वारा गुरु अर्जुन को नरक-यन्त्रणा से भी अधिक कष्ट दिये जाने पर उनकी वाणी 'तेरा कीआ मीठा लागै नाम पदारथ नानक मांगै' का कथन कर रही थी। औरंगजेब ने जब गुरु तेगबहादुर को मृत्यु या धर्म-परिवर्तन में विकल्प दिया तो हुकम से बंधे वे पथ-विचलित नहीं हुए, सिर कटवा लेना स्वीकार कर लिया। गुरु गोविन्द के बच्चों की मृत्यु का समाचार, उन्हें एक क्षण के लिए भी पश्चाताप में नहीं डाल सका। हुक्म के सम्मुख शीश झुका के अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर अग्रसर रहे। कारण स्पष्ट है मनुष्य के किये कुछ होता नहीं जो कुछ अकाल-पुरुष को भाता है वही होता है।[2] तो फिर क्यों न अपनी जीवन-तरी को उसी के हवाले कर, निश्चिन्त हुआ जाए, तथा 'राची-बस-रजा' का आधार लिये उसी 'एक' में समाया जाए!

सबकी दार्शनिक पृष्ठभूमि में साम्य

उपरिवर्णित भक्ति-परम्परा तथा सन्त-मत के उदय और विकास का विश्लेषणात्मक रूप समय-समय पर चल निकलने वाले सम्प्रदायों विचारधाराओं और नीतियों के अन्तिम-सत्यों में साम्यता सिद्धि का साक्षात् प्रमाण है। वेद शास्त्र पुराण गीता—सबका लक्ष्य जीव-ब्रह्म संयोग था। साधन सबके निजी थे—वेदों ने मिलन की यह स्थिति तप में शास्त्रों ने यौगिक क्रियाओं में पुराणों ने भक्ति और गीता ने ज्ञान और कर्म के संगम के सत्प्रयास किए। जो मार्ग (साधन) जिसे भाया वह उसी पर चल दिया भक्त बना या योगी तपस्वी हुआ या ज्ञानी अन्तिम-सत्य ईश्वर प्राप्ति ही था जिसमें अपने-अपने ढंग से निजी सीमाओं में बंधे अनुयायियों ने गन्तव्य स्थान को पाने के उपक्रम किए, या पाया। अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों की छाया में अनेक बार साधन बदलने भी पड़े सूफियों ने मजाज़ी प्रेम का तथा सन्तों ने नाम-जाप और गुरु कृपा को ब्रह्म के मिलन का

---

१ हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ।
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोइ॥
(आदि ग्रन्थ जपु २ पृ० १)

२ जो तिसु भावै सो थीऐ नानक किआ मानुख।
(राग आसा अष्टपदी म० १ ११ ७ पृ० ४१७)

तुलना कीजिये

नाज़ करे इन्सान तो क्या होता है?
होता है वही जो मन्ज़ूर-ए-ख़ुदा होता है।

सोपान माना। परन्तु लक्ष्य नहीं बदला साध्य वही रहा। जो वैदिक-युग की जनता ने चाहा वही महाकाव्य-काल की प्रजा ने माँगा जो अर्हत ने सिखाया वही सूफियों ने पढ़ाया कबीर ने गाया वही पंजाबी सन्तों ने भी अपनाया। प्रश्न उठता है साधनों विचारों और नीतियों में साम्यता न होते हुए भी 'मिलन की इस कामना' के 'सोम-यज्ञ' में सभी बराबर की आहुति डालने को क्यों इतने अधीर रहे? उत्तर सहज और स्पष्ट है। आदिम युग से ही मानव ने अपने अनुभवों द्वारा बुद्धि-विकास के क्रम में यह समझ लिया था कि उसके निर्दे प्रकृति को सुसम्बद्ध रखने में जो 'शक्ति' कार्यरत है उसी का एक अंश वह भी है। उसे जुदा करके निर्बल कर दिया गया है अन्यथा वह अपने पूर्णांश-सा ही शक्तिशाली था। मानव ने यह भी अनुभव किया कि यदि किसी प्रकार आज भी वह उस जुदाई को मिलन में परिवर्तित कर सके तो पुनः वह महत् शक्ति उसके हाथ लग सकती है। स्वभावतः शक्ति के पुजारी और जगत को सबल बनाने की अभिलाषा रखने वाले मनुष्य ने उसी समय से कथित शक्ति में मिल जाने और स्वयं वही रूप धारण करके अतुल शक्ति का स्वामी बनने का निश्चय कर लिया। प्रस्तुत अभिलाषा और निश्चय तब से परम्परागत रूप से चला आ रहा है जबकि परिस्थितियों के अनुसार अनेक साधनों की खोजें होती ही रही हैं। विशेषकर बारहवीं शताब्दी के पश्चात् होने वाले महात्माओं ने तो शास्त्राचार का त्यागकर निजी अनुभवों के आश्रय एक नूतन 'पहुँच' प्राप्त की थी सम्भवतः यही कारण है कि उनके नामों के साथ शास्त्रीय पाण्डित्य के विशेषण न जोड़कर, उन्हें 'पहुँचे हुए सन्त' कहकर पुकारा गया है। यह 'पहुँच' उन्होंने अनन्य प्रेम अखण्ड भक्ति तथा ईश्वरीय-कृपा के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा प्राप्त की थी वही वह योग था जिसका संकेत सर्वप्रथम वेदों ने और अनन्तर उपनिषदों शास्त्रों पुराणों गीता और सूत्रों ने दिया था। स्पष्ट ही पिछले १००० वर्षों से मानवता का लक्ष्य अहूरत्व सिद्ध हो रहा है। मध्यकालीन महात्माओं की एकरूपता के लिए तो 'शान्ति निकेतन' के सुविख्यात आचार्य स्व० श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है "कि भारत वर्ष के सभी प्रेममार्गी साधकों में चाहे वे बंगाल के बाउल-बाउल हों उसके भी पूर्ववर्ती चण्डीदास आदि सहजपंथ के साधक हों उत्तर भारत के सन्त हों या सिंध आदि प्रदेशों के सूफी या सूफी भावापन्न साधक हों एक विशेष प्रकार की एकरूपता है। यह एकरूपता है—प्रेम की साधना। इस प्रेम-साधना के मार्ग में तीन बातों का रहना परमावश्यक है। समता स्वाधीनता और प्रेमास्तिकता। समता का तात्पर्य यह है कि प्रेम की साधना में प्रेमिक और प्रेमास्पद में कोई भेद-भाव ऊँच-नीच की कल्पना नहीं रहती। स्वाधीनता के बिना काम नहीं चलता। जुल्म या जोर जबरदस्ती यहाँ नहीं चल सकती। किसी बाहरी अवस्था की जिद्दी की बाध्यता प्रेम नहीं मान सकता। प्रेमास्तिकता का मतलब है प्रेम ही प्रेम का अन्तिम-लक्ष्य

है।[1] प्रेम का प्रस्तुत रूप पुरातन काल से क्रमशः तप यज्ञ योग कर्म ज्ञान और भक्ति से होता हुआ प्रपत्ति में पहुँचा था। यही प्रपत्ति जिसमें दिया जाता है मोला नहीं मध्य काल में 'प्रेम' बनी। लेकिन तप से प्रेम तक पहुँचने के लम्बे युग में सर्व मार्गी यात्री एक ही गंतव्य को लिए बढ़ते रहे यह तथ्य है। और गंतव्य था परम सत्य या पराभौतिक-शक्ति का साक्षात्कार, उसी में लीन होने की मनोभिलाषा।

---

१ आचार्य क्षितिमोहन सेन—सन्त-साहित्य-विशेषांक (साहित्य-सन्देश)

गुरु

गुरु-शब्द भारत की प्राचीन थाती है, परन्तु सिख महात्माओं ने गुरु को पुरातन-युगीन शास्त्रीय-अर्थों से भिन्न स्वरूप में अपनाया। उनके मतानुसार गुरु केवल अध्यापक या मार्ग-प्रदर्शक ही नहीं होता, वह तो अकाल-पुरुष के उस अंश का निमित्त है जिसकी कल्पना पौराणिक विचार-पद्धति ने 'अवतार-धारण' की परिभाषा में की है।[1] वह देह-धारी दिखता हुआ भी देह नहीं होता शब्द होता है। स्वयं अकाल

---

१ भगवद्गीता का—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ४ ७ ।

रामायण का—जब-जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥

× × ×

तब-तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

इसी स्वरूप को भाई गुरुदास अपनी पहली वार में यों प्रस्तुत करते हैं—

भई गलानि जगत बिच चार बरन आश्रम उपाए।
दस नाम* संन्यासियाँ जोगी बारह§-पंथ चलाए ॥

× / ×

सुनी पुकार दातार प्रभु, गुरु नानक जग माहि पठाया।
चरन धोइ रहिरास कर, चरणामृत सिक्खाँ पीलाया ॥

अथवा

वेद ग्रंथ गुर हट है जिस लग भवजल पार उतारा।
सतिगुरु बाझ न बुझीऐ, जिचर धरे न गुर अवतारा ॥

* तीर्थ आश्रम वन आरण्य गिरी पर्वत सागर, सरस्वती भारती पुरी।

§ (हेतु पंथ पाव पंथ आई पंथ गम्य पंथ पागल पंथ गोपाल पंथ कंथरी पंथ बन पंथ ध्वज पंथ चोली पंथ रावल पंथ दास पंथ।)

पुरुष अपने शिष्यों की रक्षार्थ उसमें शब्द की स्थापना करता है और उसी शब्द का रहस्योद्घाटन वह भक्त जनता के सम्मुख कर उन्हें शान्ति पहुँचाता है। सिक्ख गुरुओं ने इस सत्य की व्याख्या उन सबको एक मानव-रूप स्वीकार करने में भी स्पष्ट है। शब्द परम-सत्य का प्रतीक है। गुरु नानक में यह स्थापित किया गया था[1] और वही सत्य शब्द एक के बाद दूसरे, दसों गुरुओं की आत्मा का प्रकाश बना। इसीलिये वे सब अपने को नानक कहते और एक ही शब्द का रूप लिये सत्योद्घाटन करते रहे। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत विचार-धारा के अनुसार गुरु का वास्तविक रूप शब्द रूप है और वह स्वयं प्रकाश-पुरुष का तत्त्व है।[2]

आवश्यकता

संसार में साधारण से साधारण कार्य के सीखने के लिये भी हमें गुरु की शरण लेनी पड़ती है। ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ती है जो पहले से उस क्षेत्र का जानकार हो। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में दुर्लभ शान्ति के लिये किसी परम-पुरुष की अपेक्षा अनिवार्य ही है। जिस तरह प्रकाश के बिना अन्धकार दूर नहीं होता, ज्ञानी के बिना ज्ञानोत्पत्ति केवल कल्पना है, नाविक बिना नैया का पार उतरना अपवाद तथा शिक्षक की अनुपस्थिति में शिक्षा कोरी प्रवंचना होगी, वैसे ही गुरु रूपी प्रकाश के बिना माया का अन्धकार दूर नहीं हो सकता। गुरु-ज्ञान के बगैर रहस्य प्रश्न ही बने रहें जिसमें जीवन-तरी भवसागर के विकट थपेड़ों में ही डगमगायेगी और शिक्षा का आडम्बर काला अक्षर भैंस बरोबर, पर तो भी रखते अभिमान का संकेत-चिह्न होगा। कहा भी है—

> गुरु बिनु किनै न पाइओ केती कहै कहाइ।
> आपि दिखावै वाटड़ी साची भगति दृड़ाइ॥ (आसा म० १)

पद की आवश्यकता के साथ ही यहाँ कुछेक प्रश्न और उठ जाते हैं। गुरु मिल जाए तो उससे क्या पूछेंगे या सीखेंगे? कैसे मिलेगा? किसे मिलेगा? उत्तर स्पष्ट है। जिस जिज्ञासा वृत्ति की शान्ति हेतु मनुष्य ने गुरु की आवश्यकता अनुभव की थी उन्हीं उलझनों का हल गुरु से प्राप्त किया जायगा। संसार चक्र में दुःख-सुख के गोरख धंधे से असंतुष्ट व्यक्ति प्रस्तुत पथ पर सन्तुष्टि न पायेगा तो और क्या अपेक्षा रख सकता है? आधुनिक वैज्ञानिक मस्तिष्क तर्क-जाल में असफल होकर श्रद्धा अपनायेगा तो—

---

१ सतिगुरु मिलि आपु पछाणोनु करि परसादु आपि मिलाइआ।
—(पद ६, वार आसा श्लोक।)

२ बाइबिल भी इस विचार से सहमत है—
The word was made flesh and dwelt among us full of grace and truth.

गुर चरन लागि हम बिनवता, पूछत कहि जिउ पाइआ ।
कवनु काज जगि उपजै बिनसै, कहहु मोहि समझाइआ ॥
देव करहु दइआ मोहि मारगि लावहु जित भै बंधन तूटै ।
जनम मरन दुख फेड़ करम सुख जीआ जनम ते छूटै ॥
—(आदि ग्रंथ आसा कबीरजी ।)

गुरु-मिलन क्योंकर होगा ? खोज करने से । समय-समय पर अनेक महान् आत्माएँ विश्व में अवतरित होती रहती हैं । पृथ्वी पर आने पर भी उनका सम्बन्ध ईश्वर से अटूट रहता है । ये आत्माएँ प्रायः ईश्वर की प्रतिनिधि रूप में आती हैं । वे इस विश्व के मिथ्या रंग-तमाशे में भाग लेती हुई भी उससे अलिप्त रहकर अपने प्रभु की याद में तल्लीन रहा करती हैं । सीधी-सी बात है जो स्वयं परमात्मा में लीन होगा वही तो संसार नरक में बसने वाले जीवों को ज्ञान देकर अपने सरीखी लीनता का मार्ग दिखा सकेगा । ऐसी व्यापक आत्माओं को खोज निकालने की आवश्यकता है । सच्चा जिज्ञासु इसके लिये आकाश-पाताल छान डालता है और परिणामस्वरूप उसकी साहस-युत साधना सफल होती है ? वह पा लेता है । ढूंढ खोज पश्चात् जिज्ञासा कौतूहल उत्सुकता आदि की उच्च स्थिति गुरु की प्राप्ति की पहली और अन्तिम सीढ़ी है । कबीरजी के शब्दों में 'जिन ढूंढा तिन पाइया गहरे पानी पैठ" । खोज की सत्यता का यही प्रमाण है । जो डूबेगा नहीं गहराइयों में उतरेगा नहीं भला उससे क्या आशा की जा सकती है ? वह तो किनारे पर बैठा जीवन की अनमोल घड़ियाँ मिट्टी में मिलाकर रह जायगा । 'मैं बावरी डूबन डरी रही किनारे बैठ' कबीर के दोहे की इस दूसरी कड़ी को वह चरितार्थ करता रहेगा । गुरु प्राप्ति के लिये 'मैं मेरी' का त्याग तथा अभिमान-रहित निष्काम खोज की आवश्यकता है । ईसा ने न्यू टेस्टामेण्ट में पर्वत पर उपदेश देते हुए सुन्दर शब्दों में इस ओर संकेत किया है 'सच्चे दिल से मांगो मिलेगा' सच्चे भाव से ढूंढो पा जाओगे' सत-पथ पर आचरण करते हुए उसका द्वार खटखटाओ अवश्य खुलेगा ।[1]

तीसरा प्रश्न है गुरु मिलेगा किसे ? गुरु नानक राग आसा में एक ही पंक्ति में प्रश्न का निर्णय देते हुए कहते हैं "पूरब होवै लिखिआ तां सतिगुरु पावै" । मोक्ष प्रदाता गुरु को वही प्राप्त कर सकता है जिसके प्रारब्ध उच्च कोटि के हों और जो संसार में 'तरवृक्ष-गण की बानि' बनकर जीवन के परम लक्ष्य की पड़ताल करता हो । मालिक की परम-कृपा ही जिज्ञासु को गुरु से मिलाती है । तभी तो नानक ईश्वर से

1 Ask and it shall be given you seek and ye shall find knock and it shall be opened into you. (Sermon on the mount)

प्रार्थना करते हैं हे ईश्वर ऐसा गुरु मिलाओ जो महाज्ञानी अजर-अमर, धैर्यशील कोटि-तरन-तारन हो[1] तब कहीं आवागमन के चक्र से मुक्ति हो।[2]

गुरु कौन ?

सतिपुरखु जिनि जानिआ सतिगुरु तिस का नाउ। (सुखमनी)

गुरु अर्जुनदेव की इस स्पष्टतम परिभाषा से बाहर गुरु की कोई अन्य पहचान खोजना वास्तविकता को जानकर भी भुलाने का प्रयत्न होगा। आवश्यकता है यहाँ गुरु के अन्य गुण देखे जावें जिनसे 'सतिपुरख को जानने' वाली बात का समाधान हो सके। इहलोक से ऊपर पराभौतिक स्थिति भी महात्माओं की दृष्टि में अनुभव की वस्तु रही है। वे साक्षात्कार में विश्वास रखते हैं। इसलिये उन्होंने जो कुछ लिखा या उपदेश दिये वे सब उनके निजी अनुभवों की निधियों के रूप थे। ऐसे अनुभवी जन शारीरिक-चेतना से ऊपर उठकर 'ज्योति-पुत्र' (Children of Light) बन परमात्मा में लीन हो जाते हैं। वे उसके मिलन का मार्ग पहचानकर तथा उसकी शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। अन्धकार या आवरण हट जाता है वास्तविकता समक्ष उठती है और वे ज्ञान एवं प्रकाश के पुंज बन जाते हैं। वे दूसरों को सन्मार्ग पर लगाने ईश्वर मिलन का पथ-दर्शन और भौतिक दुःख विषादों से पीड़ित मानवता को सुख शान्ति प्रदान करने का बीड़ा उठाते हैं। उनका सम्बन्ध किसी वर्ग या जाति सम्प्रदाय या दल देश या समाज की सीमाओं से नहीं होता। वे इन परिधियों से ऊँचे सर्व शान्तिदाता पथप्रदर्शक-ज्योति सत्यव्यवहारी महानात्मा तथा अखण्ड शिवम् का स्वरूप होते हैं। गुरु नानक मतानुसार गुरु जलते हुए विश्व की प्रचण्ड ज्वालाओं से पीड़ित मानवता को हिम वत् शीतलता प्रदायक शक्ति तथा त्रिलोकी की मायावी तिमिरान्धता को ज्योति-किरण के आलोक से विदीर्ण करने वाला वह महाकृपालु अमर साधन है जिसको हृदय में धारण करने मात्र से विषाद और चिन्ता के बादल छट जाते हैं। हर्षोल्लास सुख-दिनकर की किरणें चतुर्दिक प्रकाश फैला देती हैं।[3]

सब कहते कि 'वह' सर्वव्यापक है 'वह' सर्वशक्तिमान स्वयं सुझाने एवं भुलाने वाला है परन्तु सुझाता किसे था 'वह'? इसका कोई उत्तर न था। गुरु नानक-वाणी स्पष्ट ही सुझाव को गुरु-मुख-नाम में उनकी कृपा का परिणाम कह

---

१ आचारा बीचारु सरीरि। आदि जुगादि सहजि मनु धीरि।
पल पंकज महि कोटि उधारे। करि किरपा गुरु मेलि पिआरे॥ धनासरी म० १।

२ आवनु जावनु तउ रहै पाईऐ गुरु पूरा। आसा म० १।

३ गुरु दाता गुरु हिवै घरु, गुरु दीपकु तिह लोइ।
अमर पदारथु नानका मनि मानिऐ सुखु होइ॥ माझ म० १ पृ० १३७।

कर,[1] अज्ञानान्धकार का अन्त कर विवेक-ज्योति द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करवाने वाले मध्यस्थ की स्थिति में गुरु को प्रस्तुत करती है।[2] गुरु नानक की दृष्टि में उस मानसिक-सुख की प्राप्ति का आधार गुरु का उपदेश ही है।[3] अतः गुरु को ऐसी किसी संचित शक्ति का पोषक होना अनिवार्य है कि सम्भव जिस से माँगने वाले को वह 'हरि-नाम' दे सके। सार यह है कि भटके हुए प्राणी को परम-तत्त्व में लीन करने तथा मायान्ध को विवेक-नेत्र प्रदान कर इस काल-जाल की सीमा के बाहर अकाल पुरुष से मिलाने वाली शक्ति का नाम ही गुरु है।

भारतीय विचारधारा जन्म मरण के चक्र तथा पुनर्जन्म की यथार्थता में विश्वास रखती है। सिक्ख-गुरु भी प्रस्तुत सिद्धान्त को यथातथ्य स्वीकार करते हैं। यह व्यापक नियम सब पर लागू है केवल कुछेक मुक्तात्माएँ ही इसका अपवाद हो सकती हैं। उन्हें भी किसी सद्गुरु से ही मुक्ति-साधन की उपलब्धि हुई होगी। अतः गुरु मुक्ति-दायक शक्ति का आधार है। गुरु नानक के मतानुसार वह केवल उन्हीं को मुक्ति-दान "शब्द" देता है जिन पर उसकी विशेष कृपा होती है। जो एक बार उस महनीय अनुभव को पा लेता है वह दूसरे का पथ प्रदर्शन भी कर सकता है तथा स्वयं कमाई (नाम-स्मरण) कर निर्वाण-पद का अधिकारी होता है।[4] सच तो यह है कि तीन-लोक में गुरु के अतिरिक्त और कोई मुक्ति-साधन प्राप्य नहीं। उसी की प्रेरणा और निर्देशन से जीव प्रभु भक्ति पाता और रात-दिन उसी में मग्न रहकर अपनी मानसिक और आध्यात्मिक भूख को शान्त कर सकता है।[5] गुरु स्वयं वह तीर्थ है जिसके चरणों में बैठने मात्र से पाप धुल जाते हैं। वह सन्तोष का भण्डार है। गुरु चिर-निर्मल जल का

---

१ प्रभु आपे आपि वरतदा आपे बखसाइआ
गुर किरपा ते बूझीऐ प्रभु सभ समाइआ। ६ २ गउड़ी म० १ पृ० २२९।

२ गुर परसादि रतन हरि लाभै मिटै अगिआनु होइ उजिआरा।
१ १६, माझ म० १ पृ० १५२।

३ गुर सबदी सहु पाइआ सचु नानक की अरदासि जिउ।
सूही सुचजी म० १ पृ० ७६२।

४ गुरु दाता मुकति कराए। सभि रोग गवाए अम्रित रसु पाए ॥
जिस पाइआ तिन पूछहु भाई। सुख सब कमाई हे ॥ १०
मारू म० १ पृ० १०२६।

५ साचा साहु गुरु सुखदाता हरि मेले भुख गवाए।
करि किरपा हरि भगति द्रिड़ाए अनदिनु हरि गुण गाए ॥
मति भूलहि रे मन चेति हरि।
बिनु गुर मुकति नाही त्रैलोई गुरमुखि पाईऐ नामु हरि।
१ ४ बसन्त हिंडोल पृ० ११७१।

संचार करने वाला स्रोत है जिससे दुर्मति की मैल हरण हो जाती है। वास्तव में यदि सतिगुरु पूर्ण हो तो पशु सरीखे पतित और कुटिल मनुष्य को भी देवत्व पद तक पहुँचाने में समर्थ होगा। उसके हृदय से सदैव प्रवाहित होने वाली सत्यनाम की सुगन्धि विश्व प्रकृति को सुरभित करती रहेगी बस ऐसे महामानव के चरणों में शीश झुकाने से अभिलषित कल्याण की प्राप्ति स्वाभाविक ही है।[1] वह तो दोनों हाथों कृपा लुटाता जाता है वह दाता है उसके दान-कक्ष के द्वार कभी बन्द नहीं होते—बस उसे खोज कर माँगने भर की देर है।

अब सहज में ही प्रश्न उठता है कि वह मुक्ति-दाता जीव-ब्रह्म में एकत्व स्थापित करने वाला एवं संसार के विषय विकारों की लपटों से त्राणार्थ पुकारने वालों का चिर-सहायक गुरु कहाँ का निवासी है? शारीरिक रूप से वह चाहे दुनियादार दीखे वास्तव में वह इस विनाशी जगत का जीव ही नहीं होता। वह तो दुनिया के नरक में तड़पती मानवता का करुण क्रन्दन जो भौतिक रूप लेता है और शरीर से इस नश्वर विश्व का प्राणी बना रह कर भी वह शब्द-रूप में पिण्ड से ऊपर ब्रह्म-लोक का वासी है। स्वयं पारब्रह्म अकाल-पुरुष का प्रतिनिधि है वह। गुरु नानक के शब्दों में—

ऊपरि गगनु गगन परि गोरखु ताका अगमु गुरु पुनि वासी ।

(५ ११ मारू)

स्पष्ट ही इस पिण्ड और ब्रह्माण्ड से ऊपर दसवें द्वार के भी आगे सचखण्ड (सत्लोक) जहाँ स्वयं गोरख (अकालपुरुष) रहता है वहीं का वासी है गुरु।

ऐसी महान् तरण-तारण आत्मा जब सशरीर साक्षात्कृत हो सके तो हमारे पहले प्रश्न 'गुरु कौन ?" का उत्तर आपका हृदय देगा चौथी पातशाही गुरु रामदास का कथन है कि—

जिसु मिलीऐ मन होइ अनंदु सो सतिगुरु कहीऐ ।
मन की दुबिधा बिनसि जाहि हरि परमपदु लहीऐ ॥

सच्चे का तो दर्शन मात्र ही मन की व्याधाओं को शान्त कर देता है। यही परीक्षण है। उसकी शरण गहो। वह समर्थ और दयालु है। दया की भिक्षा माँगो उससे लेकिन साथ ही गुरु नानक चेतावनी देते हुए कहते हैं कि उनके कौतुक और

---

[1] गुर समानि तीरथु नही कोइ । सरु संतोखु तासु गुरु होइ ॥
गुरु दरिआउ सदा जलु निरमलु मिलिआ दुरमति मैलु हरै ।
सतिगुरि पाइऐ पूरा नावणु पसू परेतहु देव करै ॥
रता सचि नामि तलहीअलु सो गुरु परमलु कहीऐ ।
जाकी वासु बनासपति सउरै तासु चरण लिव रहीऐ ॥

१ ६ प्रभाती म० १ पृ० १३२९।

चमत्कार देख कर विमुख नहीं हो जाता वह स्वयं मिलाता है और तुम्हें मिलाता व मिलाने आया है।[1]

कितना ऊँचा पद है गुरु का। क्यों न हो, युगों से पीड़ित मानवता जो संसार में विषय-विकारों पंचेन्द्रियों भौग विलासों तथा धन-दारा-हौमैं-ममता के जाल में बुरी तरह उलझी पड़ी थी उस मार्ग दिखाने वाला, माया के तिमिरावरण में स्वविस्मृत मनुष्य को विवेक-ज्योति के चक्षु देने वाला, बिछुड़े-रूठे साजन (प्रभु) से मनुष्यता-पत्नी का पुनर्सम्बन्ध कराने वाला, तथा कर्म-काण्ड में भटके हुए व्यक्ति को प्रकाश और अँधेरे का अन्तर समझाने वाला गुरु क्या साक्षात् प्रभु से कुछ कम होगा? गुरु नानक तो डंके की चोट से कहते हैं कि जो महानात्मा सांसारिक बन्धनों मायावी चित्र-वर्णों लौकिक उपलब्धि-अनुपलब्धि और भौतिक अन्धकार तथा अलौकिक निमग्नता के तत्त्वों पर विचार कर, इनके समाधान जुटा सके, वही सच्चा गुरु होने के योग्य है। नानक की मान्यता है कि जो विश्व के मुक्ति-रूपी रास्तों को पहचाने माया के बन्धनों को काट सके, गुरु-विमुखता के कारण खोये विवेक को भी नाम-दीप से पुनर्संदीप्त कर सके और अज्ञानान्धकार का हरण करने में समर्थ हो, बस अपना आप मिटाकर उसी में समा जाओ वही सच्चा गुरु होगा।[2] गुरु अंगददेव जी का कथन है कि दुनिया में माया ने इतना गाढ़ा पर्दा डाल रखा है कि प्रकाश के बड़े-बड़े पुंज सैकड़ों हजारों चन्द्र-सूर्य भी क्यों न उदित हो जायें, गुरु-ज्ञान की रोशनी के बगैर माया की कालिमा धुलना असम्भव है—

> जे सउ चन्दा उगवहि सूरज चड़हि हजार
> एते चानण होंदिआं गुर बिन घोर अंधार।
>
> (आसा की वार)

गुरु गुण-गान करते हुए तथा जिज्ञासु की उत्सुकता के शान्ति-सामान गुरु नानकदेव कहते हैं, सच्चा गुरु तुम्हें गृहस्थ समाज एवं संसार से पृथक होने का उपदेश नहीं देता। ऐसा करने की आवश्यकता भी है? मानव-शरीर स्वयं खण्डों ब्रह्माण्डों तथा आकाशी मण्डलों का समुदाय है। उन्हीं में से सर्वोच्च (पंचम खण्ड

---

१ सरणि परे गुरदेव तुमारी। तू समरथ दइआलु मुरारी॥
तेरे चोज न जाणै कोई तू पूरा पुरखु बिधाता है।
(१ ११ मारू म० १, पृ० १०३१

२ किउ करि बाधा सरपनि खाधा किउ करि खोइआ किउ करि लाधा।
किउ करि निरमलु किउ करि अंधिआरा इहु ततु बीचारै सु गुरु हमारा॥
दुरमति बाधा सरपनि खाधा। मनमुखि खोइआ गुरमुखि लाधा॥
सतिगुरु मिलै अंधेरा जाइ। नानक हउमै मेटि समाइ॥
श्लोक १४ १५, रामकली सिध म० १ पृ० ९३९

में अकाल-पुरुष निवसित है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों तर्क-शक्तियों एवं गर्हित लिप्साओं में बँधा मनुष्य बहिर्मुखी हो गया है। वह बाहरी स्वरूपों में उस अकाल सूक्ष्म को ढूँढता फिरता है। पत्थर-काष्ठ में फँसा मन्दिर में घण्टी बजाने तथा चार-एक सांकेतिक श्लोक उच्चरित करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ रहा है। वह बाहर दीप जलाता है अन्दर के जलते हुए दीप से प्रकाश प्राप्त करने का विचार ही उसके मस्तिष्क में नहीं आता। अनेक राग रागिनियों से वह कर्ण-रस पीता है। अन्तस्तल में निरन्तर बजने वाली ध्वनि को भूला पड़ा है—बस यही बन्धन उसके और परम-तत्त्व के बीच का पर्दा बन गए हैं। सतिगुरु भूले-भटके ऐसे मनुष्य को विवेक-नेत्र प्रदान करते हुए बाह्य जगत से उसकी चेतना का प्रवाह उलट कर उसे अन्तर्मुखी बना देते हैं। गुरु की सिद्धि और सामर्थ्य ही 'घर में घर' दिखाने में है। यहाँ गुरु कौन ? का अन्तिम और निर्णयात्मक उत्तर मिल जाता है कि जो साक्षात् अनुभव करवा दे वह गुरु।[1] स्पष्ट ही यहाँ आध्यात्मिक-पराकाष्ठा की आवश्यकता है। किसी भी कर्मचारी गद्दीनशीन या तथाकथित सन्त या महन्त को गुरु कहना वास्तव में गुरु शब्द का अपमान है। सतिगुरु करनी देता है कथनी नहीं अभ्यास और अनुभव देता है कोरी बातें नहीं। अतः सिद्ध है कि ऊपरी व्याख्या के मानदण्ड पर जो पूर्ण उतरे, वह गुरु।

गुरु का महत्त्व प्रभु मिलन

भारतीय विचार-धारा कर्मानुसार जीवन-मरण अथवा आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। शास्त्रों में क्रमशः ८४ लाख योनियों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है और देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म की प्राप्ति बहुत ऊँचे सत्कर्मों का प्रतीक कही गई है। सृष्टि के विकास क्रम में उत्तरोत्तर उन्नति का उपासक मानव जीवों में इसलिये बड़ा है कि उसके पास सूझ है हृदय और मस्तिष्क है मूल्यांकन करने और वास्तविकता का खोज निकालने की शक्ति है। इसी शक्ति के आधार पर वह जनन जीवन-मरण के बारे में सोचता है और गन्तव्य की खोज में जीवन रहस्यों की पड़ताल करता हुआ परमात्मा में लीन हो जाने के पक्ष में निर्णय देता है। मनुष्य-जन्म की सार्थकता ही इसमें है कि आवागमन के चक्र से छुटकारा पा लिया जाय अकाल-पुरुष की गोद में स्थान प्राप्त कर सांसारिक भोगों सुखों आकर्षणों-विकर्षणों से मुक्ति पाई जाये और माया के अन्धकार को विदीर्ण कर विवेक-दीपक से अपना वास्तविक घर खोज लिया जाये। भवसागर में गोते खाने की अपेक्षा प्रभु नाम का स्मरण कर अलौकिक सुखों और आनन्द को प्राप्त किया जाये तथा जीवित रहते हुए अपने गर्हित

---

१ श्लोक १ मलार की वार, म० १ पृ० १२६१।

प्रारब्धों का हिसाब साफ कर नए सिरे से सद्विचारी सम्यग्व्यवहारी एवं परकल्याण कारी जीवन बिताया जाये। ये ही वास्तव में मनुष्य-जीवन के लक्ष्य हैं। इनकी ओर प्रवृत्त होना तथा प्राप्ति के सफल साधन जुटाना ही मानव को ईश्वरत्व की कोटि तक पहुँचाता है। परन्तु परन्तु ?

परन्तु यह सब हो तो कैसे ? संसार में जन्म लेते ही मनुष्य मायावी मारक धन्धे में ऐसा फँस जाता है कि आध्यात्मिक-ज्ञान का दीपक अन्तस्तम की किन्हीं गहराइयों में प्रदीप्त रहने की अथक चेष्टाएँ करता हुआ भी अविवेक की भयंकर तिमिराच्छादित स्थिति में प्रकाश फैलाने में असमर्थ रहता है। आवश्यकता है स्नेह बाती विहीन इस टिमटिमाते दीपक को प्रज्वलित करने की ताकि उससे अन्धकार विध्वंसन की शक्ति पैदा हो सके। दीप से दीप जलने का सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है अतः यहाँ भी ज्ञान-दीप को उसी की सहायता से प्रकाशित किया जा सकता है जिसके अपने पास पहले से ही प्रकाश-पुंज सा प्रदीप्त-दीपक विद्यमान हो। गुरु ही वह साधन है जो उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में मनुष्य की खोज को सम्भव बना सकता है। जिस प्रकार बिना अग्नि उत्पन्न किये दीप नहीं जलते ताप नहीं मिलता वैसे ही गुरु के बिना ज्ञान भी नहीं होता मुक्ति और प्रभु-मिलन तो दूर की बातें हैं। स्पष्ट है यदि मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्यों को पाना और जन्म-मरण के चक्र की कड़ियों को काट देना चाहता है तो पहले उसे गुणी विज्ञ सच्चे गुरु की खोज करनी चाहिये—

बिनु सतिगुर किनै न पाइओ बिनु सतिगुर किनै न पाइआ ।
सतिगुर विचि आपु रखिओनु करि परगटु आखि सुणाइआ ॥
सतिगुर मिलिऐ सदा मुकतु है जिनि विचहु मोहु चुकाइआ ।
उतमु एहु बीचारु है जिनि सचे सिउ चितु लाइआ ॥
जगजीवनु दाता पाइआ । ६ ।

(सलोक आसा म० १) वार आसा ६ पृ० ४६६ ।

निश्चय ही गुरु वह शक्ति है जिसकी अनुपस्थिति में मनुष्य सब कुछ होता हुआ भी शून्य है। वह कस्तूरी-मृग की तरह अपने ही भीतर से उठने वाली सुगन्धि को जंगलों पहाड़ों तीर्थों और अनुष्ठानों में खोजता फिरता है—उसे कोई समझावे कि उसका गंतव्य उसी के भीतर है तो कितनी अलौकिक शान्ति मिलेगी उसे ? मनुष्य के अन्दर साक्षात् ब्रह्म विद्यमान है उसकी सुगन्धि अर्थात् माया या प्रकृति चारों दिशाओं में फैली हुई है। मनुष्य बाह्य माया से चकित हो उसी में जिज्ञासा की खोज भी करने लगता है। परन्तु वहाँ कुछ हो तो मिले ? भीतर का दर्शन अन्तर्मुखी हुए बिना असम्भव है और मनुष्य बिना सतिगुरु के अन्तर्मुखी बने तो क्यों कर ? "सो बूझै जो सतिगुरु पाए (गउड़ी असटपदी म० १।) वास्तव में प्रभु का निवास स्थान मानव-शरीर रूपी स्वर्ण-मन्दिर है जिसके गुण भी द्वारों से ऊपर दसवें से परे

में अकाल-पुरुष निवसित है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों, तर्क-शक्तियों एवं मलिन लिप्साओं में बँधा मनुष्य बहिर्मुखी हो गया है। वह बाहरी स्वरूपों में उस अकाल रहस्य को ढूँढ़ता फिरता है। कर्म-काण्ड में फँसा मन्दिर में घण्टी बजाने तथा चार-एक सांकेतिक श्लोक उच्चरित करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ रहा है। वह बाहर दीप जलाता है, अन्दर के जलते हुए दीप से प्रकाश प्राप्त करने का विचार ही उसके मस्तिष्क में नहीं आता। अनेक राग रागिनियों से वह कर्ण-रस पीता है। अन्तस्तल में निरन्तर बजने वाली ध्वनि को भूला पड़ा है—बस यही अन्तर उसके और परम-तत्त्व के बीच का पर्दा बने हुए हैं। सतिगुरु भूले-भटके ऐसे मनुष्य को विवेक-नेत्र प्रदान करते हुए बाह्य जगत से उसकी चेतना का प्रवाह उलट कर उसे अन्तर्मुखी बना देते हैं। गुरु की सिद्धि और सामर्थ्य ही 'घर में घर' दिखाने में है। यहाँ गुरु कौन? का अन्तिम और निर्णयात्मक उत्तर मिल जाता है कि जो साक्षात् अनुभव करता है वह गुरु।[1] स्पष्ट ही यहाँ आध्यात्मिक-पराकाष्ठा की आवश्यकता है। किसी भी वेशधारी, गद्दीनशीन या तथाकथित सन्त या महन्त को गुरु कहना वास्तव में गुरु शब्द का अपमान है। सतिगुरु करनी देता है, कथनी नहीं; अभ्यास और अनुभव देता है, कोरी बातें नहीं। अतः सिद्ध है कि ऊपरी व्याख्या के मानदण्ड पर जो पूर्ण उतरे, वह गुरु।

गुरु का महत्त्व : प्रभु मिलन

भारतीय विचार-धारा कर्मानुसार जीवन-मरण अथवा आवागमन के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। शास्त्रों में समस्त ८४ लाख योनियों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है और देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म की प्राप्ति बहुत ऊँचे सत्कर्मों का प्रतीक कही गई है। सृष्टि के विकास क्रम में उत्तरोत्तर उन्नति का उपासक मानव जीवों में इसलिये बड़ा है कि उसके पास बुद्धि है, हृदय और मस्तिष्क है, मूल्यांकन करने और वास्तविकता को खोज निकालने की शक्ति है। इसी शक्ति के आधार पर वह जनन जीवन-मरण के बारे में सोचता है और सत्य की खोज में जीवन रहस्यों की पड़ताल करता हुआ परमात्मा में लीन हो जाने के पक्ष में निर्णय देता है। मनुष्य-जन्म की सार्थकता ही इसमें है कि आवागमन के चक्र से छुटकारा पा लिया जाय, अकाल-पुरुष की गोद में स्थान प्राप्त कर सांसारिक भोगों, सुखों, आकर्षणों-विकर्षणों से मुक्ति पाई जाये और माया के अन्धकार को विलीन कर विवेक-दीपक से अपना वास्तविक मार्ग खोज लिया जाये। भवसागर में गोते खाने की अपेक्षा प्रभु नाम का स्मरण कर अलौकिक सुखों और आनन्द को प्राप्त किया जाय तथा जीवित रहते हुए अपने मलिन

१ श्लोक १ मलार की वार, म० १ पृ० १२९१।

प्रारब्धों का हिसाब साफ कर, सब सिरे से सद्विचारी सद्व्यवहारी एवं परकल्याणकारी जीवन बिताया जाये। ये ही वास्तव में मनुष्य जीवन के लक्ष्य हैं। इनकी ओर प्रवृत्त होना तथा प्राप्ति के सफल साधन जुटाना ही मानव को ईश्वरत्व की प्राप्ति तक पहुँचाता है। परन्तु ... परन्तु ...

परन्तु यह सब हो तो कैसे? संसार में जन्म लेते ही मनुष्य मायावी वातावरण में ऐसा फँस जाता है कि आध्यात्मिक ज्ञान का दीपक अन्तस्तल की किन्हीं गहराइयों में प्रदीप्त रहने पर अथवा [illegible] करता हुआ भी अविवेक की भयंकर तिमिराच्छादित स्थिति में प्रकाश फैलाने में असमर्थ रहता है। आवश्यकता है स्नेह बाती विहीन इस टिमटिमाते दीपक को प्रज्वलित करने की ताकि उससे अन्धकार विध्वंसन की शक्ति पैदा हो सके। दीप से दीप जलने का सिद्धान्त बड़ा प्रसिद्ध है अतः यहाँ भी ज्ञान-दीप को उसी की सहायता से प्रकाशित किया जा सकता है जिसके अपने पास पहले से ही प्रकाश-युक्त या प्रदीप्त-दीपक विद्यमान हो। गुरु ही वह साधन है जो उपर्युक्त सभी अर्थों में मनुष्य की खोज को सम्भव बना सकता है। जिस प्रकार बिना अग्नि उत्पन्न किये दीप नहीं जलते, ताप नहीं मिलता, वैसे ही गुरु के बिना ज्ञान भी नहीं होता। मुक्ति और प्रभु-मिलन तो दूर की बातें हैं। स्पष्ट ही यदि मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्यों को पाना और जन्म-मरण के चक्र की कड़ियों को काट देना चाहता है तो पहले उसे गुरुकी किसी सच्चे गुरु की खोज करनी चाहिए—

बिनु सतिगुर किनै न पाइओ बिनु सतिगुर किनै न पाइआ ।
सतिगुर विचि आपु रखिओनु करि परगटु आखि सुणाइआ ॥
सतिगुर मिलिऐ सदा मुकतु है जिनि विचहु मोहु चुकाइआ ।
उतमु एहु बीचारु है जिनि सचे सिउ चितु लाइआ ॥
जगजीवनु दाता पाइआ ॥ ६ ॥

(श्लोक आसा म० १) वार आसा ६, पृ० ४६६ ।

निश्चय ही गुरु वह शक्ति है जिसकी अनुकम्पा से मनुष्य भ्रम-कूप में डूबा हुआ भी मुक्त है। वह कस्तूरी-मृग की तरह अपने ही भीतर से उठने वाली सुगन्धि को जंगलों, पहाड़ों, तीर्थों और अनुष्ठानों में तलाश किया करता है—इस बात से अनभिज्ञ कि उसका मंतव्य उसी के भीतर है तो कितनी अलौकिक शान्ति मिलती उसे? मनुष्य के अन्दर साक्षात् प्रभु विद्यमान है, उसकी सुगन्धि अर्थात् माया या प्रकृति चारों दिशाओं में फैली हुई है। मनुष्य बाहर माया से आकर्षित हो उसी में निर्मलता का भास भी करने लगता है। परन्तु क्या सुख हो या मिले? भीतर का दर्शन अन्तर्मुखी हुए बिना असम्भव है और मनुष्य बिना सतिगुरु के अन्तर्मुखी बने तो कैसे? 'सो बूझ को सतिगुरु पाए' (गउड़ी असटपदी म० १।) वास्तव में प्रभु का निवास स्थान मानव शरीर रूपी स्वर्ण-मन्दिर है, जिसके नव भी द्वारों से ऊपर दसवें से परे

वह स्वयं विराजमान है। लेकिन गुरु-रूपी सोपान के बिना उस गढ़ तक पहुँच पाना असम्भव प्राय है। गुरु हरि-मन्दिर के शिखर तक पहुँचने की सीढ़ी है, वह सत्यासत्य का मानदण्ड है, संसार-सागर से पार लगाने का जल-पोत है और वह है महानतम तीर्थ जिसके दर्शन मात्र से अठसठ तीर्थों का पुण्य प्राप्य है।[1] गुरु नानक ऐसे महा पुरुष पर जो प्रभु का नाम सिखाता और उससे मिलाता है लाख बार बलिहार जाते हैं।[2]

सतिगुरु का हुक्म मानने वाला, उसके आदर्शों पर आचरण करने वाला ईश्वर का केवल साक्षात्कार ही नहीं करता, उसी में लीन हो जाता है। गुरु शब्दों की सहायता से उसके लिये काल का भय भी नष्ट हो जाता है।[3] गुरु-भक्त ईश्वर मिलन की विधि को पहचानता और भगवदिच्छा का महत्त्व समझता है। वह गुरु के आदेशों और आज्ञाओं के सामने सब प्रकार के विचारों को हेय मानता है।[4] उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि—

'दिल के आइने में है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाली देखली।'

माया से रहित (निरंजन) ब्रह्म बाहरी आँखों के लिए अदृश्य शक्ति है। वह अलख है, उसे लखा नहीं जा सकता, केवल आभास पाया जाता है। हाँ यदि गुरु-कृपा हो जाये तो अलख भी लखा जाता है। ब्रह्म का स्वरूप अदृश्य होते हुए भी स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।[5] गुरु का आश्रय पाकर जीव अहं का त्याग करता

---

१ प्रभु हरिमन्दिर सोहणा तिसु महि माणक लाल।
मोती हीरा निरमला कंचन कोट रीसाल।
बिनु पउड़ी गड़ि किउ चड़उ गुर हरिधिआन निहाल।
गुरु पउड़ी बेड़ी गुरु गुरु तुलहा हरि नाउ।
गुरु सरि सागरु बोहिथो गुरु तीरथु दरिआउ। राग सिरी म० १ पृ० १७।
२ हरि जिन्हा कथा कहाणीआ गुरु मीति सुणाईआ।
बलिहारी गुरु आपणे गुरु कउ बलि जाईआ। १ २ सिरंग म० १ पृ ७२५।
३ सतिगुरु मिलै त तिस कउ जापे। रहै रजाई हुकमु पछाणै।
हुकमु पछाणि सचै दरि वासु। काल बिकाल सबदि भए नासु।
७ २ बिलावल म० १ पृ० ८१२।
४ जिसु गुरु मिलै सोई बिधि जाण। गुरमति होइ त हुकमु पछाण।
× × ×
सभसै ऊपरि गुर सबदि बीचारु। होर कथनी बदउ न सगली छारु।
२ ४ रामकली पृ० ६०४।
५ कुदरति देखि रहे मनु मानिआ। गुर सबदि सभु ब्रह्म पछानिआ।
नानक आतमरामु सबाइआ। गुर सतिगुर अलखु लखाइआ।
१५ ५ २२ मारू पृ० १०४१।

भ्रम, भय तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और सोऽहं की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त कर त्रिभुवन में सर्वव्याप्त ईश्वरत्व की समीपता का लाभ उठाता है।[1] अलख प्रभु के मिलने के उपरान्त किसी दूसरी शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। जिसपर गुरु की कृपा होती है या जिसके प्रारब्ध में हरि-मिलन बदा होता है उसे सतिगुरु मिलता है और गुरु के माध्यम से ही उस रंगीले ईश्वर का मिलन सम्भव है जिसका शासन हमें उत्थान की ओर बढ़ाता है।[2] निश्चय ही जिस गुरु की सहायता प्रभु ऐश्वर्य अनिवार्य है उसकी अनुपस्थिति या उसका विरोध तथा गुरुमुखी भावना की अपेक्षा मनमुखी भावना जीवन सरिता में माया जीव की मलिनता का मिश्रण कर जीव को निर्मल मज्जन से वंचित कर देती है। गुरु-विहीन प्राणी भव-पारावार के विकट थपेड़ों में विक्षिप्त पड़ काल के गाल की ओर त्वरित गति से बढ़ता है। गुरु-शिष्य काल-चक्र में नहीं पड़ता वह तो ईश्वर प्रेम में मग्न अलौकिक आनन्द लाभ करता हुआ प्रभु ज्योति की लौ में अपनत्व भुला देता है। गुरु-ज्ञान के बिना जीवन का मूल्य धूली भी नहीं[3] क्योंकि गुरु से ही तो नाम (ईश्वरीय पथ पर अग्रसर होने का नाप-दण्ड) की उपलब्धि सम्भव है और वही ईश्वर-मिलन का साधन है।[4] इसीलिए तो गुरु नानक ने स्पष्ट कहा 'नानक गुर बिन नाही पति पति बिनु पार न पाई।' (माझ पृ० १५८।) अतः ऐ जीव गुरु के बिना तुझे राम-नाम की सरसता तथा ब्रह्म रस का आस्वादन नहीं मिल सकता। तू संतों के ढिग जा उनके दर्शन-मात्र से ही तुम्हें अठसठ तीर्थों की यात्रा का फल उपलब्ध होगा।[5] तात्पर्य यह है कि जब

---

१ जासु मइआ प्रभु भउ गइआ जनम मरण दुख जाहि।
गुरमत अलख लखाइए उतम मति तराहि।
नानक सोहं हंसाजपु जापहु त्रिभवण तिसै समाहि।
सलोक १ माझ म० १ पृ० १०९३।

२ मेरे लाल रंगीले हम लालन के लाले।
गुरि अलख लखाइआ अवरु न दूजा भाले।
गुरि अलख लखाइआ जा तिसु भाइआ जा प्रभि किरपाधारी।
१ ४, तुखारी पृ० १११२।

३ जासु गुरु गुबारु है बिनु सबदै बूझ न पाइ।
गुरमति परगासु होइ सचि रहै लिव लाइ।
तिथै कालु न संचरै जोती जोति समाइ।
गुर सबदि सालाहिए अंत न पारावारु।
तिथै कालु न उपजै जिथै गुरु का सबदु अपारु। ७ ४ सिरी म० १ पृ० ५५।

४ बिनु सतिगुर नाउ न पाइऐ, बिनु नावै किआ सुआउ। सिरी म० १ पृ० ५८।

५ मन रे राम नामु जपु भाई। बिनु गुर इहु रसु किनै न पाइआ गुर मेलिहि सई।
संत जना मिलु संगति गुरमुखि तीरथु होइ।
अठसठि तीरथ मजना गुरदरसि परापति होइ। सोरठ पृ० ५६७।

तक सतिगुरु की शरण नहीं ली जाती तब तक प्रभु-मिलन की बात कोरी कल्पना या प्रवंचना ही बनी रहेगी।

मोक्ष प्राप्ति

गुर बिनु मोख मुकति किउ पाईऐ। बिन गुर राम नाम किउ धिआईऐ।
(१ २ मारू।)

ऊपर 'गुरु के महत्त्व' में प्रभु मिलन की स्थिति दिखाई गई है। इसमें आत्मा जब अपना पृथक अस्तित्व खो देती है और ईश्वर में ही लीन हो जाती है अर्थात् अंश आगार में समा जाता है (ज्योति-जोत समाना) तो मनुष्य को संसार में पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता। तत्त्व-सत्य को पाकर वह आत्मा शांति-पूर्वक 'जो तू है सो मैं हूँ' की दशा में पड़ी रहती है। वास्तव में उसे भविष्य में और कुछ नहीं चाहिये होता क्योंकि वह तो ब्रह्म में लीन हो गई होती है। अब उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। यही मोक्ष है।

गुरु ज्ञान-ज्योति जगाता है

गुरु मार्ग प्रदर्शक ज्योति है जिसके बिना अविवेक के अन्धकार में पथ की खोज करना लगभग असम्भव है। अन्धेरे कूप में ठोकर खाकर शक्ति का व्यर्थ क्षय करने की अपेक्षा यदि मनुष्य वही शक्ति गुरु ज्योति की खोज में व्यय करे तो जीवन का स्वरूप नवोदित दिनकर की हर्षोल्लासमयी लालिमा जैसा अलौकिक आनन्द का भाग कर सकता है। गुरु नानक पचासिरी-राग में उलझे हुए प्राणी को उपदेश देते हैं 'मुक्ति का मार्ग गायन गुरु है उसकी खोज करो। उसके बिना तुम विषम विकारों में पड़े जन्म-मरण और यमों के दण्ड से पीड़ित होते हो। तुम दूसरों की चुगली निन्दा में फँसे हो इस बन्धन से मुक्ति नहीं भयंकर कष्ट है—क्योंकि इसमें कर्मों का बन्ध होता है जिसका हिसाब चुकाने बार-बार आना पड़ता है। ए प्राणी तुम जरा सच्चाई का आश्रय लो गुरु द्वारा दिये ज्ञान चक्षुओं से देखो प्रभु दूर नहीं तुम्हारे ही अन्दर है और प्रतीक्षा कर रहा है कि कब उसका भूला हुआ जीव लौटकर घर आये। गुरु के वाक्यों पर चलो उन पर विश्वास लाओ श्रद्धापूर्वक नाम जपो बस भवबन्धन से मुक्ति मिलने के मार्ग में कोई बाधा रह ही नहीं सकती।'[1] गुरु वह ज्योति है जो दिशा को सूझ देता है पहचान देता और जिज्ञासी के अन्तर्मन में ज्ञान का उजाला फैलाता है।

---

१ गुरि बिनु उरझि मरहि बेकारा जमु सिरी मारे करे खुआरा।
बाधे मुकति नाहि नर निंदक डूबहि निंद पराई हे।
बोलहु साचु पछाणहु अंदरि। दूरि नाही देखहु करि नदरि।
बिघनु नाही गुरमुखि तरु तारी इउ भवजलु पारि संघाई हे।
११ १२, सलोक मारू पृ १०२६।

जिस प्रकार जल को बाँधना हो तो घड़े की आवश्यकता पड़ती है, घड़े के बिना पानी नहीं बँधता। वैसे ही ज्ञान ही मन को बाँधने अर्थात् संयमित करने का मात्र साधन है और उसका स्रोत है गुरु।[1] गुरु कृपा से जिसे ज्ञान मिले वही मन की चंचलता पर विजय पा सकता है और यह विजय विश्व-विजय होगी। (मन जीते जग जीत)। ईश्वर सब के अन्दर है सबके हृदय में निवास करता है। परन्तु उसे देखने के लिये ज्ञान-नेत्रों की आवश्यकता है। इसकी उपलब्धि गुरु के बिना किसी और द्वारा सम्भव नहीं। वह मनुष्य भाग्यशाली है, जिस पर गुरु-कृपा हुई है और जिसने ज्ञान-धारा संजोने के लिये अपने हृदय रूपी मलिन घट को गुरु-चरणों में बैठ उपदेशामृत की स्रोतस्विनी में धोकर निर्मल कर लिया है।[2]

भव-सागर से पार लगाता है

माया का यह विचित्र और विशाल क्रीड़ांगण—संसार—भयानक विध्वंसकारी सागर के समान विलोड़ित हो रहा है। इसमें भय की तरंगें उठती हैं अत्याचार बर्बरता और क्रूरता के थपेड़े लगते हैं स्वार्थ का फेन चारों ओर फैल रहा है बड़ी मछलियाँ छोटी को खा रही हैं अर्थात् बलवान निर्बल का गला दबाते हैं रत्न तो अपवाद हैं अधिकतर घोंघे ही मिलते हैं। बीच-बीच में विषय विकारों के तूफान आते हैं, मानवता रोती है मनुष्य मात्र त्राहि त्राहि पुकार उठता है। सागर का तो कोई वार-पार सम्भव है परन्तु विश्व का तो न कोई आदि है और न अन्त। विषमता और भय का साम्राज्य है पार उतरने के लिए नाव है न पतवार डाँड़ है न केवट चतुर्दिक निराशा छा रही है। ऐसे में 'निर्बल के बल राम' का साक्षात् स्वरूप स्वयं सतिगुरु ही मात्र सहायक है। वह संसार-सागर में गोते खा रहे भोले प्राणियों को नाम-जहाज में आश्रय देता है। करुणाकर-गुरु माया-पीड़ित मनुष्यों को दृष्टि-मात्र से ही पार लगाने की शक्ति रखता है और उन्हें काम-ग्रसित होने से बचा लेता है।[3]

गुरु नानक फरमाते हैं कि सतिगुरु वह जहाज है जो शब्द की शक्ति से माया पीड़ित लोगों को भवसागर से पार लगाता है। उन्हें ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया जाता

---

१ कुम्भे बधा जलु रहै जल बिनु कुम्भ न होइ।
गिआन का बधा मनु रहै गुर बिनु गिआनु न होइ। (श्लोक वारां, पृ० ४६९।)

२ भांडा हछा सोइ जो तिसु भावसी। भांडा अति मलीणु धोता हछा न होइसी।
गुरू दुआरै होइ सोझी पाइसी। एतु दुआरै धोइ हछा होइसी।
(१ ४ ६ तिलंग म० १ पृ० ७२९ ३०।)

३ भवजलु बिखमु डरावणो न कंधी ना पारु।
ना बेड़ी ना तुलहड़ा ना तिसु वंझु मलारु।
सतिगुरु भै का बोहिथा नदरी पारि उतारि। (४ १० सिरी म० १ पृ० ५९।)

है वहाँ विषयों के पवन तृष्णा की अग्नि स्वार्थ के जल और मायावी विश्वासता का कोई प्रवेश नहीं। केवल सच्चा-नाम ही वहाँ की सच्ची निधि है। वही संसार के दुखों का नाश करता है और सन्मार्ग पर चलन का व्रत लेने वाली साधु-आत्मा को अपने में लीन कर लेता है।[१]

इतिहास साक्षी है कि जिसने पाया गुरु के माध्यम से पाया। गुरु के शब्दों में तरन-तारन शक्ति है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि महान्-देवता और अवतार, सृष्टि के परिचालक पोषक और संहारक इन्द्र और ब्रह्मा सरीखी महात्माओं का कल्याण गुरु के ही द्वारा हुआ। उन्होंने भी गुरु से ही शब्द प्राप्त किया। गुरु की ही कृपा से तपस्वियों और योगियों को प्रभु-दर्शन हुआ। गुरु नानक गुरु को 'अलख अभेवा' अर्थात् उस अदृश्य शक्ति (परमसत्ता) से अभेद रखने वाला मानते हैं। उसकी सेवा मात्र से त्रिलोक के रहस्यों का ज्ञान हो जाता है। जब वह किसी पर कृपा करता और नाम-दान देता है तो दूसरों को भी 'अलख अभेवा' बना देता है। सचमुच जिन्होंने गुरु की आज्ञा पालन करते हुए अपने मन पर संयम की लगाम डाल दी है इस भव-सागर से उसका निस्तार अवश्यम्भावी है।[२]

नाम का दाता

सभु जगु काजल कोठड़ी तन मन देह सुआहि ।
गुरि राखे से निरमले सबदि निवारी भाहि ॥
७ १६, सिरी म १ पृ १४।

मनुष्य की तृष्णाग्नि का निवारण केवल एक ही प्रकार से सम्भव है नाम जाप से। प्रश्न उठता है नाम कहाँ से प्राप्त हो ? गुरु से—सीधा और सरल उत्तर है। सच्चे गुरु को ढूँढो उसके चरणों की धूलि बन जाओ वह कृपा कर नाम बख्शे और

---

१ सतिगुरु है बोहिथा सबदि लंघावणहारु ।
तिथै पवणु न पावको न जलु न आकारु ।
तिथै सचा सचि नाइ भवजल तारणहारु ।
२ २ माझ असटपदी म० १ पृ० १००९ ।

२ गुर के सबदि तरे मुनि केते इन्द्रादिक ब्रह्मादि तरे ।
सनक सनंदन तपसीजन केते गुरपरसादी पारि परे ।
गुरु देवा गुरु अलख-अभेवा त्रिभवण सोझी गुरु की सेवा ।
आपे दाति करी गुरि दातै पाइआ अलख अभेवा ।
गुर तै मनु मारिआ सबदु वीचारिआ ते विरले संसारा ।
नानक साहिबु भरिपुरि लीणा साचि सबदि निसतारा ।
४ १ २ भैरउ म १ पृ० ११२५ ।

जीव उसमें विश्वास लाए, तो स्वयं मानव के सांसारिक बन्धन ढीले पड़ते जाएँगे और आध्यात्मिक स्थिरता का विकास होगा। शब्द की गूंज से मधुरता अंकित होगी और वही पीड़ित प्राणी का वरदान बन जाएगी। परन्तु सतिगुरु के बिना नाम और नाम के बिना भ्रम का अन्त असम्भव है। परम-सत्य के जानकार किसी महापुरुष का दामन पकड़ और उसके निर्देशित मार्ग पर मुक्त-पथ होकर ही प्राणी माया के बन्धनों और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो सकता है। स्वयं परिचित होने के कारण वह महापुरुष जिज्ञासु सज्जनों को भी उसी परम-सत्य का परिचय दिला सकेगा और जीव परिश्रम कर मन को विकार रहित बना उसी सत्य में समा जाएगा। थोड़े में यही कहना उचित है कि जिसने गुरु पा लिया वह सत्य को ही नहीं पहचान गया अपितु संसार के सब मायावी बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मैक्य के मार्ग पर अग्रसर होने में समर्थ हो गया।[1]

गुरु हरि-नाम का रसपान कराता है

गुरु की वाणी में हरि-नाम की सरसता होती है। उसके श्रवण से कान विचार से हृदय तथा मनन से सर्वस्व पवित्र हो जाता है। गुरु अपने मीठे वचनों से वातावरण में अमृत घोलता है। वहीं सतिसंगति करने वालों को अमरता का प्रतिदान मिलता है। वे प्रभु की निकटता का अनुभव करते हैं और गुरु-शब्दों से विश्वास उत्पन्न कर जीवन की सब तृष्णाओं और दुराशाओं से मुक्ति प्राप्त करते हैं।[2] गुरु की अपार कृपा से ईश्वर भक्ति प्राप्त कर उसका तन-मन शान्त हो जाता है। ऐसा प्रेम-दीवाना प्रेम का नशा पाकर अपने और प्रभु के बीच का अन्तर समाप्त कर देता है।[3]

गुरु सुख और आनन्द का कारण है

संसार में मानव की चिन्ताओं और कष्टों का कारण मुख्यतः उसकी आशाएं

---

१ बिनु सतिगुर नाम न पाइऐ भाई, बिनु नामै भरमु न जाई।
सतिगुर सेवे ता सुख पाए भाई, आवणु जाणु रहाई। २ २।
साचु सहज गुर ते पाईऐ भाई, मनु निरमलु साचि समाई।
गुर सेवे सो बूझै भाई, गुर बिनु मगु न पाई।
४ २ सोरठि अष्टपदी म० १ पृ० ६३८

२ गुर रसना अमृत बोलदी हरिनाम सुहावी।
जिनि सुणि सिखा गुरि मंनिआ तिना भुख सभ जावी।
१८ २ तिलंग म० १ पृ० ७२६।

३ मन तन हेत भगवंतु पाइआ हरि की भगति पिआरी।
१ २ मलार अष्टपदी म० १ पृ० १२७४

तथा अभिलाषाएँ ही हुआ करती हैं। जहाँ कहीं विपरीत परिस्थितियों के कारण मनुष्य की आशा को ठेस लगती है, उसे अपने ऐच्छिक लक्ष्य से निराश होना पड़ता है वहीं उसे दुःख होता है। अपनी कामनाओं के प्रासाद के ढह जाने के कारण वह मचलता है—कभी हताश होता है और कभी पुनर्प्रयत्नार्थ कटिबद्ध। लेकिन ऐसे में मानसिक-शान्ति और स्थायी सुख की प्राप्ति मनुष्य से कोसों दूर भागती है। सुख केवल उसी को उपलब्ध है जो गुरु-चरण गहे। गुरु नानक फरमाते हैं कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् के क्षेत्रों में क्रियाशील रहने वाले व्यक्ति के जीवन में आशा और तृष्णा का संघर्ष सदा रहने के कारण कभी संतुष्टि का आनन्द प्राप्त नहीं होता। मानव की त्रिविध उलझनें (त्रिकुटी—कायिक वाचक और मानसिक पाप) सतिगुरु की अप्राप्ति की दशा में कदापि नहीं सुलझ सकती। उनके सुलझे बिना जीवन में शान्ति और सुख केवल कल्पना की वस्तुएँ हैं। अभिप्राय यह कि गुरु ही वह शक्ति है जो मनुष्य के जीवन-फंद काट कर उसके स्थायी और अलौकिक सुख प्राप्ति में सहायक होती है।[1] अतः जीव के लिये उचित है कि वह अपने अहं-भाव का त्याग कर सतिगुरु के आदेशों का पालन करे। गुरु की आज्ञाओं के अनुसार जीवन-यापन करे। उसके आदेशों पर आचरण करे। दुःख के बीज स्वयमेव नष्ट हो जाएँगे। सुख-रवि का सुनहला प्रकाश चारों ओर फैल जाएगा और गुरु कृपा की उस अमृत नदी में स्नान करने वाला मोक्ष-पद को प्राप्त हो चिर-शान्ति पालेगा।[2]

वास्तव में सांसारिक सुख-दुःख से रहित निर्वाण-पद प्राप्त करने का मात्र साधन गुरु ही है जिसकी प्राप्ति मनुष्य के सत्कर्मों और सौभाग्य पर आधारित है। वह परम-सत्य का अनुभवी महापुरुष होता है और उसकी चिर-सुन्दर वाणी भव सागर की दुःखरूपी तरंगों के थपेड़ों से मनुष्य की रक्षा करने वाली पतवार होती है। गुरु नानक कहते हैं कि संसार में दुःख के प्रतीक भ्रम का नाश केवल गुरु-कृपा और नाम चिन्तन से ही सम्भव है। हरि-नाम की यह विशेषता है कि उसके सम्मुख दुःख नहीं ठहरता कम से कम उसका अनुभव तो नहीं ही होता। पुनः कहते हैं कि ऐ जीव गुरु द्वारा प्रेरित हरि भक्ति के बिना सुख की उपलब्धि कल्पना है। कारण स्पष्ट है मानव में विकसित होता रहने वाला अभिमान दुःख-कण्टक बोया करता है

---

१ त्रिविध करम कमाई अहि आस अंदेसा होइ।
त्रिउ गुर बिनु त्रिकुटी छूटसी सहजि मिलिऐ सुखु होइ।

सिरी म० १ पृ० १८।

२ इउ सुख पुछहु आपने गुर पूछि कार कमाउ।
सबदि सलाहि मन वसैं हउमैं दुखु जलि जाउ।

५ म सिरी म० १ पृ० ३८।

उन्हें उखाड़ना और मार्ग प्रशस्त करना गुरु के सामर्थ्य की ही चीज है।[1] अत: जीवन को सुख शांति में ढालने के लिये किसी अनुभवी पुरुष को लाओ और उसके बताए मार्ग पर हरि भक्ति की ओर अग्रसर होओ—सुख-ही-सुख है।

गुरु मनुष्य में सद्वृत्तियों को पैदा करता है

मनुष्य के क्षेत्र में मानव में सद्वृत्तियों को जागरण देना गुरु की एक और विशेषता है। वह मनुष्य के पशुत्व को फिर से मानवता का जामा पहनाकर नेकी के मार्ग पर चलना सिखाता है। मनुष्य की बर्बर प्रवृत्तियों को नया रूप देता और जीवन में सद्-अस्तित्व का प्रतिपादन करता है। गुरु मानव सुलभ गुणों का कवच है वह अपनी निजी शक्ति से दुष्कर्मों की ओर अग्रसर होने वाले प्राणियों को सदैव 'सु' की प्रेरणा देता रहता है। वह शिष्य के हृदय का मुख्तार बन जाता है और प्रत्येक स्थिति एवं स्थान पर उसकी अन्तरात्मा की आवाज बनकर पुकारता है 'बुराई नहीं करना'। निगुरा (वह दुर्भाग्यशाली जिसे सतिगुरु की खोज न हो या खोजने पर मिला न हो) व्यक्ति केवल गुरु विहीन ही नहीं गुण-हीन भी होता है। वह दुष्कर्मों की ओर अधिक प्रवृत्त रहता है और एक बार गलत मार्ग अपना लेने पर, क्योंकि उसका पथ-प्रदर्शक कोई नहीं होता वह कभी सुमार्ग की ओर चल ही नहीं सकता। ऐसे हीन मनुष्य का हृदय शून्य है आत्मा में गुरु का प्रकाश नहीं माया के अन्धकार में वह तड़पता है लेकिन उसे इस घटाटोप से बचाने और निकालने वाला कोई नहीं। गुरु-विहीन व्यक्ति तो गुरु नानक की दृष्टि में इतना गर्हित है कि उसकी ओर मुख करने मात्र से मुँह झूठा हो जाता है पाप लगता है।[2] कारण स्पष्ट ही उसका निगुरापन नहीं निःगुणियापन है। गुरु नानक का कथन है कि केवल सतिगुरु ही वह साधन है जिसकी प्राप्ति से मनुष्य 'सुमति' बन सकता है। मनुष्य का महानतम शत्रु अविवेक गुरु-ज्योति से नष्ट हो सकता है। विवेक के उदय के साथ ही हउमै (मैं मेरी की भावना) का अन्त होता है और मन दर्पण सरीखा उज्ज्वल हो जाता है। उस निर्मल और स्वच्छ हृदय में जीव साक्षात् भगवान् की प्रतिमा को धारण करता है। यह स्थिति प्राणी को संसार के आकर्षणों और दुष्कर्मों की ओर से सदा के लिये मुक्त करा देती है। वह 'कु' के क्षेत्र से निर्लिप्त हो 'सु' के क्षेत्र में विचरण करने लगता

1 गुर परसादी हरि धन पाइआ ऐसी नाम वडाई।
बिनु हरि भगति नाही सुखु प्रानी बिनु गुर सबद न पाई।
रा. ३, गूजरी म० १ पृ० ५०४।

2 नानक निगुरिआं गुणु नाही कोइ। मुहि फेरिऐ मुहु झूठा होइ।
सारंग की वार, म० १ पृ० १२४०।

है हरि-नाम में लीन हो जाता है और अन्य सबकी उपेक्षा करता हुआ गुरु शब्दों के गुण में बंधा गुणवान कहलाने का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है। यही कुमारगामों पर, मनुष्य की विजय है।[1] अभिप्राय यह कि मनुष्य के अन्तर में सद्गुण संस्कार रूप में सदा विद्यमान रहते हैं उनके उद्भूत करने वाली किसी बाहरी शक्ति की अपेक्षा है। मानव की अन्तरात्मा जो कि 'सु' का अंश होने के कारण उसे सुप्रेरणा देती रहती है मन की मुँहजोरी और चंचलता के कारण दब-सी जाती है। अन्तरात्मा की 'सु' की प्रेरणा को सबल बनाना गुरु का कार्य है। इससे मानवीय गुण सजीव हो उठते हैं मनुष्य भेड़िये की केंचुली को उतार फेंकता है और करुणा क्षमा सहानुभूति प्रेम शान्ति एवं सह-अस्तित्व की बेटी को निज जीवन-रस से सदा सींचता रहता है। यह सब गुरु की बदौलत ।

सतिगुरु की पहचान

गुरु नानक सच्चे गुरु की ओर संकेत करने से पूर्व कुछेक बातों द्वारा जनता को वेशधारी साधुओं और महन्तों के सम्बन्ध में चेतावनी देना आवश्यक समझते हैं। कृत्रिम गुरुओं का ज्ञान-चक्षु स्वयं नहीं खुला होता उनके लिए अन्य किसी को ज्ञान का प्रकाश देना कल्पनातीत होगा। गुरु नानक फरमाते हैं—

गुरु जिन्हाँ का अंधला सिख भी अंधे करम करेनि।
ओह भाणै चलनि आपणै नित झूठो-झूठि बोलेनि।

सच्चे गुरु की खोज निकालने में इसी लोक का स्वार्थ नहीं जीव का पारलौकिक स्वार्थ भी उसमें सन्निहित है। और यदि गुरु के चुनाव में गलती की तो जिसकी आशा की थी वह तो क्या मिलेगा जो पास है वह भी जाता रहेगा। मुक्ति पाने के लिये कच्चा गुरु नहीं सच्चा गुरु चाहिए। 'गुरु' को गुरु स्वीकार करने से पहले ठोक बजाकर देखलो अन्यथा 'काचे गुरु ते मुकति न हुआ' (नानक)। तब मनुष्य की वही दशा हापी जो उस व्यक्ति की हो सकती है जो जल्दी में नदी पार करने के लिए पक्के घड़े की बजाए कच्चा घड़ा लेकर ही पानी की धारा में उतर पड़ा हो। संसार-सागर की तरंगें तो और भी विकट हैं। इसे पार करने के लिये यदि अनजान केवट मिला तो 'गुरु तो डूबे थे सनम तुम को भी ले डूबेंगे'। हमारे यहाँ प्राय कहा जाता है 'नीम हकीम खतराए जान नीम मुल्ला खतराए ईमान' और यदि गुरु की खोज में नीम चुनाव हो तो परिणाम होगा मानव-जन्म अकार्थ और जन्म-मरण के चक्र का पुनरारम्भ। इसीलिये

---

१ सतिगुरु मिलीऐ मत ऊतम होइ। मनु निरमलु हउमै कढै धोइ।
सदा मुकतु बंधि न सकै कोइ। सदा नाम वखाणै अउरु न कोइ।

१ २ बसंत अष्टपदी म० १ पृ० ११८८ ।

हमारे पूर्ववर्ती महात्माओं ने जन-साधारण को सावधान करने को कहा कि किसी की चिकनी चुपड़ी बातों में मत आओ। अन्धी श्रद्धा अधार न चुनो। अनुभव करो। उससे पूछो और बताए मार्ग पर चलकर देखो। रहस्योद्घाटन होता है तो अपना सर्वस्व उस महात्मा को सौंप दो। वही सच्चा गुरु है। तुलसी साहिब ने कहा है 'जब लग न देखूँ अपनी नैनी तब लग न पतीजूँ गुरु की बैनी'। अतः जिसे गुरु बनाते हो उससे कहो अनुरोध करो कि वह तुम्हें वास्तविकता का साक्षात् अनुभव कराए। कबीर ने भक्ति और भेष करनी और कथनी, कहता और गहता आदि के जो अन्तर प्रस्तुत किए हैं वे भी सतिगुरु की पहचान में सहायक हो सकते हैं। अन्यथा 'गुरु मिल्या तो तिन जाना, पर भेद किसे न जाना'।

आइये अब गुरु नानक के संकेतों पर सद्गुरु की पहचान करें। सद्गुरु की सबसे पहली पहचान है उसकी अलौकिक पूर्णता (Absoluteness)। वह सब सांसारिक आकांक्षाओं हर्ष-शोक चिन्ता-भय आकर्षण-विकर्षण प्रेम और घृणा की सीमाओं से परे रहता है। उसकी आत्मा परमात्मा में लीन रहती है इसलिये उसके बाहरी दुख-तकलीफें या भोग-विलास माया का चश्मा पहनने वाले सांसारिकों को चाहे वास्तविक दीखें परन्तु स्वयं उसके लिये उन सबका कोई मूल्य नहीं। वह सच खण्ड में विचरण करने वाला स्वतन्त्र आत्मा होता है भूले भटके जीवों को वास्तविक मार्ग पर लाने के लिये उन पर कृपा कर शरीर धारण करता है और दुनिया के सब कार्य चलाता हुआ भी वह सचखण्ड-वासी निरंजन ही रहता है। गुरु नानक तो कहेंगे कि यदि ऐसा व्यक्ति आपको मिले तो 'तिन चरणन होवा धूर'।

गुरु की दूसरी पहचान है उसकी निःस्वार्थता। वह दाता है मांगता नहीं। गुरु नानक ने लिखा है—

गुरु पीर सदाए, मंगण जाइ ताकै मूलि न लगीऐ पाइ।

गुरु के अन्दर एक ऐसी दिव्य शक्ति रहती है कि न चाहते हुए भी मनुष्य उसके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसके दर्शन मात्र से मन को शान्ति मिलती है। अनजाने में हमारी अन्तरात्मा पुकार उठती है। प्रयत्न करो यहाँ कुछ मिलने की आशा हो सकती है। ऐसे महात्मा को प्राप्त कर लेने पर मनमुख बने रहना मृत्यु है वहाँ भी शर्त है 'उबरे गुर वीचारि'।[1]

पुन गुरु सच्चा हो तो उससे गुरमति सरीखी अनमोल निधि मिलती है। उसके उपदेशों में वास्तविकता की परख करो उसके बताए रहस्यों को जानने का

---

१ नदरि तेरी सुखु पाइआ नानक सचु वीचारि।
   मनमुख भूले पचि मुए उबरे गुर वीचारि।

रामकली दखणी म० १ पृ० ६३७।

प्रयत्न करो परिणाम का विश्लेषण भी कर देखो और यदि फिर भी कोई मूर्तिमान अनुभव न मिल सके तो गुरु की सत्यता में निश्चय ही सन्देह है। सतिगुरु तो जीव के सब सांसारिक बन्धन तोड़ देता है। उसे अपने जैसा हर्ष-शोक से अप्रभावित *स्तुति-निन्दा से परे, मान-अपमान की उपेक्षा करने वाला बना लेता है। जन्म-मरण* के चक्र का अन्त हो जाता है दोबारा गर्भ-दुःख भोगने की आवश्यकता नहीं रहती। सतिगुरु जीव को सद्ज्ञान का दीपक प्रदान कर माया के अन्धकार में छिपी यथार्थताएँ दिखाने में समर्थ है बल्कि सच्चे महात्मा के आश्रय तो जीव अपने निर्मल हृदय में ही परमात्मा के दर्शन करने की शक्ति पा लेता है।[1] संसार में गुरु स्वयं अपना पेट पालने ही के लिये नहीं बल्कि तड़पते जीवों का उद्धार करने आता है। वह शब्द शक्ति से जीवों को मोक्ष दान देकर चिर-सुखी बनाने का निश्चय रखता है। अपने क्षेत्र में वह कभी असफल नहीं होता। जिज्ञासु प्राणियों की प्रस्तुत शरीर रूपी दुकान पर चंचल मन को व्यापारी बना वह सत्य का व्यापार करवाता है व्यापारिक-लाभ होता है प्रभु मिलन के रूप में।[2] अतः गुरु नानक का विश्वास है कि यदि कोई महापुरुष इस प्रकार मानव के दुर्गुणों को सद्गुणों में बदल दे अन्तर के रहस्यों का भेद बताकर *सत्य-मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे* और *जिज्ञासु की उत्सुकता* को अनुभव प्रदान कर शान्त कर सके तो वह अवश्य ही योग्य और समर्थ होगा। एक बात और, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है इसलिए वह किसी के व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। गुरुमुख के मन से उठने वाली सद्गुणों की पुकार सदैव उसे सांसारिक कार्यों में भी सन्मार्ग दर्शाती रहती है।

भौतिक-विश्व में चारों ओर काल-जाल बिछा है। जीव विषय-विकारों तथा काम क्रोध लोभ मोह अहंकारादि के कारण उस फंदे में फँसा है। न जाने जीव और काल की क्या शत्रुता है कि उसे पीड़ित करने या सताने में ही काल को आनन्द मिलता है। गुरु के शब्दों द्वारा ही इस नारकीय-यातना से शान्ति मिलती है। जैसे अग्नि जल डाल देने से बुझ जाती है वैसे ही जीवों को सतिगुरु की वाणी के श्रवण मनन और जाप से संसार की ज्वालाग्नि से शान्ति मिलती है। सच्चे गुरु की

१ सतिगुरु मिलै ता गुरमति पाईऐ, साचउ नामी हरी मिठ। १।
सतिगुरु बन्धन तोड़ि निरारे बहुड़ि न गरभ मझारी मिठ।
नानक गिआन रतनु परगासिआ हरि मनि वसिआ निरंकारी मिठ।

४ ७ सोरठ म० १ पृ० ५९७।

२ बिनु गुरु मिलै किसु पारि उतारै अवगुण मेटै गुण निसतारै।
मुकति महासुख गुर सबदि बीचारि, गुरमुखि कदे न आवै हारि।
तनु हटड़ी इहु मनु वणजारा नानक सहजे सचु वापारा।

१८, रामकली सिध म० १ पृ० ९४२।

यह स्पष्ट पहचान है कि उसके उपदेशों में भटकते हुए मानस को भी शान्त करने की शक्ति रहती है ।[1] यह शक्ति है सद्गुणों की । सच्चा गुरु शिष्य को घर-द्वार छोड़ कर जंगलों में भटकने या अपने पाँव दबाने के लिये नहीं कहता । वह तो सही अर्थों में जीव के अन्दर मानवता को जन्म देता है; सद्गुणों के विकास की प्रेरणा देता और उसके लिए मार्ग प्रशस्त करता है । यदि जीव उसके कथनानुसार कर्म कमा ले तो उसकी कृपा प्राप्ति में कोई विलम्ब नहीं रह जाता । सच्चा गुरु किसी से शारीरिक सेवा की अपेक्षा नहीं रखता—उसकी वाणी का पालन ही उसकी सेवा या भक्ति है । यह उसकी प्रमाणिक योग्यता है कि वह जीव में सद्गुणों को विकसित कर उसे देवत्व की कोटि तक पहुँचा देता है ।[2]

गुरु नानक गुरु की प्रशंसा में स्पष्ट कहते हैं कि जिस ब्रह्म को हम लाखों जन्मों का चक्र काटने पर भी न पा सके थे उसे वह दिखा देता है, मिला देता है ।[3] इतना ही नहीं सच्चे गुरु के आदेशों के पालन-मात्र से जन्म-मरण का चक्र एकदम टूट जाता है । उसमें विश्वास लाने पर जीव के सामने केवल रहस्योद्घाटन ही नहीं होता अपितु इहलोक-परलोक से भी ऊपर वह अपने वास्तविक घर सतलोक को प्राप्त कर लेता है ।[4]

गुरु-भक्ति

गुरु को पहचान लेने और उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि उसको भक्ति क्योंकर अर्पित की जाए ? प्रथम अध्याय में एक स्थान पर बताया जा चुका है कि भक्ति श्रद्धा और प्रेम का समन्वय है । जब हम किसी पर विश्वास करके उसे अपना सर्वस्व समर्पित करते हैं बदले में कोई आशा या इच्छा

---

१ ऐ जी कालु सदा सिर ऊपरि ठाढे जनमि मरनि बैराई ।
साचै सबद रते से बाचे सतिगुर बूझ बुझाई ।

१ ३ गूजरी असटपदी म० १, पृ० ५०४ ।

२ बलिहारी गुरु आपणे दिउहाड़ी सदवार ।
जिनि मानस ते देवते किए, करत न लागी वार ।

१ सलोक आसा म० १ पृ० ४६२ ।

३ कहु नानक गुरि ब्रहमु दिखाइआ मरता जाता नदरि न आइआ ।

गउड़ी म० १ पृ० १५२ ।

४ गुरमुखि बूझ एक लिव लाए, निज घरि वासै साचि समाए ।
जमणु मरणा ठाकि रहाए, पूरे गुर ते इह मति पाए ।

७ गउड़ी असटपदी म० १ पृ० २२२ ।

नहीं रखते तो भक्ति का भ्रम होता है। वास्तव में सच्ची भक्ति ही मात्र निष्काम किया है। उसका परिणाम किसी प्रत्यक्ष फल के रूप में मिले तो हरि-इच्छा अन्यथा स्वयं किसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर की जाने वाली भक्ति में प्रेम-तत्त्व का अभाव रहेगा—क्योंकि प्रेम सेवा और त्याग का प्रतीक है आशा-आकांक्षा का नहीं। गुरु को पहचान लेने के बाद हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा और विश्वास उसके प्रति उड़ेल दिया जाता है। जब तार्किक-बुद्धि की नहीं समर्पण की आवश्यकता होती है ताकि गुरु के महत् आध्यात्मिक-प्रकाश में जीवात्मा भी धीरे-धीरे ज्योतित होने लगे। प्रस्तुत समर्पण का दूसरा नाम है अनन्य प्रेम एवं अगम विश्वास।

अपनत्व का त्याग

भक्त अपने श्रद्धा-पात्र (इष्टदेव—गुरु) का 'स्मरण' नहीं करता क्योंकि वह उसे कभी भूलता ही नहीं। वह निजी व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रखता, अपने इष्ट में ही लीन हो जाता है। उसका शरीर चलता फिरता और कार्य करता दिखाई देता है परन्तु उसके दृष्टिकोण से प्रत्येक स्पन्दन अब गुरु की प्रेरणा का विषय होता है। अपना-आप गुरु को सौंप देने के बाद निजत्व की बात अनाधिकार चेष्टा है और एक सच्चे गुरु-भक्त से इसकी आशा नहीं की जाती। वह 'अपनेपन' को मिटाकर आध्यात्मिकता के क्षेत्र में सदैव अग्रसर रहता है। दो शरीर भिन्न रहते हुए भी उसका और गुरु का अस्तित्व एक हो जाता है। लीनता या समर्पण की स्थिति बड़ी गम्भीर स्थिति है। इसमें प्रेम की पराकाष्ठा के कारण जीव के लिये गुरु और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता। ब्रह्म की सब-व्यापकता से तो उसका परिचय होता ही है विशेषकर वह गुरु में साक्षात् ब्रह्म का रूप देखने लगता है। जीवात्मा का यह नवीन अनुभव होता है अतः वह गुरु को सर्वस्व मान लेता है और उसी में सब कुछ बूझ-खोज निकालता है। गुरु भी 'शरणागत की लाज' को चरितार्थ करते हुए अन्त तक जीव को मार्ग-दर्शन कराते हुए उसके गंतव्य तक पहुंचा देता है उसे प्रभु की गोद में सौंप देता है। इसीलिए गुरु नानक काव्य में गुरु में लीन होने को ही ब्रह्मैक्य (ब्रह्म में लीन होना) की पर्याप्त पृष्ठभूमि स्वीकार किया गया है—

> सीत सखे केते जग माहीं बिनु गुर परमेसरु कोई नाहीं।
> गुर की सेवा मुकति पराइणि अनदिनु कीरतनु कीना हे।
> (राग मारू म १ पृ १०२८।)

गुरु-भक्ति में आज्ञा-पालन और विश्वास दोनों सेवा के प्रतीक हैं वहां आडम्बर और कर्म-काण्ड की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनमुख व्यक्ति प्रेम की अपेक्षित सीमा तक नहीं पहुंच सकता इसीलिए वह आत्म-ज्ञान के सदन से सदैव दूर रहता है। प्रभु-मिलन का एक ही मार्ग है—गुरु के आदेशों पर आचरण। जीव को यदि

सतिगुरु की प्राप्ति हो जाए और वह उसके बताए प्रशस्तपथ पर अग्रसर हो तो संसार की कोई भी मायावी शक्ति उसे ब्रह्म में लीन होने और मुक्ति पाने से नहीं रोक सकती।[1]

भक्ति का अधिकारी कौन ?

गुरु-भक्ति तथा गुरु-सेवा किसे प्राप्त हो सकती है ? जो प्राणी गुरु की इच्छानुसार कार्य करता है जीवन में शुभाचार का समर्थक है और हर समय हरि-मिलन का जिज्ञासु है वह गुरु-भक्ति का सच्चा अधिकारी है। परन्तु प्रेम के इस घर में वैधानिक-नियमों की अपेक्षा कृपा और करुणा का साम्राज्य है। किसी भी प्राणी के निर्मल प्रारब्ध उस पर गुरु-कृपा का कारण बन सकते हैं जबकि दूसरा जीव चिर जिज्ञासी एवं आदेश-पालक होते हुए भी प्रेम की अपेक्षित पराकाष्ठा से वंचित रह सकता है तदनु गुरु की सच्ची भक्ति नहीं प्राप्त कर पाता। इसी कारण प्रायः कहा जाता है कि गुरु की भक्ति या सेवा उसी के लिये सम्भव है जिसपर गुरु की अपार कृपा होती है। जिसे चाहे उसे गुरु सेवा और भक्ति प्रदान कर सकता है। हाँ कृपा-पात्र बनने की एक मुख्य शर्त है—वह है अभिमान-अहंकार का त्याग। 'मैं मेरा' का त्याग 'तू तेरा' को अर्पित करके ही जीवात्मा गुरु-सेवा का वास्तविक अधिकार प्राप्त करता है और सत्पुरुष के दरबार में सम्मानित होता है।[2] अतः जीव को चाहिए कि वह दाता (गुरु) से उसकी भक्ति की याचना करे। गुरु स्वयं तारनहार है कृपा की एक नजर से ही जीव का उद्धार कर सकता है। इसीलिये सन्तों ने सद्गुरु से किसी भौतिक या आध्यात्मिक स्थिति की माँग करने की अपेक्षा उसकी कृपादृष्टि, उसमें श्रद्धा और भक्ति आदि भावों का माँगना अधिक उचित समझा है।

गुरु-भक्ति या सेवा से क्या प्राप्त होता है ?

चित्त के दूसरे पक्ष यह प्रश्न उठता है कि गुरु-सेवा तथा गुरु-भक्ति पाकर, गुरु के आश्रय मिलेगा क्या ? ऊपर कहा जा चुका है कि भक्ति एक निष्काम-क्रिया है परन्तु फिर भी जिसकी भक्ति की जाती है जिसका स्मरण किया जाता है उसका रूप हो जाना या उसी को प्राप्त कर लेना भक्ति का स्वाभाविक परिणाम स्वीकार

---

१ साचउ प्रेम न पाईऐ हरि पाईऐ सतिगुर भाई।
सहज सुख दाता गुरु मिलै कहु नानक सिफति समाई।
४ ७ सोरठ म० १ पृ० ५९७।

२ गुर की सेवा सो करे जिसु आपि कराए।
नानक सिरु दे छूटीऐ दरगह पति पाए। ८ १८ आसा म० १ पृ० ४२१।

किया जाता रहा है। इससे यही अनुमान बनता है कि गीता का निष्काम-कर्म जो स्वयं मालिक के लिए, उसी की ओर से उसी को समर्पित है, सकाम का ही एक संशोधित रूप है जिसमें किसी वस्तु की कामना न करने की कामना और हरि मिलन की इच्छा निरन्तर बनी रहती है। ठीक वैसे ही गुरु नानक-वाणी में भक्ति के निष्काम होते हुए भी कुछ स्वाभाविक फलों की स्थिति स्वप्रकट है। वे ऐसे सामान्य परिणाम हैं, जैसे पेड़ से पत्ता तोड़ने पर जल-स्राव या काँटा चुभने पर शरीर में पीड़ा। भक्ति के अनुपायिक-फलों में सुख शान्ति की प्राप्ति मानसिक-चिन्ताओं का नाश सद्गुणों का प्रतिफलन जीवोद्धार और प्रभु मिलन सरीखे स्थायी परिणामों का प्रकृत रूप उपलब्ध होता है। इसकी कुछ चर्चा यहाँ प्रस्तुत करना नितांत उचित ही होगा। *गुरु नानक साहिब का विश्वास है कि गुरु-भक्ति से सद्गुरु और सद्गुरु से परम गति की प्राप्ति होती है।*[1] इसीलिए जीवात्मा का कर्तव्य है कि वह अपने को विस्मृत कर तन मन धन से गुरु-सेवा में संलग्न रहे। परिणाम-स्वरूप वह अपनी खोज की सफल अनुभूति पायेगा और मानसिक तुष्टि का सुख भोग करेगा। उसकी आशा-तृष्णा क्षीण होगी। जिस प्रकार कामिनी अपने पिया को लुभाने के लिये अपने को सँवारती है उसे सेज पर पाकर सब प्रकार से सन्तुष्ट होती और उसके मिलन में ऐक्य पा लेना चाहती है वैसे ही आत्मा हरि रूपी पति को प्राप्त करने के लिये गुरु-सेवा का सहज शृंगार करती है। परस्पर प्रेम-प्यार को दृढ़ बनाने हेतु उसकी सेवा-गामिनी ही नहीं बनती बल्कि गुरु-चरणों में बैठ कर पिया को आत्मार्पित करने की शिक्षा पाती है और अपने में सुन्दर गुणों का विकास करती है।[2] अभिप्राय यह है कि गुरु-पद सेवा और भक्ति के माध्यम से आत्मा रूपी स्त्री सतपुरुष रूपी पति को लुभाने का ज्ञान प्राप्त करती है, और अन्ततः सद्गुणों और आकर्षक व्यवहार की सेज पर वह उससे ऐक्य स्थापित करने में सफल होती है।

गुरु भक्ति से विवेक-जागरण होता है। ज्ञान की ज्योति के बिना माया के गहन अंधकार में *मार्ग खोज निकालना साधारण जीव के लिये लगभग असम्भव-सा है।* केवल गुरु-भक्ति ही प्रकाश का वह वातावरण प्रस्तुत कर सकती है जिसमें बाहरी रूप से नेत्रहीन व्यक्ति भी सतलोक का मार्ग खोज निकालने में समर्थ होते हैं। क्योंकि संसार की भूल-भुलैयों से बचने के लिये गुरु मार्ग-दर्शक का सत्कार्य करता है इसलिये

---

१ सतिगुरु नउ भजि पाईऐ। निधु मिलिऐ परम गति पाईऐ।

राग सिरी म० १ पृ० ७१।

२ गुरु सेवा सुख पाईऐ, हरिवरु सहज सीगारु।
सचि माणे पिर सेजड़ी गूढ़ा हेतु पिआरु।
गुरमुख जाणि सिञाणीऐ, गुर मेली गुण चारु। २ ६ सिरी म १ पृ ५८।

उसकी आज्ञा-पालन में कल्याण और लक्ष्य-सिद्धि की पृष्ठभूमि निहित है। जो लोग गुरु-रहित होते हुए भी ज्ञानवान होने का दम भरते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। उनकी लम्बी डींगों और कोरी बातों का कोई मूल्य नहीं।[1]

अन्त में गुरु-भक्ति की एक विशेष प्रकार पर, गुरु नानक ने भी जिसे पर्याप्त महत्त्व दिया है दो चार शब्द कहना अनुचित न होगा। गुरु अपने सिक्खों (शिष्यों) से प्यार करता है अतः मनोविज्ञान के 'मुझसे प्यार करते हो तो मेरी प्रत्येक वस्तु से प्यार करो' वाले सिद्धान्तानुसार, उनकी भक्ति भी स्वीकार करता है और उनपर भी कृपा दृष्टि रखता है जो उसके सिक्खों की सेवा करते हैं। ईश्वर के बनाये जीवों की सेवा करना यदि ईश्वर प्रेम का प्रतीक हो सकता है तो निश्चय ही गुरु-सिक्खों से प्रेम गुरु की चरण-वन्दना से कम न होगा। इसीलिये तो गुरु नानक गुरु-सिक्ख से मिलने को उतने ही आतुर हैं जितना सत्पुरुष को मिलने को जीव होता है। उनका मंतव्य है कि गुरु सिक्ख में हरि के सब गुण सम्पन्न होते हैं इसलिये उसका प्यार प्रभु प्रेम से कुछ भी कम नहीं। सिक्ख गुरु के आदेशानुसार अपने में उन गुणों का विकास करता है, जिनसे वह मानव-देह में रहते हुए भी मुक्त पारब्रह्म में लीन होता है। उसकी संगति उत्तम-पुरुष की संगति है वह गुरु-भक्ति का ही एक सौम्य रूप है अतः ग्राह्य है।[2]

आत्म विश्लेषण और गुरु

बुद्धिवादी युग के भौतिक निमित्तों द्वारा आत्म-पहचान सम्भव नहीं—वह प्रकृति की विस्तृत सीमाओं से परे की जानकारी है। ऐसे में यदि मनुष्य को योग्य पथ प्रदर्शन मिल जाये तो वह स्वयं निरकारी बन सकता है। परन्तु सामान्यतः वह रास्ता भूल जाता है और कर्म-काण्डों रूढ़ियों-सिद्धियों या निरर्थक मोह-ममता के चक्र में फँस कर अपने परिश्रम की सार्थकता से भी हाथ धो बैठता है। आत्म विश्ले पथ ही वास्तव में ईश्वर की पहचान का मार्ग है अतः लक्ष्य-सिद्धि किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता से ही सम्भव है जो स्वयं पा चुका हो। ज्ञानवान से मार्ग पूछकर जैस

---

१ सतिगुरु मिलीऐ हुकमु बुझिऐ तीको आवै रासि।
आपि बुझै मह बुझीऐ नानक बचनि बिमाणु। १।
मलार की वार म० १ पृ० १२८१।

२ भाइ मिले गुर सिख भाइ मिलु तू मेरे गुर के पिआरे।
हरि के गुण हरि भावे रसे गुर ते पाए।
जिन गुर का भाणा मंनिया तिन घुमि घुमि जाए।
२ २ तिलंग म० १ पृ० ७२५

आज तक कोई गंतव्य तक नहीं पहुँच सका ठीक वैसे ही जिसने स्वयं विश्लेषण नहीं किया आत्मा की स्थिति और स्वरूप को नहीं पहचाना वह जीव का पथ प्रदर्शन क्योंकर कर सकेगा ? स्पष्ट ही आत्म-विश्लेषण के लिये किसी सच्चे महात्मा की सहायता अपेक्षित है, जिसने आत्मा को चीन्हा हो परमात्मा का साक्षात्कार किया हो और जो इहलोक और सतलोक के बीच सम्बन्ध-मार्ग का परिचय रखता हो।

गुरु की प्राप्ति के साथ ही आत्म-विश्लेषण की मुख्य अर्हताएँ, यथा मन पर विजय पाना हरि रस में लीन रहना परम-सत्य में अटूट विश्वास बनाना आदि, उपजती हैं जीवात्मा माया की मैल से रहित हो जाता है और गुरु-भक्ति के आश्रय उस अगम अगोचर कुसमानिक और जन्म-मरण से परे रहने वाले सतपुरुष को पहचानकर अडोल मन का विश्वास उसे अर्पित करता है।[1] यही स्थिति जीव की वास्तविक विशिष्ट स्थिति होती है। इसमें वह अपने को भी पहचानता है तथा अपने बनाने वाले को भी।

जैसे अपने प्रतिबिम्ब को स्पष्ट देखने के लिए दर्पण का स्वच्छ होना आवश्यक है वैसे ही आत्म-विश्लेषण के लिये अन्तरात्मा को मानसिक एवं मायावी भौतिक मैल से रहित कर लेना अपेक्षित ही है। ऐसे में मन बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी हो जाएगा और प्रभु प्रेम में लीन हो अन्तर्वत्तिमा को पहचानने लगेगा। गुरु नानक इस स्थिति को उत्पन्न करने का एक ही उपचार बताते हैं—गुरु शब्द का श्रवण और पालन। गुरु के वचनों से मन की चंचलता शांत हो जाती है और वह सहज-ध्यान में ही हरि-रंग में रंगा जाता है। यदि जीव गुरु के शब्दों को न पहचान सके तो वह परमात्मा की निकटता तो क्या पाएगा वरन् मनमुख बन कर भ्रम में ही भूला भटका अपना जीवन अकाथ खोवेगा।[2]

गुरमुख कौन ?

जो जीव सतिगुरु की शरणता पहचान कर अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर

---

१ मनूआ मारि निरमल पद चीनिआ हरि रस रते अधिकाई।
एकस बिनु मैं अवरु न जाना सतिगुरु बूझि बुझाई।
अगम अगोचर अनाथु अजोनी गुरमति एको जानिआ।
सुभर भरे नाही चितु डोलै मनु ही ते मनु मानिआ।

७ १, सारग अष्टपदी म० १ पृ० १२३३।

२ गुर बचनि मनु सहजि धिआने। हरि कै रंग रता मनु माने।
मनमुख भरमि भुले बउराने। हरि बिनु किउ रहीऐ गुर सबदि पछाने।

१ बिलावल म० १ पृ० ७९६।

देता है उसके शब्दों में अटल विश्वास रखकर जो सचखण्ड के मार्ग पर सदैव अग्रसर रहता है जो गुरु में ही प्रत्यक्ष ब्रह्म के दर्शन करने का अभिलाषी है जो अहर्निश राम-नाम में लीन रहता है और जो केवल अपने आप को ही नहीं अपने समूचे परिवार, साथियों एवं अन्य सब विनीतों को भवसागर से पार पहुँचाने में समर्थ होता है वह गुरमुख है। मन माया और विषय-विकारों का विजेता गुरमुख संसार की आशा-तृष्णा एवं रोग भोग में रहता हुआ भी इन सब से ऊपर आदर्श जीवन की प्रतिमा है। वह प्रेरणा का स्रोत आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं का स्वरूप तथा आत्म-बल का प्रतीक होता है। वह मन-चाही (मन के संकेतों पर चलने वाला) नहीं गुरुचारी होता। गुरु के वचनों में उसका रोम रोम रंगा रहता है, मनमुख की तरह वह ऐसी काली कम्बली नहीं जो पर मात्मा के सुहाने आकर्षणों में भी अलिप्त दीखे। "मनमुख पथर सैल है ध्रिग जीवन फीका जल में केता राखिए, अभ अंतरि सूका" (आसा पृ० ४१६) के समान वह पत्थर नहीं मोम होता है। दया कृपा करुणा सहानुभूति आदि गुण उसकी विशिष्टताएँ हैं। वह लोगों की त्राहि की पुकार सुन कर तिलमिला उठता है उनके त्राण हेतु वह गुरु तेगबहादुर जैसा धर्म रक्षक और गुरु गोविन्द सरीखा राष्ट्र त्राता भी होता है। वह सद्ज्ञान ज्योति का पुंज होता है स्वयं मार्ग देखता है दूसरों को दिखाने की शक्ति रखता है।

वह भाता है तो गुरुनाम बोलता है तो गुरुवचन तोलता है तो गुरु-आदेश आता-जाता है तो गुरु दर्शनों की तृषा में ध्यान विचारता है तो ब्रह्म-स्वरूप, स्नान करता है तो अठे-सठ तभी जल में पान करता है तो अमृत और मरता है तो जन्म-मरण से ऊपर, मुक्त हो जाता है।[1] थोड़े में अभिप्राय यह कि गुरमुख वह सब कुछ होता है जो एक सच्ची मुक्तात्मा को होना ही चाहिए।

प्रत्येक काम गुरु की इच्छा के अनुसार करना घट घटवासी परमात्मा को पहचानना गुरुमति के प्रकाश में निश्चल जीवन जीना और निरन्तर परम-सत्य में रमे रहना गुरमुख के वे गुण हैं जिनका विश्लेषण गुरु नानक ने सुमेर पर्वत पर सिद्ध योगियों से हुई चर्चा में प्रस्तुत किया था। कथित स्थिति में वे अपने दृष्टान्त में कहते हैं "पूर्ण-परमात्मा एक रस सब के हृदय में विद्यमान है परन्तु सद्गुरु का कृपा-पात्र ही उसे प्राप्त कर पाता है। हम तो इसीलिये गुरु की इच्छा पर सब कुछ अर्पित किये

1 गुरमुखि भावै गुरमुखि बोलै। गुरमुखि तोलु तोलावै तोलै।
गुरमुखि आवै जाइ निसंगु। परहरि मैलु जलाइ कलंकु।
गुरमुखि नाद बेद बीचारु। गुरमुखि मजनु चजु अचारु।
गुरमुखि सबदु अंमृतु है सारु। नानक गुरमुखि पावै पारु।
२२ रामकली दखणी म० १ पृ० ९४२।

है जो उसे रुचेगा वही होगा। हमें दुनिया में भेजा चले आए बुलाया जायेगा तो चल देंगे। गुरमुख (हमारा) का तो कर्तव्य ही यह है कि गुरु से उपदेश प्राप्त करे, अपने को तथा सर्वव्यापक प्रभु को पहचाने और उस परम-सत्य में अपने को लीन करदे।"[1]

गुरमुख की गुरु-भक्ति का दूसरा रूप है उसका सतपथ-गामी होना। वह पंचेन्द्रियों के झूठे मार्ग पर चलना या गुरु के वचनों का विरोध करना दुर्गम पाप समझता है। वह सदैव मिथ्या से बचता और सत्य को अपनाता है। सतपुरुष के हुक्म (आज्ञा) का वह अक्षरशः पालक होता है और सतगुरु की शरण ग्रहण कर तीनों गुणों की इच्छा से रहित बना रहता है।[2] गुरु नानक ने ऐसे ही महामानव के सम्बन्ध में कहा था

सतिगुरु देखिआ दीखिआ लीनी।
मन तन अरपिउ अंतरगति कीनी। (४ गौड़ी पृ० २२७)

अर्थात् गुरमुख सतगुरु को पहचानता है उससे दीक्षा लेता है और फिर तन मन सब उसी को सौंप कर स्वयं 'अन्तरगति कीनी' मुक्त हो जाता है। ब्रह्ममय हो जाता है। अभिप्राय यह कि भक्त अपने इष्ट से जुदा रहना गवारा नहीं करता चिर-संगति पाने के लिये वह उससे एकाकार कर लेता है। यही गुरमुख का वास्तविक स्वरूप है। गुरु नानक इसी रूप की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि यदि गुरु किसी पर विशेष कृपा कर ब्रह्म-तत्त्व को उसे साक्षात्कार करवा दे तथा सत्य और संतोष के वरदान देकर उसमें भ्रम के अभिशापों का अन्त करदे तो वह जीव गुरमुख कहलावेगा। उसकी संगति करने वाले अन्य लोग भी उसके उद्दीप्त प्रकाश में निजी विकारों का त्याग कर देंगे।[3] गुरमुख अपने गुरु की कृपा से अनेकों का मार्ग प्रशस्त करता है और गुरु की

---

१ घटि घटि बैसि निरंतरि रहीए चाखहि सतगुर भाए।
सहजे आवै हुकमु सिञापै नानक सदा रजाए।
आसणि बैसणि थिरु नाराइणु ऐसी गुरमति पाए।
गुरमुखि बूझै आपि पछाणै सचे सचि समाए।
१ रामकली सिधगोसटि म० १ पृ० ९३८।

२ बोलहि साचु मिथिआ नहीं राई।
चालहि गुरमुखि हुकमि रजाई।
रहहि अतीत सचे सरणाई।
१ गौड़ी म १ २२७।

३ साचि सहज गुरु अमरु लखाइआ। साचु संतोखि भरमु चुकाइआ।
तिन की संगति गुरमुखि होइ। नानक साचि नामि मनु धोई।
६ १५ गौड़ी म० १ पृ २२८।

अपूर्वी शक्ति को प्राप्त कर 'गुरमुखि कोटि उधारदा है' भाव इक कणी का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।

बिनु बिनु साहिब मनि वसै, गुरमुखि अंमृत पेउ। (सिरी पृ० २०।)

गुरमुख माया के त्रिगुणात्मक रूपों से परिचित होता है और सदा अपने दामन को माया-मोह के कांटों से बचा कर चलता है। वह कहने और करने के भेद को समझता है। उसकी हर बात केवल कथनी नहीं प्रत्यक्ष करनी होती है। स्वभावतः ही अनुभवी होने के कारण वह आडम्बर नहीं रचता अन्य साधुओं की तरह 'औरां को नसीहत खुद मियां फजीहत' के आश्रय दूसरों को माया के बन्धन काटने की केवल शिक्षा नहीं देता, बल्कि स्वयं बन्धन काटकर दूसरों के लिये आदर्श खड़ा कर देता है।

गुरु नानक साहिब कहते हैं कि गुरमुख के अन्तःपुर में पंचेन्द्रियों के चोर चोरी नहीं कर सकते क्योंकि वह हरिनाम की कृपा से सदा जागता रहता है। उसने ईश्वरोपासक होने के नाते तन मन धन सर्वस्व अपने इष्ट को समर्पित कर दिया होता है फिर भला जो चीज अब उसकी रह ही नहीं गई, उसमें अन्य कामनाएँ उत्पन्न करने का अधिकार हो उसे क्या है? यही कारण है कि गुरमुख जो हरिनाम जपता ही नहीं बल्कि हरिमय हो जाता है काम क्रोधादि पाँच चोरों से कभी पराजित नहीं होता। इसका एक और मुख्य कारण बताते हुए गुरु नानक आगे कहते हैं कि गुरु के उपदेशों से जीव (गुरमुख) की तृष्णा की अग्नि बुझ जाती है और उसमें ज्ञान-ज्योति का प्रकाश फैलता है। तात्पर्य स्पष्ट है कि गुरुज्ञान के कारण जीव अपना भला बुरा समझने लगता है और भौतिक तृष्णा से बचने का सत्प्रयास करता रहता है। आत्मा गुरु-द्वारा से हरिनाम के अमूल्य-धन को प्राप्त करता और सदा निष्काम बना रहता है।[1] ध्यान रहे, गुरु नानक वाणी में कामनाओं के त्याग का यह अर्थ कभी नहीं लगता कि जीव घर-गृहस्थी त्याग और परिवार मोह त्याग कर वैराग्य धारण कर ले।

दूसरों को मुक्ति-धाम दिखाने का अनुराग सच्चे गुरमुख का अद्भुत गुण है। प्राचीन कहावत है कि भक्त की सात पुश्तें भवजल तर जाती हैं परन्तु यहाँ संतमत में तो परमतत्त्व का कृपा-स्रोत कुछ इस प्रकार बह रहा है कि बहती गंगा में जो चाहे हाथ धोता जाए। गुरु नानक लिखते हैं—

---

१ गुरमुखि चोर न लागि हरिनामि जगाईऐ।
सबदि निवारी आगि जोति दीपाईऐ। ६।
लालु रतनु हरिनामु गुरि सुरति बुझाईऐ।
सदा रहै निहकामु जे गुरमति पाईऐ।

७ २, सूही म० १ पृ० ७५२।

जिन गुरमुखि पिआरा सेविआ, तिन कउ घुमि जाइआ ।
आपि छुटै परवार सिउ सभु जगतु छडाइआ ।
(८ २ राग तिलंग म १ पृ ७२१)

अभिप्राय यह कि सद्गुरु का सेवक गुरमुख वह महान् विभूति है जो केवल स्वयं या अपने परिवार को ही मुक्त नहीं करवाता प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व पर प्रेम और शांति का जलधर बन छा जाता है कृपा-दृष्टि से जो भीगा उसी का उद्धार हो गया ।

प्रश्न उठता है कि यदि गुरमुख विशुद्ध आचार-विचार का मुक्तात्मा होता है तो वह संसार के मलिन वातावरण में क्योंकर रहता है ? नानक एकदम सुझाव देते हैं कि मलिनता में रहने वाला आवश्यक नहीं कि मलिन ही हो । उदाहरण देते हैं कमल का । कितना स्वच्छ और निर्मल फूल है खिलता है मलिनता में पंक में और फिर भी गुणों से सौन्दर्य-बोधक उपमान बना है । ठीक वैसे ही गुरमुख विश्व-कीच में अरविन्द की नाईं रहता है—मलिन वातावरण से ऊँचा सदैव ऊँचा । गुरमुख के लिये मोहमाया की उपस्थिति का होना न होना एक समान है । जैसे सिंह घास नहीं खाता वैसे यह आध्यात्मिक-सिंह कभी मायावी-घास के पीछे दुम नहीं हिलाता । उसकी गर्जन से माया की तो क्या बिसात काल भी काँपता है । श्री गुरु नानकजी ने लिखा है जिनको प्रभु ने अपने पास शरण दे दी है उनको तो काल भी (साक्षात् यमराज भी) पीड़ित नहीं कर सकता । गुरमुख तो भौतिक पीड़ाओं से ऊपर यों स्वस्थ और सुव्यवस्थित रहता है ज्यों जल और कीचड़ से ऊपर विकसित इन्दीवर ।"[1]

गुरमुख की उपर्युक्त अनेक विशेषताओं की ओर संकेत करने के उपरान्त गुरु नानक राग रामकली में गुरमुख के अन्य अपेक्षित गुणों की सूची-सी प्रस्तुत करते हैं—

गुरमुखि साचे का भउ पावै गुरमुखि बाणी अघड़ घड़ावै
गुरमुखि निरमलि हरि गुण गावै गुरमुखि पवित्र हरिपदु पावै
गुरमुखि रोमि रोमि हरि धिआवै नानक गुरमुखि साचि समावै । २७ ।
गुरमुखि परचै बेद बीचारी गुरमुखि परचै तरीऐ तारी
गुरमुखि परचै सुसबदि गिआनी गुरमुखि परचै अंतरि बिधि जानी
गुरमुखि पाईऐ अलख अपारु नानक गुरमुखि मुकति दुआरु । २८ ।
गुरमुखि अकथु कथै बीचारि गुरमुखि निबहै सपरिवारि

---

१ जिन्ह कउ आपि लए प्रभु मेलि तिन कउ कालु न साकै पेलि ।
गुरमुखि निरमलि रहहि पिआरे जिउ जल अंभ ऊपरि कमल निरारे ।

२ १५, आसा म० १ पृ० ४१२ ।

गुरमुखि अपीऐ अंतरि बिचारि, गुरमुखि पाईऐ सबदि आचारि,
सबदि भेदि जाणै जाणाई, नानक हउमै जालि समाई। २९।
गुरमुखि धरती साचै साजी तिस महि ओपति खपति सु बाजी
गुर कै सबदि रपै रंगि लाइ साचि रतउ पति सिउ घरि जाइ
साचि सबदि बिनु पति नही पावै नानक बिनु नावै किउ साचि समावै। ३०।
गुरमुखि अष्ट सिधि सभि बुधि गुरमुखि भवजलु तरीऐ सचसुधि
गुरमुखि सर अपसर बिधि जाणै गुरमुखि परविरति निरविरति पछाणै
गुरमुखि तारे पारि उतारे, नानक गुरमुखि सबदि निसतारे ३१।
गुरमुखि रतनु लहै लिवलाई, गुरमुखि परखै रतनु सुभाइ,
गुरमुखि साची कार कमाइ गुरमुखि साचे मन पतीआइ,
गुरमुखि अलख लखाए तिसु भावै नानक गुरमुखि चोट न खावै। ३२।
गुरमुखि नामि दानि इसनानु, गुरमुखि लागै सहज धिआनु,
गुरमुखि पावै दरगह मानु, गुरमुखि भउ भंजनु परधानु,
गुरमुखि करणी कार कराए, नानक गुरमुखि मेलि मिलाए। ३६।
गुरमुखि सासत्र सिम्रिति बेद गुरमुखि पावै घटि घटि भेद
गुरमुखि वैर विरोध गवावै गुरमुखि सगली गणत मिटावै
गुरमुखि राम नाम रंगि राता नानक गुरमुखि खसम पछाता। ३७।

सिध-गोसट पृ० ९४१ ४२।

गुरमुख की पहचान

गुरमुख की पहचान में गुरु-भक्ति और सेवा अमित-प्रेम सद्ज्ञान ईश्वरीय परिचय नाम-जाप आवागमन से मुक्ति निरभिमानता लौकिक-निर्लिप्तता आदि महत् गुणों को मापदण्ड बनाया जा सकता है। सबमें पूरा उतरने वाला महामानव दुर्लभ है, अप्राप्य कुछ भी नहीं। वास्तव में हमीं अपने अज्ञान के कारण उसे पहचान नहीं पाते, उसे अपने जैसा साधारण-जीव समझकर उसकी परख करते निकल अपनी अधूरी बुद्धि का प्रमाण देते हैं, अन्यथा वह इस लोक का तो जीव ही नहीं रह जाता—वह सतलोक-वासी होता है।

३
अकाल-पुरुष
(ब्रह्म)

१ ओंकार सतिनाम करता पुरख निरभउ निरवैर
अकाल-मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि ।
(मूल-मंत्र—जपुजी)

१ ओंकार सतिनाम करता पुरख निरभउ निरवैर
अकाल-मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

"ब्रह्म अतुलनीय और सर्वशक्तिमान है। वह सतिनाम अर्थात् वह समय, स्थान या वस्तु के बंधनों से परे है। परम सत्य है। वह सर्वव्यापक सृष्टि-रचयिता है। उसे किसी का भय नहीं, किसी से वैर भी नहीं। वह भूत, भविष्य और वर्तमान की सीमाओं से परे है। वह था, है और रहेगा। संसार की सम्पूर्ण प्रकृति ससीम, नश्वर और लौकिक है, वह अकेले असीम, अनश्वर और अलौकिक है। वह अजूनी है अर्थात् किसी योनि में जन्म नहीं लेता क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और वह अकाल है। वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप है और उसकी प्राप्ति केवल सद्गुरु की कृपा से सम्भव है।"

वाणी का उपर्युक्त मूलमंत्र ब्रह्म के नाम रूप को स्पष्ट करने में पर्याप्त सक्षम है। प्रस्तुत पद में उस वैदिक परम्परा के अनुसार 'ओंकार' नाम लिया गया है जो कि केवल पहचान और स्मृति का काम करता है। 'एक' तथा पद के अन्य सभी शब्द (गुरप्रसादि के अतिरिक्त) 'ओंकार' नाम के रूप हैं, पहचान की पुष्टि करने के वाचिक साधन। गुरमत-काव्य में ब्रह्म को और भी कई नामों से पुकारा गया है यथा निरंजन, अकाल पुरख, पारब्रह्म, परमेश्वर आदि। कहीं-कहीं तो परिस्थितिवश जनता का ध्यान आकर्षित करने तथा उस सम्प्रदाय पर समाज के लिए राम-कृष्णादि अवतारों के नामों का भी ब्रह्म के लिए प्रयोग किया गया है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि गुरमत अवतारवाद में विश्वास रखते थे या राम-कृष्णादि को ब्रह्म का अवतार मानते थे। वे सब अवश्य ही महापुरुष थे। उनका जन्म प्रकृतिस्थ था स्वभावतः अंत भी प्रकृतिस्थ होना ही था। इसलिए उनमें ब्रह्म का मूलभूत गुण 'अजूनी' न था और निश्चय ही वे ब्रह्म न थे। ऐसे महापुरुषों के लिए गुरमत विचारधारा में स्वीकृति तो है परन्तु ब्रह्म-रूप में नहीं। उत्तम और आदर्श व्यक्तियों के रूप में। भक्तों और महात्माओं में जो समय-समय पर संसार उद्धारार्थ प्रकट होते रहते हैं ब्रह्म की महत् शक्ति की उपस्थिति भी स्वीकार की गई है। ईसाई, मुसलमान तथा अन्य सभी विचार-पद्धतियों की तरह गुरमत मानते हैं कि संसार की बढ़ती हुई कुटिलता को नष्ट करने के लिए ब्रह्म स्वयं अपनी शक्तियों से पराभूत कर संदेशवाहक भेजता रहता है और इच्छा एवं आवश्यकतानुसार लौटा लेता है। वे

संदेशवाहक महापुरुष विश्व को सच्चाई का मार्ग बता जाते हैं, भूली भटकी आत्माओं को ब्रह्म-मिलन के साधन समझा जाते हैं, जीवन का एक नया और आकर्षक रूप दिखाते और अपने रास्ते चल देते हैं। भटकी जनता अपने मोहसिन को भूलती नहीं उस पर अमर-स्मृतियाँ न्यौछावर करने के लिये उसमें अवतार की स्थापना करती है। मालिके-कुल को निजी सृष्टि के जीवों की इस भूल पर क्षोभ होता है अतः उन्हें सत्य मार्ग दिखाने के लिए अकाल पुरुष को पुनः कोई शक्ति भेजनी पड़ती है, जो धीरे-धीरे मायावी प्रकृति की असार बुद्धि द्वारा फिर अवतार मान ली जाती है। यही कारण है कि विश्व की धार्मिक विचार-धाराओं में हजारों पैगम्बरों देवी देवताओं का नाम लिया जाता है परन्तु ब्रह्म के एकत्व में कभी किसी को सन्देह नहीं हुआ।

(१) सृष्टि सृजन

भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार आरम्भ में अव्यक्त-पुरुष के अतिरिक्त और कुछ न था। गुरुनानक ने तो आदि का प्रश्न ही अनापेक्षित माना है। उनके विचारानुसार यदि आरम्भ में कुछ न था तो शून्य रहा होगा और वही शून्य निरंकार का रूप था।

आदि कउ बिसमादि बीचारु कथीअले सुंन निरंतरि वासु लीआ। २३।
(रामकली म० १ सिध गोसटी पृ० ९४०।)

उस अकाल की इच्छा हुई कि वह अपने मनोरंजन के लिए कोई साधन जुटाये। यह सृष्टि वही साधन है जो निरन्तर उस शब्द के आधार पर, जिससे इच्छा प्रकट की गई थी बनती बिगड़ती और पुनः पोषित होती चली जा रही है। शब्द की उस अकथनीय शक्ति से बड़ी-बड़ी विचित्र चीजें अस्तित्व में आईं। ऐसी कौतुक-मय कि उनकी वास्तविक पहचान भी उसी की महत् शक्ति से समझ पड़े? गुरु-नानक लिखते हैं कि अकाल पुरुष ने अपनी इच्छानुसार इस विश्व की रचना की और उसका यथार्थ स्वरूप समझने की सामर्थ्य भी अपने तक ही सीमित रखी। आकाश और धरती की रचना की गई। शब्द के प्रकटीकरण पर अवलम्बित बिना स्तम्भों के गगन स्थिर कर दिया। निशा-दिवा सरीखे कौतुक प्रस्तुत किए गये एवं वह स्वयं सत्य-सिंहासन पर बैठ धैर्यपूर्वक अपनी रचना को देख-देख कर मनोरंजन करता रहा और शेष सब आने जाने के चक्कर में पड़ कर रह गये।[1]

उसकी इच्छा से सब उत्पन्न हुआ है, उसकी इच्छा से ही विनाश

१ आपीन्है आपि साजि आपु पछाणिआ। अंबरु धरति विछोड़ि चंदोआ ताणिआ।
विणु थम्हा गगनु रहाइ, सबदु नीसाणिआ। किये रात दिनंतु चोज विडाणिआ।
सचि तखति निवासु होर आवण जाणिआ। मलार की वार म०१ पृ० १२७९।

परिभाषित है। जीव उसी की इच्छा से माया-चक्र में पड़ा और काल-पाश में फँसा है, और यदि उसकी इच्छा हो तो वह सत्य में भी समा सकता है। सार यह कि जीवों के वश में कुछ नहीं जो उसे स्वीकार्य है वही होता है।[1] गुरु गोबिन्द सिंह ने भी सृष्टि का सृजन अकाल-पुरुष से ही माना है जिसकी ज्योति चतुर्दश लोकों[2] में फैली हुई आज भी जीवन संचार कर रही है।[3] जपुजी में भी गुरुनानक यही कहते हैं।

कीता पसाउ एको कवाउ। तिस ते होए लख दरिआउ।
कुदरति कवण कहा वीचारु। वारिआ न जावा एक वार।
जो तुधु भावै साई भली कार। तू सदा सलामति निरंकार। (पउड़ी १६)

अर्थात् परमेश्वर ने एक ही वचन से सृष्टि का यह समूचा प्रसार प्रस्तुत किया है। एक ही शब्द से लाखों प्रकार के सृजन हुए, यथा जीव आदि रूप रंग अथवा अन्य असंख्य प्रकृत वस्तुएँ। उसकी कुदरत (शक्ति) अथाह है कोई कितना विचार करे, परन्तु उसकी सीमा नहीं पा सकता। यही कहना होगा कि उसकी इच्छा से जो बना है वही उचित है। मजा तो इस बात का है कि अपने एक वचन की शक्ति से जिसने इतने बड़े परिवर्तनशील विश्व की रचना की वह स्वयं अविनाशी स्वरूपरहित शान्ति से बैठा इस परिवर्तन का तमाशा देखता जा रहा है।

(२) काल और अकाल

जो वस्तु समय और स्थान (देश और काल) की सीमाओं में बद्ध है वह कभी चिरस्थायी नहीं हो सकती। उसका अन्त अनिवार्य है। देश और काल से हमारा अभिप्राय है वस्तुओं का नैसर्गिक-नियमों के बन्धन में होना। अतः स्पष्ट ही जो वस्तु प्राकृतिक रूप से अभिव्यक्त होगी उस पर माया के सृष्टि-परिचालन-नियम अवश्य लागू होंगे। परिवर्तन भी ऐसा ही एक निश्चय-नियम है और प्रत्येक परिवर्तन-शील वस्तु।

---

१ हुकमी उपजै हुकमि समाहि हुकमी कार कमाहि। हुकमी कालै वसि है हुकमी साचि समाहि।
नानक जो तिसु भावै सो थीऐ। इना जंता वसि किछु नाहि।
४ ८ राग सिरी अष्टपदी पृ० ५५।

२ भारतीय शास्त्रों में १४ लोक स्वीकार किए गए हैं सात इहलोक से नीचे और ७ ऊपर। नीचे—तल वितल अतल, सुतल रसातल तलातल और पाताल।
ऊपर—भू भुवः स्वः, महः जनः तपः और सत्य।

३ प्रथमो आदि एकंकारा जल थल महीअल कीओ पसारा।
आदि पुरखु अविगति अविनासी लोक चतुरदस जोति प्रकासी।
गुरु गोबिन्द—अकाल उसतत १ १०।

मृत्योन्मुखी होती है। माया-गुणों[1] का कार्य क्रमशः जन्म, पोषण और नाश भी परिवर्तन की ओर संकेत करता है और गुणों-गुणों से इसे सृष्टि का शाश्वत नियम स्वीकार किया जा रहा है। परन्तु सत्य का पहला गुण है अडिग और परिवर्तनशील होना। सत्य सर्वत्र सब स्थानों और सब परिस्थितियों में सत्य ही रहता है उसमें समय के फेर से कोई फेर नहीं आता। विश्व में ऐसी कोई स्थूल वस्तु नहीं जो समय और स्थान के परिवर्तन के साथ परिवर्तित न हो जाए। सृष्टि तो बीज से पेड़ पेड़ पर फल और फलों से बीज बनने का क्रम है अतः कभी सत्य नहीं हो सकती। एक साधारण-सी इच्छा का इतना बड़ा निर्माण कम-से-कम इन्द्रधनुष की कांति का महान् सत्य कदापि नहीं हो सकता। वह असत्य है वह परिवर्तनीय है वह देश-काल में सीमित है उसका सर्जन हुआ है, इसलिए नाश स्वाभाविक है। अतः यह सब 'काल' है। समूची प्रकृति जीव-जन्तु, खण्ड-ब्रह्माण्ड आकाश-पाताल सब में स्पन्दन है सब नश्वर है सबका उत्थान और पतन होता है इसलिए वे काल द्वारा शासित हैं। ठीक है कि सत्य चारों ओर बिखरा है परन्तु काल के प्रभाव में किसी को दिखाई नहीं पड़ता। उस पर भी काल का आवरण पड़ गया है। सत्यांश चमकाने के लिए कालावरण फाड़ना पड़ेगा और उसकी सम्भावना रहती है काल-मन्थरनी के सुघड़ प्रयत्नों में। माया तथा उसके तीनों गुण ब्रह्मा विष्णु और महेश काल शक्ति के रूप हैं। काल की सीमाओं का परिचय गुरु-गोबिन्द ने भी इसी प्रकार दिया है।

एक शिव भये एक गये एक फिर भये।
रामचन्द्र कृष्ण के अवतार भी अनेक हैं।
ब्रह्मा अरु बिसन केते बेद और पुरान केते।
सिमरित समूहन के हुई-हुई बितए हैं।
मोनदी मदार केते असुनी कुमार केते।
अंसा अवतार केते काल बस भये हैं।
पीर औ पीकाम्बर केती गने न परत एते।
भूमहिते हुइके फेरि भूमि ही मिलाए हैं।
(अकाल उस्तत गुरु गोबिन्द सिंह पद ७७)

जो समय और स्थान की सीमाओं से परे है जो अडिग अडोल और अपरिवर्तनशील है जो शाश्वत सत्य है सर्वांगीण सुन्दर है जो परिस्थितियों के बन्धन से

---

१ एका माई जुगति विआई तिनि चेले परवाणु।
इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दीबाणु।
जिव तिसु भावै तिवै चलावै जिव होवै फुरमाणु।
ओहु वेखै ओना नदरि न आवै बहुता एहु विडाणु। जपजी पउड़ी ३० पृ० ७।

मुक्त है जो रूप-रूप में समाया है, विश्व के समस्त नाम-रूप जिसके नाम-रूप हैं, परन्तु जिसका कोई विशेष नाम-रूप नहीं वह 'अकाल' है। यह अकथनीय अकथ-नीय अनिर्वचनीय अद्वितीय अविकारी अविनाशी अविगति आदि अनादि जुगादि और अनन्त है। यह सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक और सर्वरचयिता है।

जपुजी में गुरु नानक ने अकाल की विशिष्टता प्रस्तुत करने के लिए, उसके द्वारा आध्यात्मिक-विकास के क्रमिक खण्डों की रचना का चित्रण किया है जिसमें पहले चार में आज भी उसके पथभ्रष्ट सेवक माया के बन्धे साम्राज्य स्थापित किए हैं, परन्तु किसी में इतना साहस नहीं कि वह खुले आम उसका विरोध कर सके। वे धर्म के नाम पर व्यापार करना ही सोचते हैं जबकि पाँचवें खण्ड में एक बार शरण गहने वाला भयंकर पापी भी (अकाल के हुजूर में) क्षमा कर दिया जाता है। गुरु नानक ने रचित खण्डों के नाम क्रमशः इस प्रकार दिये हैं—(१) धरम खण्ड (२) ज्ञान खण्ड (३) सरम (श्रम) खण्ड (४) करम खण्ड (५) सच्च खण्ड या सचखण्ड। प्रथम चार खण्डों की रचना परिवर्तनशील है उनका स्वरूप देश और काल की सीमाओं में बंधित है इसलिए वहाँ काल का राज्य है। सचखण्ड अकाल का स्थिर शाश्वत अपरिवर्तनशील और चिर-सत्य सिंहासन है जहाँ पर निर्विकल्प भाव से बैठा हुआ वह अपनी अन्य खण्डों की रचना का तमाशा देखा करता है।

पहले खण्ड की रचना का स्वरूप नानक इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं[1] 'पाँचों तत्त्वों जल-वायु-अग्नि-पृथ्वी-आकाश से प्रथम खण्ड की रचना की गई, जिसमें छः ऋतुओं सात वारों और १५ पाक्षिक तिथियों के अटूट क्रम की स्थापना हुई। उसमें अनेक नामों रूपों जातियों और मूरतों का उत्थान हुआ। वह चिर सत्य स्वयं सच्चे सिंहासन पर बैठा जीवों की कर्मगति का तमाशा देखता है। वहाँ उसकी कृपा दृष्टि से जीव के दुष्कर्मों के लेख भी क्षमा किये जाते हैं। इस खण्ड में सब प्रकार के झूठ-सच्चे जीव विद्यमान हैं परन्तु दरगाह में पहुँच कर सब उसी का जाप करते हैं। प्रस्तुत मण्डल हमारा यह मृत्युलोक ही है। गुरु नानक ने इसे धर्मलोक कह कर इसलिये पुकारा है कि यहाँ से ही जीव सत्कर्मी बन कर परमेश्वर की खोज शुरू करता है। यही वह खण्ड है जहाँ सच्चा नाम-साधक खोज लेने से ऐसा प्रशस्त पथ हाथ लगता

---

१ रातीं रुती थिती वार। पवण पाणी अगनी पाताल।
तिसु विचि धरती थापि रखी धरमसाल।
तिसु विचि जीअ जुगति के रंग। तिन के नाम अनेक अनंत।
करमी करमी होइ वीचारु। सचा आपि सचा दरबारु।
तिथै सोहनि पंच परवाणु। नदरी करमि पवै नीसाणु।
कच पकाई ओथै पाइ। नानक गइआ जापै जाइ।
(जपुजी पउड़ी ३४।)

है कि एक-एक कर सब खण्डों और लोकों को पार करता हुआ मुक्त-जीव अपने वास्तविक घर सचखण्ड में पहुँच जाता है। किसी सतपुरुष का चेताया जीव जब मंजिल की तैयारी करता और आत्मा के क्षितिज-विकास की महनीयता को समझ लेता है[१] तो यहाँ से चलकर दूसरे स्थान 'ज्ञानलोक' में पहुँचता है। गुरु नानक के मतानुसार धर्मखण्ड का यह नियम है कि यह ज्ञानलोक के रहस्यों का परिचय जीव से करवाता है। 'उसमें अनेक प्रकार की वायुएँ पानी तथा अग्नियाँ हैं, कितने ही कृष्ण और महेश हैं अनेक रूप रंग के उच्च-शरीरी जीव हैं। कर्म-काण्ड के अनेक आकार हैं अनेक सुमेरु पर्वत हैं और न जाने कितने ध्रुव भक्त वहाँ ज्ञान की खोज में तपस्या कर रहे हैं। वहाँ अनेक इन्द्र चन्द्र और सूर्य हैं उसमें अनेक मण्डल हैं कितने ही सिद्ध बुद्ध और नाथ ज्ञान प्राप्ति के चाव से वहाँ पड़े बैठे हैं। ज्ञानखण्ड में कितने ही देवी-देवता दानव और मुनि हैं कितने ही समुद्र और उनसे प्राप्त होने वाले रत्न हैं। वहाँ अनेक तरह की वाणियाँ हैं अनेक प्रकार की खाने हैं अनेक बादशाह और राजे-महाराजे पड़े हैं। न जाने कितने आत्म-सेवी वहाँ एकत्रित हुए हैं सचमुच उन सबका कोई अंत नहीं।[२] ज्ञान खण्ड के इस स्वरूप से नानक ने स्पष्ट कर दिया है कि धर्मखण्ड के जो जीव कर्म-काण्डों तपस्या तक ज्ञान तथा बौद्धिक-शक्तियों से उभरने का प्रयास करते हैं वे इस खण्ड में फँसे रह जाते हैं। आगे सचखण्ड तक जाने के लिए उन्हें श्रद्धा विश्वास प्रेम और भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। गुरुनानक ने यह भी स्पष्ट किया है कि ज्ञानखण्ड से आगे निकलने के मार्ग में आने वाली कठिनाई स्वयं ज्ञान की प्रचण्डता ही है। तर्क के उस अनावश्यक वातावरण में जीव सकपका जाता है। वह इस निश्चय तक नहीं पहुँच पाता कि उसका गन्तव्य कहाँ है! बेचारा करोड़ों प्रकार के शब्द-रस और विलास में ही जो ज्ञान खण्ड की विशेष निधि है निमग्न हो सचाई को गवा बैठता है।[३] तीसरे खण्ड का वर्णन सरम खण्ड के नाम से किया गया

१ Japji—Commentry by Sant Kripal Singh.

२ धरम-खण्ड का एहो धरमु, गिआन-खण्ड का आखहु करमु।
केते पवण पाणी बैसंतर, केते कान महेस।
केते बरमें घाड़ति घड़ीअहि रूप रंग के वेस।
केतीआ करम भूमी मेर केते केते धू उपदेस।
केते इंद चंद सूर, केते केते मंडल देस।
केते सिध बुध नाथ केते केते देवी वेस।
केते देव दानव मुनि केते केते रतन समुन्द केतीआ खाणी केतीआ बाणी।
केते पात नरिन्द। केतीआ सुरती सेवक केते नानक अन्तु न अन्तु।
(जपुजी पउड़ी ३५)

३ गिआन खण्ड महि गिआन परचण्ड तिथै नाद विनोद कोड अनंदु।
जपुजी पउड़ी ३६।

है। सरम से अभिप्राय है श्रम। ज्ञान प्राप्त कर विश्व की अनन्तता के साक्षात्कार के लिये आगे बढ़ने के लिये स्वयं मेहनत करने की आवश्यकता पड़ती है। श्रम के इस खण्ड में वह मेहनत से सचाई की खोज करता है। मेहनत में आनन्द होता है अतः इस खण्ड की वाणी अति सुन्दर, मीठी और सरस होती है। यहाँ की रचनायें या कृतियाँ भी सौन्दर्य की *साक्षात् प्रतिमायें* होती हैं। अद्वितीय सौन्दर्य यहाँ छाया रहता है। सच तो यह है कि यहाँ की बातें अकथनीय अनिर्वचनीय हैं। यह रहस्य और भेद का दृष्टिकोण है, यदि कोई उस रहस्य का खोलने का दुष्प्रयास करता है तो उसे पीछे पछताना पड़ता है। यह स्थान आत्मा और मन का शुद्धिकरण स्थान है। यहाँ आत्मा निष्कलुष हो जाती है बुद्धि की तर्क प्रधानता का नाश हो जाता है विश्वास और संकल्प के नेत्र उघड़ते हैं। (श्रम इन सब स्थितियों का उत्तरदायी है)। देवताओं और महान् सिद्धों-योगियों को भी वास्तविक ज्ञान मेहनत के इस खण्ड में ही होता है। ज्ञान मनुष्य को अहंकार देता है जबकि श्रम नम्रता का जनक है और आध्यात्मिकता के नाम पर अहंकार के छकड़े की नहीं विनम्रता के रथ की आवश्यकता पड़ती है।[1]

करम (दया कृपा रहम बख्शिश) खण्ड में व्यक्तिगत गुणों का कोई महत्त्व नहीं होता। जो जीव स्वयं प्रयत्न करते हुए भी अपने को उस मालिक-परमेश्वर की दया का पात्र बनाते हैं अपने को उसकी कृपा के अधीन रखते हैं वे इस खण्ड की सीमा बढ़ाते हैं; अर्थात् वे अकाल-पुरुष के अधिक निकट आ जाते हैं। इस समीपताको पाकर यदि जीव उसका गुणगान करता है उसे अपने मन में बसा लेता है तो करम खण्ड में रह कर उसका निकटता का सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता है—वह सच-खण्ड का अधिकारी बनता है, और अकाल-पुरुष से एकाकार प्राप्त कर लेता है। यही जीव का वास्तविक लक्ष्य है। "करम-खण्ड (दया का देश) की वाणी बड़ी जोरदार है उसकी प्रत्येक स्थिति सशक्तता की प्रतीक है। अतिरिक्त धर्म-शक्ति के यहाँ और कुछ नहीं। यहाँ तक पहुँचने वाले जीव निश्चय ही महाबली शूरवीर होते हैं। उनकी शूरता किसी युद्ध-क्षेत्र में वीरता-कर्म-धारण करने में नहीं मालिक को हृदय में बसाने में निहित है, 'तिन महि राम रहिआ भरपूर'। वे परमात्मा की महिमा रूपी सीता में एकरस अपने चित्त को जोड़े रहते हैं। उनके स्वरूप का वर्णन अगम और दुष्कर है। वे अमरलोक वासी हो चिर-जीवी बन जाते हैं उनके अन्तर में ईश्वरीय प्रकाश छाया रहता है और वे कभी माया के धोखे में नहीं पड़ते वास्तविकता को पहचानते

---

१ सरम-खण्ड की बाणी रूपु तिथै घाड़ति घड़ीऐ बहुतु अनूपु।
ता किया गला कथिआ न जाहि जे को कहै पिछै पछुताहि।
तिथै घड़ीऐ सुरति मति मनि बुधि तिथै घड़ीऐ सुरा सिधा की सुधि। पउड़ी ३६।

है। करम-खण्ड वह देश है जहाँ लोक-लोक के भक्त-जीव परमानन्द को प्राप्त करते हैं।"[1]

करमखण्ड से भी ऊपर स्वयं ब्रह्मलोक स्थित है। गुरु नानक ने इसे सचखण्ड कहकर पुकारा है। इसी लोक में स्वयं अकाल-पुरुष सत्य के स्वामी और स्थिर सिंहासन पर विराजमान हैं और अपनी रचना के खेलों को देख देख कर प्रसन्न होता रहता है। यहाँ अनेक खण्ड-ब्रह्माण्ड ग्रह सूर्य चाँद और तारा मण्डल दृष्टिगत होते हैं ये सब उसी सचखण्ड की सेवा में संलग्न हैं। कोई उसका वर्णन करना चाहे तो वह अपरम्पार है अनन्त है वहाँ वर्णन की पूर्ति असम्भव है। वहाँ भाँति-भाँति के लोक हैं भिन्न स्वरूपों के स्थान हैं और जिसको जैसी आज्ञा मिलती है वह वैसी कर्तव्य-पूर्ति करता है। आप निर्लिप्त रहकर, अपनी इस महामाया की माया को अकाल-पुरुष देखता और प्रफुल्लित होता है। गुरुनानक फरमाते हैं कि उक्त लीला का कथन सहज नहीं लोहे सरीखा कठोर है।[2] जपुजी साहिब के अन्तिम श्लोक में गुरु नानक ने जीवों के काल वश मे होने तथा मुक्ति-साधन प्राप्त कर सतिपुरुष में लीन होने का अन्तर स्पष्ट किया है। यों तो संसार मे जन्मने वाला प्रत्येक पुरुष प्राकृतिक नियमों के अधीन पनपता है और नश्वर होने के कारण मरता है दोनों की परिस्थितियाँ बराबर होती हैं परन्तु कर्मफल अपना-अपना ही उपलब्ध होता है। काल-फंद में फँसे जीवों की अच्छाइयों-बुराइयों को लेखा बनाकर पुनः जन्म मरण के चक्कर में भेज दिया जाता है और सत्य प्रिय आत्मायें सदा के लिये अमर-लोक गामी होती हैं। गुरुनानक लिखते हैं सभी जीवों का जनक पोषक और विनाशक एक है—पवन सबकी गुरु है क्योंकि केवल वायु द्वारा वाणी उत्पन्न कर शिक्षा दी जाती है। पानी पिता है। केवल जल से ही उत्पत्ति सम्भव है। धरती माननीय माता है, केवल उसी में से सबका उत्पादन होता है। पुनः रात्रि दाय है जिसकी गोद में विश्व विश्राम करता है दिवस बच्चों को खिलाने वाला दास है। उसकी गोद में संसार के समस्त जीव भिन्न प्रकार के खेल रचते हैं। अभिप्राय यह है कि एक ही माता-पिता से जन्म-धारण कर

---

१ करम-खण्ड की बाणी जोरु तिथै होरु न कोई होरु।
तिथै जोधु महाबल सूर, तिन महि राम रहिआ भरपूर।
तिथै सीतोसीता महिमा माहि ताके रूप न कथने जाहि।
न ओहि मरहि न ठागे जाहि, जिनकै राम वसै मन माहि।
तिथै भगत वसहि के लोअ करहि अनन्द सचा मनि सोइ। जपुजी पउड़ी ३७।

२ सचखण्डि वसै निरंकारु करि करि वेखै नदरि निहाल।
तिथै खण्ड मण्डल वरभंड जे को कथै त अंत न अंत।
तिथै लोअ लोअ आकार जिव जिव हुकमु तिवै तिव कार।
वेखै विगसै करि वीचारु नानक कथना करड़ा सारु। जपुजी पउड़ी ३७।

एक ही गुरु से दीक्षा लेकर, एक ही माय की गोद में विश्रामकर और एक ही दास के साथ खेलते हुए निजजन कर्मों से फिर भी जुदा-जुदा हैं। सबके अच्छे और बुरे कर्मों का अभिलेख धर्मराज (काल-शक्ति) के सम्मुख पढ़ा जाता है और दूर या समीप के निजी-कर्मों के भोगफल का निर्णय सुना दिया जाता है। कोई ईश्वर की समीपता पा लेता है और कोई उससे और भी दूर हो जाता है।[1]

स्पष्ट है कि काल अति निम्न स्तर की एक मायावी शक्ति है और दयाल वह महान् शक्ति है जिसका नाम रूप गुण आयोजन कुछ भी शब्दों की सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। गुरु नानक अकाल-पुरुष की स्तुति में कहते हैं "तू अकाल है काल नहीं अनादि और अनन्त है इसलिये जन्म-मरण से परे है। तू महान् अगम और अगोचर है। तेरी वास्तविकता को पहचानना बड़ा कठिन है। काल के फंदे इतने विस्तृत हैं कि उसकी बाहरी सीमा तक दृष्टि से जाना भी समस्या बन रहा है। सत्य और सन्तोष का प्रतीक तेरा शब्द अति मनोहर और रमणता को शीतल करने वाला है। जो कोई सहज भाव से लिव लगाय तेरा शब्द सुने और उसके रहस्य को समझे वह काल-मुक्त हो सकता है। तू तीन लोक से दूर (स्पष्ट है कि तीनों लोक काल-शक्ति द्वारा पोषित हैं परन्तु अकाल-पुरुष उससे भी उच्चपदासीन है।) चौथे घर तुरिया अवस्था में विराजता है। केवल तू जन्म-मरण का अपवाद है तूने काल विकाल को ग्रस लिया है। तेरी निर्मल ज्योति सम्पूर्ण जग-जीवन में प्रकाश फैला रही है तू कण-कण में समाया है परन्तु माया के पर्दे के भीतर से जीव तुम्हें पहचान नहीं पाते। पहचानने के लिए तेरी कृपा और सतिगुरु के अवलम्ब की आवश्यकता है।"[2] जीव की काल के सामने एक नहीं चलती। वह मर्कट की भाँति काल प्रकृति के इशारे पर चलता है। ब्रह्म या अकाल-पुरुष की प्राप्ति जीव में

---

१ पवणु गुरु पाणी पिता माता धरती महतु।
दिवसु राति दुई दाई-दाइआ खेलै सगल जगतु।
चंगिआईआ बुरिआईआ वाचै धरमि हदूरि।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि।
जिनि नामु धिआइआ गए मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि।

(जपुजी अन्तिम श्लोक)

२ तू अकाल-पुरखु नाही सिरि काला। तू पुरखु अलेख अगमं निराला।
सति संतोखि सबदु अति सीतलु। सहज भाइ लिव लाइआ।
त्रै वरताइ चौथै घरि वासा। काल बिकाल कीए इक ग्रासा।
निरमल जोति सरब जगु जीवनु। गुरि अनहद सबद दिखाइआ।
मारू म० १ पृ० १०३८।

एक सजीव-जिज्ञासा की अपेक्षा रखती है जिसकी तृप्ति किसी सच्चे महात्मा के चरणों में बैठकर अनुभव की उपलब्धि से ही सम्भव है।

(३) अकाल-पुरुष का स्वरूप

यह चेतन-तत्त्व जो अपने में परिपूर्ण है विश्व का रचयिता होने के नाते स्वयं अपरिवर्तनशील तथा देश-काल की सीमाओं से परे है जो अखण्ड सत्य का प्रतीक है जो अपने में सबको एवं सबमें अपने को बसाये हुए है वही अकाल-पुरुष सत्पुरुष निरंजन ब्रह्म या परमेश्वर कहलाता है। गुरु गोबिन्द सिंह के युग में उसे 'सतिश्री अकाल' भी कहा गया। सतिश्रीअकाल में उसके स्वरूप के तीन मुख्य पहलू लिये गये—सत्य (The Truth) श्री (The God) तथा अकाल (The Endless)। फिर भी तथ्य यह है कि उसका सामान्य रूप हमारे लिये बरतन के पानी जैसा रहा है। जैसे पानी भिन्न रूप के बर्तनों में पड़कर भिन्न रूप धारण किये दीखता है यद्यपि उसकी वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता वैसे ही सर्वव्यापी ब्रह्म हमारी आँखों पर लगी धोखे की टट्टी के कारण (माया) सृष्टि के भिन्न पहलुओं में बसा भिन्न रूप में दिखाई देता है। 'अन्धों के हाथी' की तरह जिसने जैसा अनुभव किया वह ब्रह्म को वैसा ही निरूपित करने लगा—यद्यपि ब्रह्म उन निरूपणों में से कोई भी नहीं और वह सब कुछ है भी। अनुभवी महापुरुषों ने समय-समय पर उसके अनेकानेक पहलुओं का आभास प्राप्त किया और जन-साधारण के मार्ग-प्रदर्शनार्थ ब्रह्म के उस विशिष्ट स्वरूप-गुण का निरूपण करते रहे। परन्तु वे सब यह भी मानते थे कि उनके द्वारा निर्देशित मात्र ही ब्रह्म नहीं 'वह' और भी बहुत कुछ है। उस असीम का कोई भी सीमित रूप या अनुभव उसकी सम्पूर्ण परिभाषा कदापि नहीं बन सकी। इसीलिये महात्माओं ने सत्पुरुष का सर्वसम्मत चित्रण करते हुये भी यही कहा कि वह अनिर्वचनीय-सत्य है अध्यात्मिकता का महानतम परन्तु अवर्णनीय सत्य है। उसे हमारी शाब्दिक परिभाषाओं की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। अनुभवी महात्माएँ उसको पहचानकर परमानन्द की स्थिति को प्राप्त करती हैं तो भी वे दूसरे को उसकी वास्तविकता पूर्णतया बता नहीं सकतीं अनुभव करा सकती हैं। यही कारण है कि केवल विश्वास लाने वाले कुछेक व्यक्ति ही उन महात्माओं का अनुसरण कर पाते हैं और मोक्ष के अधिकारी बन सतिपुरुष को पा जाते हैं। इसीलिये तो विश्वास उसकी प्राप्ति के मार्ग की पहली महत्ता है। गुरु नानक भी उन्हीं महान् एवं अनुभवी मुक्तात्माओं में से एक थे जिन्होंने उस 'रब' को केवल पहचाना और अनुभव किया-कराया ही नहीं प्रत्युत उसका प्रतिनिधित्व भी उन्हें मिला था। उन्होंने लोक कल्याणार्थ उस सतपुरुष के स्वरूप चित्र जहाँ तहाँ अपने काव्य में प्रस्तुत किए हैं। वे स्वीकार करते थे कि मालिक के गुण अकथनीय हैं तो भी जिज्ञा

गुणों को समझाने के लिए, उनमें वास्तविकता के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए, सतिपुरुष के अनेकानेक गुणों का संकेत वे अपने शब्दों में करते रहे हैं। स्वरूप और गुणों का निर्णय तो न आजतक किसी ने किया है न कर सकेगा हम भी यहाँ गुरु नानक द्वारा निर्देशित गुणों में से कुछेक मुख्य पहलुओं का विवेचन मात्र करेंगे ताकि विषय-पूर्ति में हम जान सकें कि अकाल-पुरुष की सत्ता के सम्बन्ध में गुरु नानक का क्या मन्तव्य था।

(क) अनादि-अनन्त—उक्त तत्त्व का न आदि है न अन्त। किसी ने उसका निर्माण नहीं किया वह स्वयंभू है। आरम्भ में केवल वही था। वह सत्य है सत्य का अन्त नहीं होता अतः प्रलय के बाद भी उसका अस्तित्व ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इच्छा अस्थायी झूठी और सामयिक हो सकती है परन्तु इच्छुक का अस्तित्व सत्य ही होगा। सत्पुरुष परम शक्ति है, उससे बड़ा और कोई नहीं। गुरु नानक लिखते हैं कि वह आदिपुरुष है जिसके पूर्व से उसका अस्तित्व है और वह अपार, अतुल तथा अथाह शक्ति वाला है। वह सर्वव्यापी पारब्रह्म जिसका यहाँ अनुदिन प्रसार दीखता है मन और ज्ञानेन्द्रियों से बहुत परे की सत्ता है। वह युग-युग से चला आ रहा है, उसका कोई आरम्भ नहीं न अन्त होगा। उसके अतिरिक्त शेष सब झूठ है।[1] गुरु नानक ने जपुजी साहिब में भी संकेत दिया है कि बाहरी आकारों से सतिपुरुष का निर्माण असम्भव है किसी की क्रियाओं से उसके अस्तित्व-अनस्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो स्वयं सर्वस्व है माया रहित आत्मयुक्त है, इसलिये उसके बनने-बिगड़ने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।[2] और भी "जब यह सृष्टि न थी खण्डों-ब्रह्माण्डों ग्रहमण्डलों की रचना भी अभी न हुई थी नर-नारी जाति भेद सुख-दुःख कुछ न था तब भी अकाल-पुरुष की सत्ता विद्यमान थी। वेदों पुराणों या स्मृतियों में उसके उदय-अस्त की व्याख्या नहीं कही जा सकती अपने रहस्यों का वक्ता-श्रोता वह स्वयं है। अरूप होते हुए भी स्वेच्छा से वह किसी पर भी प्रकट हो सकता है खण्ड-ब्रह्माण्ड पातालादि तो उसकी माया का स्वरूप हैं जो आवश्यकतानुसार प्रकट हो गये हैं।"[3] बाइबल में भी उक्त भावना

---

१ सचु साहिबु आदि पुरखु अपरंपरो धारे राम।
अगम अगोचर अपर अपारा पारब्रह्मु परधानो।
आदि जुगादि है भी होसी अवरु न झूठा सभु मानो।

२ थापिआ न जाइ, कीता न होइ। आपे आपि निरंजन सोइ। जपुजी पउड़ी ५।

३ ब्रह्मा बिसनु महेसु न कोई। अवरु न दीसै एको सोई।
नारि पुरखु नही जाति न जनमा ना कोई दुखु सुखु पाइदा। १५ ४।
बेद कतेब न सिम्रिति सासत पाठ पुराण उदै नही आसत।
कहता बकता आपि अगोचरु आपे अलखु लखाइदा। १५ १३।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सम्भवतः इसी प्रकार कही गई है, "ईश्वर के अतिरिक्त वहाँ कोई न था। उसने रचना रचने की इच्छा प्रकट की और उसकी आज्ञा का सत्वर पालन हुआ।"[1] अभिप्राय यह कि जब उसके गुणों का अन्त नहीं वह बड़े से बड़ा है उसकी थाह कोई नहीं ले सका उसकी कृपाओं और कार्यों का कोई अन्त नहीं तो भला उसका अन्त क्योंकर हो सकता है ? वह अनन्त है अनादि है।

(ख) सतपुरुष निर्गुणरूप—आदिग्रंथ के एक पद में (पद २ १, सोरठ, म० १ पृ ५९७) जहाँ सतपुरुष को काल-क्रम रहित अयोनी तथा सम्भव (स्वयंभू) कहा गया है, वहाँ रूप वर्ण रेखा का अभाव भी उसमें दिखाया है। नाम-क्रम रहित कह कर उसकी अनुपमता की ओर संकेत किया है जिसे कबीर ने "जाको मुख माथा नहीं नहीं रूप-कुरूप पुहुप-बास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप" कह कर वर्णित करने का सत्प्रयास किया था। ब्रह्म को निर्गुण या निराकार कहा गया इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसके गुण हैं ही नहीं—सभी गुण समूचे आकार उसी के तो हैं, परन्तु उसके किसी एक गुण या आकार की सीमा में बद्ध न होने के कारण उसे निर्गुण-निराकार कहा गया है। वेदों में इसी दृष्टिकोण से उसे "नेति नेति" यह नहीं यह नहीं कहकर विश्लेषण का असफल प्रयास किया था। सम्भवतः वैदिक ऋषियों-मुनियों का यह मत रहा हो कि ब्रह्म 'केवल यह नहीं मात्र यह नहीं' वह तो सर्वस्व है। ऐसे में ब्रह्म का स्वरूप 'नेति' की अपेक्षा अस्ति अस्ति' में बोधगम्य दीख पड़ता है। वह इसलिये निर्गुण है कि सर्व-गुण-सम्पन्नता उसकी विशेषता है। वह इसलिये निराकार है कि सभी आकार उसी में से उत्पन्न हुये हैं। प्रश्न उठता है कि यदि वह निराकार होता तो आकार कहाँ से बनते ? यदि वह निर्गुण है तो सृष्टि के विभिन्न गुण कहाँ से आये ? सृष्टि की रचना उसने क्योंकर की ? ब्रह्म अकाल-पुरुष के अन्तर से ही सब उत्पन्न हुआ है; यही तो उसकी विशेषता है कि समस्त गुणों-आकारों नामों-रूपों को जन्म देकर भी वह स्वयं किसी विशिष्ट नाम-रूप गुण-आकार से सम्बद्ध नहीं। यही कारण है कि गुरु नानक तथा उनके अनुयायियों ने वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म तथा कबीर का अनुकरण करने की अपेक्षा अकाल-पुरुष को भिन्न कोण से देखा। उसे इसलिए निर्गुण माना कि वह अगुण नहीं सर्वगुण है। उसे १ओंकार कहा क्योंकि

(शेष पिछले पृष्ठ का)

विरले कउ गुरु सबदु सुणाइआ करि करि देखै हुकमु सबाइआ।
खंड ब्रह्माण्ड पाताल अरम्भे गुपतहु परगटीआइदा।

१५ १५, मारू सोलहे, म० १ पृ० १०३५ ३६।

1 There was none but God. He said let there be light and there was light. *Bible*

उसकी अनन्तता इतनी व्यापक हो गई है कि कभी भी भाई भटकी हुई आत्मा खोया जा सकती है। उसके मूलवाचक के साथ 'एक' का विशेषण लगाने का तात्पर्य सम्भवतः यही था कि उसके गुणों और आकारों की महनीयता को एक ओर सीमित कर उसकी स्वतन्त्र पूर्णता और गुणाकार रहितता में विश्वास बढ़ाया जा सके। सिक्ख-गुरुओं ने सतिपुरुष को निर्गुण स्वीकार करते हुये भी उसके सगुण-स्वरूप की उपेक्षा नहीं की। वे वेदान्तियों की तरह सृष्टि के मायावी प्रसार को झूठा तो मानते हैं, परन्तु शून्य नहीं उसकी रचना चिर-सत्य की इच्छा से हुई है इसलिये वह शून्य कदापि नहीं हो सकता। उसका झूठा होना इसलिये सम्भव है कि रचयिता ने केवल मनोरंजनार्थ खिलवाड़ रूप में उसका निर्माण किया था और प्रायः खिलवाड़ कृत्रिम और अस्थायी हुआ ही करते हैं। फिर भी गुरु नानक ने जपुजी में "नानक सच्चे की सच्ची कार" कहकर विश्व के खण्डों-ब्रह्मण्डों की सत्यता स्वीकार की है, परन्तु क्योंकि वह हमारा लक्ष्य नहीं, उसके साथ बँधे रहना गलती होगी इसलिये लक्ष्य रूप में मायावी सीमायें निश्चय ही झूठी मानी जायेंगी। निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त-महात्माओं ने इसी उद्देश्य से सृष्टि को झूठ कह कर जीव को सच्चा लक्ष्य ढूंढने की प्रेरणा दी है—अन्यथा सिक्ख-विचारधारा की यह अभिव्यक्ति सदा के लिये स्पष्ट हो जानी चाहिये कि गुरु साहिब विश्व को वेदान्ती रूप में झूठा और शून्य एवं ब्रह्म को वेदान्तिक दृष्टिकोण से निर्गुण और निराकार कदापि नहीं मानते। उनके मतानुसार विश्व इसलिये झूठा है कि वह जिज्ञासु आत्मा का लक्ष्य नहीं और ब्रह्म इसलिये निर्गुण है कि वह किसी एक विशिष्ट गुण की सीमा में बँध नहीं सकता। तभी तो गुरु अर्जुनदेव ने जोर देते हुए लिखा है कि वह सतपुरुष निराकार है पर साकार भी है वह निर्गुण है परन्तु उसमें सगुणता का अभाव नहीं। उस एक का बखान एक रूप में भी प्रिय है और अनेकता भी उसमें मान्य है। परमेश्वर ने स्वयं गुरमुखों के आकार बनाये हैं। परन्तु फिर भी सबको एक ही सूत्र में पिरो रखा है सबके पीछे एक ही शक्ति कार्यान्वित है। पृथक-पृथक तीनों गुणों का प्रसार उसकी सृष्टि में उपलब्ध है। मृत्युलोक के प्राणी अधिकतर रजोगुणी हैं पाताल वासियों में तमोगुण प्रधान है और देवी-देवता आदि स्वर्गिक आत्माएँ सतगुण में निसृजित बनाई गई हैं। इन सबका प्रसार रचयिता के निर्गुणाकार को स्वरूप देता है। जिससे वह निर्गुण होते हुए भी सगुणित दिखने लगता है।[1]

---

१ निरंकार आकार आपि निर्गुन सरगुन एक।
एकहि एक बखानणो नानक एक अनेक।
ओअं गुरमुख कीनो अकारा। एकहि सूत परोवनहारा।
भिन-भिन त्रैगुण बिसथारं। निरगुन ते सरगुन द्रिसटारं।

२ १ बावन अखरी राग गउड़ी म० ५, पृ० २५०।

(घ) सर्व व्यापक एवं सर्व-शक्तिमान्—पीछे संकेत किया जा चुका है कि अकाल पुरुष विश्व का रचयिता है और अपनी विश्व-रचना का रक्षक बना अणु-अणु में व्याप्त है। वह एक है परन्तु समस्त खण्ड-ब्रह्माण्डों में छाया हुआ है। वह हर जीव में है प्रकृति के प्रत्येक अंश में विद्यमान है परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि हम उसे देख नहीं पाते। केवल सतिगुरु ही ज्ञान दीपक देकर उस रहस्यमय तत्त्व को दिखाने की सामर्थ्य रखता है।[1] जिसने उसके व्यापकत्व का अनुभव किया है वह जानता है कि सत्पुरुष सब कुछ स्वयं ही है उसके बाहर कुछ नहीं। कहता श्रोता और वृत्तान्त (Informant, Informed and the Information) वह सब स्वयं ही है। गुरु नानक ने राग सिरी में 'आपे'[2] के अन्तर्गत उसका (ब्रह्म का) सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। 'वह स्वयं गुण है गुण कहने और विचारने वाला भी वही है। रत्न उसकी परख और उसकी ऊँची कीमत सब कुछ स्वयं है। सम्मान देने वाला वह है सम्मान भी वही है। निर्मल हीरा वह है हीरे की ज्योति वह है उज्ज्वल मोती है भक्त विशिष्ट है वह सर्वस्व है घट-घट में व्याप्त है अव्यक्त होते हुये भी गुरु-कृपा से वह प्रकट्या है। वह सागर है सागर का आर-पार है और साथ ही पार लगने का बोहिथा (पोत) भी वह है। मार्ग वह है पथिक भी है और शब्द की धुन पर पथ की पूर्ति की तल्लीनता भी उसी में निहित है—आदि।[3] इस वर्णन से यह तो निश्चित हो ही जाता है कि वह सब में छिपा है इसलिये सर्व-व्यापक है। 'सरब जीआ जगि जोति तुमारी जैसी प्रभु फुरमाई हे' (मारू सोलहे १) के गायक गुरु नानक स्वभावतः ही उसके सर्व-व्यापकत्व में विश्वास रखते होंगे। उनका कथन है कि जहाँ तक मानव-दृष्टि उठती है एक उसके अतिरिक्त दूसरा कोई दीख ही नहीं पड़ता। वह सब वस्तुओं जगहों और आकारों में समाया हुआ है,[4] प्राणियों की अन्तरात्मा उसी की ज्योति से प्रकाशित है वह सब जीवों में व्याप्त है। व्यापकता के साथ-साथ उसमें सम्पूर्ण शक्तियों का निवसित होना भी उसकी विशेषता है। वह अपने में इतना सम्पूर्ण है कि उसके अतिरिक्त सब शक्तियाँ शून्य हैं। ध्यान रहे ब्रह्म के सर्वशक्तिमान होने के सम्बन्ध में गुरु नानक का दृष्टिकोण सत

---

१ एक महि सरब सरब महि एका एहि सतिगुरु देखि दिखाइ।
रामकली अष्टपदी ८ ४, म० १ पृ० ९०७।

२ वह स्वयं।

३ राग सिरी पृ० ५४।

४ जह देखा तह एको सोई ...
एका रवि रहिया सभ थाई, एकु वसिआ मन माहि।
आसा पटीलिखी १३ पृ० ४३३।

प्रतिपादित अद्वैतवादी सिद्धान्त से मेल खाता है। माया तो धोखा है शक्ति नहीं। अतः यदि उसकी किसी शक्ति का रूप दिखाई पड़ता भी है, तो वह सत्पुरुष की इच्छा के सामने शून्य हो जायगा। यहाँ माया की शक्ति को झूठी कहने का तात्पर्य केवल ब्रह्म के सम्मुख उसकी अशक्तता दिखाना है। गुरु नानक ने लिखा भी है कि अकाल-पुरुष की आज्ञा के बाहर कभी कुछ नहीं होता; जो उसे अच्छा लगता है वह करता है। उसके कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता वह बादशाहों का भी बादशाह है सब उसकी सत्ता के सम्मुख नतमस्तक रहते हैं।[1] ब्रह्म की सर्वव्यापकता और शक्ति का सुन्दर स्वरूप गुरु गोविन्द के 'अकाल-उस्तत' के १ ५१ से २०-३० तक के विराज छन्दों में प्रस्तुत किया गया है। हरि क्या है, कहाँ है और उसकी पहुँच कहाँ तक है आदि बातों की अभिव्यक्ति दशम गुरु ने अकल्पित श्रद्धा से की है। गुरु नानक ने भी सत पुरुष की शक्ति का ऐसा ही रूप चित्रित किया है। वह रचता है नाश भी स्वयं ही करता है, प्राणियों के कर्म-अकर्मों का वितरक भी वह स्वयं ही है। वह निन्दक और पुनर्सर्जक है मार्ग भी है मार्ग पर चलाने वाला भी है और चतुर है। मनाने के उपाय भी जानता है। पवन पानी और अग्नि के तत्त्व भी उसी में से प्रकटे हैं और वह उनके मिलाप से रचनाकार का पद भी पाए हुए है। चाँद-सूर्य में वह है ज्ञान-ध्यान में रम रहा है, जीव वह है और मुक्ति-मार्ग का बोधक गुरु भी वह स्वयं ही है। गुरु नानक कहते हैं कि ऐसे शक्तिशाली चिर-सत्य से प्रीति बढ़ाने से काल के फंद उस ओर कभी नहीं फँसते।[2] वस्तुतः गुरु नानक भी अन्य संत-महात्माओं की तरह पारब्रह्म-परमेश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् मानते हैं।

(घ) सर्वज्ञता-सर्वप्रज्ञता—सर्वव्यापक ब्रह्म का सर्वज्ञाता होना स्वाभाविक है। कणकण में व्यापक वह आदि तत्त्व कहाँ क्या है का ज्ञानकार तो होना ही चाहिए। पुनः जो हुआ या होता है वह उसकी आज्ञा से हुआ या होता है उस सम्बन्ध में उसका ज्ञाता होना निसर्ग-सिद्धान्त के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। गुरु नानक का कथन है—

सचे पातिसाहि परमेसर वेखण को परपंच कीआ।
देखै बूझै सभु किछु जाणै अन्तरि बाहरि रवि रहिआ।
(आसा पटी लिखी २४) पृ० ४३३।

---

१ जो तिसु भावै सोई करसी फिरि हुकमु न करणा जाई।
सो पातिसाहु साहा पातिसाहिबु नानक रहणु रजाई। राग आसा, म० १ पृ० ६।

२ आपि उपाए, आपि खपाए। आपे सिरि सिरि धंधै लाए आपे वीचारी गुणकारी आपे मारगि लाई है। २। आपे दाना आपे बीना। आपे आपु उपाइ पतीना। आपे पउणु पाणी बैसन्तरु आपे मेलि मिलाई है। ३। आपे ससि सूरा पूरो पूरा। आपे गिआनि धिआनि गुरु सूरा। कालु जालु जमु जोहि न साकै साचे सिउ लिव लाई है। मारू सोलहे पृ० १०२।

उसके लिये ऊँच-नीच जाति-पाँति का भेद भाव नहीं रहता वह सदैव अपने पुकारने वाले का सहायक है और जिज्ञासु का अवलम्ब । इसीलिये वह सर्वप्रदाता भी है । जिसे जो चाहिए, वह देता है—आवश्यकता है उस पर विश्वास लाने की उससे प्रेम बढ़ाने की और उसकी आराधना करने की । वह महान है, जिस पर मन आया अपनी कृपाओं से उसे मालामाल कर दिया वह विपथ पर जाने वाले को भी देता है। वह महान है इसलिए पाप भी क्षमा । परन्तु उसकी सर्वोच्च महानता अपने भक्तों की पुकार पर, उनके उद्धार के लिये समय समय पर अपने प्रतिनिधियों को भेजने में साकार हो उठी है गुरु नानक ने लिखा है 'वह दाता है देते समय ऊँच-नीच जाति-पाँति नहीं देखता । महान की सम्पदा महानता है वह इच्छानुसार जिसे चाहे दे सकता है । वह अपनी आज्ञा का तत्पर पालन करवाता है क्षण भर भी ढील नहीं होने देता ।'[1]

अकालपुरुष दातृ-शक्ति है । उसे पाकर किसी को कोई अन्य आवश्यकता ही नहीं रह जाती । वह निर्धनों का धन है समाज के सम्मानित पात्रों का सम्मान है । अंधों का प्रकाश भक्तों की भक्ति और गिरों का सहारा है । वह भूलों को मार्ग दिखाता है पतितों का उद्धार करता है । दुखियों का दुख हरण करता है और अपने भक्तों को अपना सर्वस्व सौंप देता है । वास्तव में होम यज्ञ तर्पण और अनुष्ठान करने वाले कर्मकाण्डी तथा जप तप और आडम्बर रचने वाले तपस्वी या महन्त उस दातृ-शक्ति की प्राप्ति का सुमार्ग नहीं खोज सके । केवल सतिगुरु के बताए जीव ही सत्यता को पहचानकर दाता के कृपा-पात्र बन सकते हैं ऐसा गुरु नानक का मंतव्य है ।[2]

(ख) सर्वकर्त्ता—अकाल-पुरुष ने अपनी इच्छा से शब्द द्वारा सृष्टि के चौदह भुवनों का निर्माण किया है । उसका कार-व्यवहार अपनी इच्छा (माया) को सौंप रखा है । सृष्टि-नाटक का सर्व-शक्ति-सम्पन्न निर्देशक होते हुए भी वह मंच को माया नटी के हाथ सौंप स्वयं दर्शकों में समा गया है ताकि अपनी सफल कृति का आनन्द उठा सके । माया की करतूतों को वह जानता है परन्तु रोचक होने के कारण चुप रहता है; 'अति' होने लगे तो तब भी हस्तक्षेप करता है और एक कुशल निर्देशक की भाँति अभिनेताओं और प्रबन्धकों का मार्ग-प्रदर्शन करता रहता है । यह रूप उसका कर्त्ता रूप है । बनाता है बदलता है बिगाड़ता है और फिर बनाता है ।

---

१ वरनावरन न भावनी जे किसै वडा करेई । वडे हथ वडिआईआ जै भावै तै देइ ।
हुकमु सवारे आपणै चसा न ढिल करेइ । १ १ आसा अष्टपदी पृ० ४१ ।

२ निधिनिया धनु, निगुरिया गुरु निमाणिआ तू माणु ।
अंधुले माणकु गुरु पकड़िया निताणिआ तू ताणु ।
होम जपा नही जाणिआ गुरमति साचि पछाणि ॥

१ १०, मारू, पृ० ११२ ।

जहाँ तक दृष्टि जाती है उसीका प्रसार है। मिट्टी के एक साधारण कण से लेकर श्रेष्ठतम चेतन निर्मिति—मनुष्य तक सब उसी की देन है। उसने जहाँ जो ठीक समझा वैसा किया, सृष्टि के यह चेतन या निर्जीव और सजीव तत्त्वों की भलाई के लिये उसने सब कुछ किया है। गुरु गोविन्द सिंह लिखते हैं "वह सबका निर्माता भी है और विनाशक भी। वह अपने प्रिय जीवों की दुःख-व्याधियों और दोषों का हरण करने वाला है। जो क्षण भर भी उस करतार (रचयिता) को अपने हृदय से स्मरण करता है वह काल-जाल से न्यारा हो जाता है।"[1] पीछे ब्रह्म के अनादि अनन्त रूप पर विचार करते हुये लिखा जा चुका है कि आरम्भ में केवल एक ब्रह्म ही था धरती आकाश दिन रात और सूर्य चन्द्र भी न था, ब्रह्मा विष्णु महेश कोई न था मात्र एक की अखण्ड समाधि थी। नारी-पुरुष जाति-जन्म दुःख-सुख वेद-शास्त्र पुराण उदय-अस्त किसी का अस्तित्व न था। अचानक समाधि भंग हुई, जिस में निर्माण की इच्छा हुई और उसी एक (ब्रह्म) ने देखते ही देखते शब्द-शक्ति से खण्डों-ब्रह्माण्डों ग्रहमण्डलों तथा पातालों की रचना कर डाली।[2] सचमुच वह महानतम रचयिता है। विशेषता यह है कि उसके बराबर सुन्दर निर्माण आज तक कोई और नहीं कर सका। विज्ञान चाहे कितनी भी उन्नति क्यों न कर ले मनुष्य सरीखा सुन्दर सुघड़ चेतन जीव कदापि उत्पन्न नहीं कर सकता। चन्द्र और सूर्य जैसे आकर्षक और लाभप्रद ग्रहमण्डलों की रचना मनुष्य के बूते की बात नहीं। वे विचित्र और आश्चर्यजनक घटनायें जो प्रायः प्रकृति के खण्डों में देखने को मिलती हैं, उसकी अद्वितीयता का आकर्षक और पर्याप्त परिचय हैं। ब्रह्म सद्-शक्ति है। उसके बाहर कोई निर्माण सम्भव नहीं। वह स्वयं बनाता है और बनाने में आनन्द लाभ करता है। उसकी इच्छा सर्वोच्च है सब उसी से बनता और होता है। गुरु नानक मत कहता है कि संसार की समस्त क्रियायें उस पर आधारित हैं विश्व की स्थापना और विनाश उसके कौतुक हैं।[3]

उसने विश्व को जीवन दान दिया है मानसिक वृत्तियों का प्रसार प्रदान

---

१ छिन मैं करता छिन मैं हरता रोग सोग दोखन को हरता। एक चित जिह एक छिन धिआइउ काल फांस के बीच न आइउ। (अकाल-उस्तत, पद १०।)

२ अरबद नरबद धुंधूकारा। धरणि न गगना हुकुम अपारा। ना दिनु रैनि न चन्दु न सूरज। ब्रह्मा, विष्णु, महेश न कोई। अवर न दीसै एको सोई। नारि पुरख नहिं जाति न जनमा। ना कोई दुख सुख पाइदा। वेद कतेब न सिमृत सासत। पाठ पुराण उदै नही आसत।
...... खण्ड ब्रह्माण्ड पाताल अरंभे गुपतहु परगटिआइदा।
मारू सोलहे १५, म० १ पृ० १०३५-३६।

३ तुझते बाहरि कछू न होइ, तू करि करि देखहि जाणहि सोइ।
किआ कहिये किछु कहि न जाइ जो किछु अहै सभ तेरी रजाई।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

किया है। मनुष्य के भीतर अन्तरात्मा वही है स्वयं उसमें समाया हुआ है और मृत्यु के पश्चात् जिज्ञासु का लेखा जोखने की आवश्यकता का अन्त करके उसे अमर स्थिति प्रदान करता हुआ अपने में ही मिला लेता है। उसने सृष्टि रची है, उसका नाश करके वही उसे अपने में मिला लेता है। वह एक सर्वस्व है, उसके अतिरिक्त और कोई नहीं यथा—

जिनी सिरी[1] साजी तिनि फुनि गोई[2]
तिसु बिनु दूजा अवरु न कोई।[3]

(ख) कृपालु और क्षमाशील—सत्पुरुष दयालु है। वह जीवों का परम हितैषी है। ठीक है कि रचना की इच्छा से उसने अपने प्रिय जीवों को माया के हवाले किया परन्तु उनका अहित वह कभी सहन न कर सका। जब-जब उन्हें कष्ट में देखा उनकी पुकार सुनी वह उनकी रक्षार्थ व्याकुल हो उठा। अपने तक पुनः पहुँचने का मार्ग प्रदर्शित करने के लिए भिन्न-भिन्न महात्माओं और सन्तों के रूप में वह अपने प्रतिनिधि भेजता रहा। भविष्य में भी यह क्रम टूटने का नहीं। उसकी कृपालुता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि परीक्षा में पड़े जीवों के लिए भी इहलोक में समस्त सुविधाएँ जुटाए हुए है। उसी की कृपा जीव के उद्धार का मात्र साधन है। उसकी कृपा अपार है किसी बन्धन या नियम तक सीमित नहीं। भूल से अपने बालक के स्नेहात्मक नाम से भगवान् को पुकार लेने वाले मुक्त हुए कहे जाते हैं। तोते को परमेश्वर-नाम सिखाने का प्रयत्न करने वाली निकृष्ट कुल्टा वेश्याएँ भवसागर से पार हुई मानी जाती हैं तो भला साधारण जिज्ञासु उसकी कृपा का पात्र क्यों न बनेगा! वह अकाल-पुरुष तो कुल-वर्ण जाति-वर्ग से परे सब पर अपने वरद-हस्त की छाया सदैव किये रहता है। यह तो प्रेम का सौदा है अतः उसकी दया-प्राप्ति में देर कैसी? देर तो प्रेम से याचना करने में है। मसीह का कथन है, "तुम माँगो मिलेगा। द्वार खटखटाओ तत्पर खोल दिया जायगा।" (शैल-प्रवचन)। अभिप्राय यह कि वह सदा से कृपा की झोलियाँ भरे खड़ा है केवल योग्य पात्र की खोज है। जरा आगे बढ़ कर माँग लो मिलने से कोई इन्कार थोड़े ही है। तभी तो गुरु नानक अकाल-पुरुष के इस सहज स्वभाव की बात बताते हुए कहते हैं कि गुरु में विश्वास लाने वाला जीव सब

(शेष पिछले पृष्ठ का)

"... करे कराए आपे आपि नानक वेखै थापि उथापि।

४ १ भैरउ पृ० ११२५।

१ सिरी=सृष्टि।
२ गोई=नाश की है या अपने में मिलाई है।
३ पद ३ २१ आसा म० १ पृ० ३५५।

भर भी जो नाम रंग में रंगा जाकर उसको पुकारे तो निश्चय ही वह स्वयं अपनी कृपा की ज्योति लिये उसका मार्ग-दर्शक बन आगे-आगे चलने लगता है।[1]

सतपुरुष क्षमा का साकार रूप है। जिस पर भी कृपा करता है उसके पूर्व-पापों को क्षमा-दान दिया जाता है। अभिप्राय यह कि कृपालुता और क्षमाशीलता दोनों सम्बन्धित गुण हैं जिनका चरम-स्वरूप सतपुरुष में विद्यमान है। काल-शक्ति का कार्य-संचालन जीव के कर्म-अभिलेख और उस पर किये जाने वाले न्याय के अनुसार जन्म-मरण-चक्र के रूप में होता है। परन्तु अकाल-पुरुष के दरबार में जीवों के भले बुरे कर्मों पर दृष्टिपात नहीं होता जिसने क्षण भर के लिए भी सच्चे दिल से उसे पुकारा उसके लाखों पापों को एक ही क्षमा दृष्टि से धूल में मिला दिया। पल-भर पहले का नारकिक कीड़ा अमर-लोक का वासी बन बैठा—यह है सतपुरुष की क्षमाशीलता की महिमा। तुलनात्मक रूप में ही लिखा है

चंगिआईआ, बुरिआईआ वाचै धरमु हदूरि।
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि।
जिनी नामु धिआइआ गये मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि। (जपुजी-श्लोक)

क्षमा का महत् गुण अकाल-पुरुष की निजी सम्पत्ति है उससे काल का कोई सम्बन्ध नहीं। काल क्षमा नहीं करता। उसके यहाँ सम्भवतः दण्ड का प्रतिकारात्मक विधान (Retributory Theory of Punishment) लागू होता है। उस दयनीय अवस्था से रक्षा की शक्ति मात्र सतपुरुष में ही है अन्यथा इस योनी-बन्धन से कभी छुटकारा नहीं।

(घ) महानता—सतपुरुष महान है। उसकी महानता उसकी रचनाओं से आँकी जा सकती है। उसके भक्तों-उपासकों के अनुभवों से अनुमान लगाया जा सकता है। उसकी विशाल कृतियों का स्वरूप उसकी महानता का प्रमाण है। चारों ओर विकसित प्रकृति उसकी अनन्तता का दिग्दर्शन करा रही है। उसकी सर्वव्यापकता और शक्तिमत्ता उसके असीम गुणों की परिचायक है। वह सबसे बड़ा है ब्रह्मा विष्णु महेश भवानी देवी-देवता भूत प्रेत किन्नर, सब उसकी कृपा पाने के अभिलाषी हैं। उसका निवास सर्वोच्च खण्ड में है। ईसाइयों के चौथे आसमान, मुसलमानों के सातवें आसमान और भारतीय दृष्टिकोण से पंचमखण्ड (सचखण्ड) में वह विराजित है। स्वभावतः ही जो ब्रह्मलोक से उस ऊँचाई तक उठ जाता है वह उसे पालेता है। उसका नाम महान है। नाम-स्मरण मात्र से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। गुरु नानक ने लिखा भी है "जिस प्रकार संयम के बिना योगी

---

१ आपे मारगि पावण हारा आपे करम कमाए।
नामि रते गुरि पूरै राखे नानक सहज सुभाए॥४॥४ वडहंस म० १ पृ० ५८१।

की तपस्या सफल नहीं होती वैसे ही नाम के बिना मनुष्य-जन्म अकारथ है।[1] सतपुरुष के नाम में वह शक्ति है कि क्षण-भर उसका जाप करने वाला भी सचखण्ड का अधिकारी हो जाता है।[2] नाम और नाम की महिमा गान करने वाले की उच्च स्थिति का सुन्दर चित्रण प्रथम पातशाही ने जपुजी साहिब में मुख्यतया 'गावै' वाले पद के अन्तर्गत किया है। इस अध्याय में उसके पूर्वोक्त तथा आगे बताए जाने वाले गुण सभी उसकी महानता का परिचय देते हैं। गुरु नानक लिखते हैं 'वह मालिक महान् है सचखण्ड वासी है। उससे भी महान् उसका नाम है जो महापुरुषों के लिए भी मुक्ति-प्रदायक है। कहावत है कि फूलों की सार वही जाने जो उनके साथ उड़े। अतः उस सतपुरुष की महानता और बड़प्पन को भी वही पहचान सकता है जो सचखण्ड तक ऊँचा उठे और अपने में सतपुरुष के गुणों का विकास कर सके लेकिन वहाँ उस तक ऊँचा उठना मत्र्यलोक के जीव के बूते की बात नहीं—अपनी महानता का जानकार वह स्वयं ही है या फिर वही उसे पहचान सकता है जिस पर वह कृपादृष्टि रखे और नाम-दान दे।"[3] गुरु नानक मानते हैं—

> तू अकाल पुरखु नाही सिरि काला तू पुरखु अलेखु अगंम निराला।
> सति संतोखि सबदि अति सीतलु, सहजि भाइ लिव लाइआ।
>
> १ मारू पृ० १०३८।

और भी कहा है—

> वडे मेरे साहिबा गहिर गंभीरा गुणी गहीरा।
> कोई न जाणै तेरा केता केवडु चीरा।
> सभि सुरती मिलि सुरति कमाई।
> सभ कीमति मिलि कीमति पाई।
> गिआनी धिआनी गुर गुरहाई।
> कहणु न जाई तेरी तिलु वडिआई।
>
> आसा म १ पृ० ९।

---

१ जिउ धन बाझहु तपु नाहीं सत संतोखु।
तिउ नामै बिनु देहुरी जमु मारै अन्तरि दोखु।
१ ७ सोरठ म १ पृ० ५९७।

२ खिन पलु नामु रिदै वसै आई नानक मिलणु सुभाइ।
१० ४ सोरठ अष्टपदी पृ ६३७।

३ वडा साहिबु ऊचा थाउ। ऊचे उपरि ऊचा नाउ। एवडु ऊचा होवै कोइ। तिसु ऊचे कउ जाणै सोइ। जेवडु आपि जाणै आपि आपि। नानक नदरी करमी दाति। जपुजी पउड़ी २४।

(ख) मात्र-सत्यम्—गुरु नानक विचारधारा ब्रह्म को चिर-सत्य स्वीकार करती है। जपुजी साहिब के प्रारम्भिक पाठ में ही "आदि सचु जुगादि सचु । है भी सचु नानक होसी भी सचु" कह कर अकाल-पुरुष के सत्य स्वरूप को मान्यता दी गई है। इसीलिए गुरु नानक ने उसके सम्बोधनों में 'सतपुरुष' शब्द को महत्त्व दिया है, क्योंकि उसका आदि और अन्त कोई नहीं वह देश-कालातीत और अपरिवर्तनशील है स्थिर, स्थायी और अद्वय-द्वितीय रचयिता है इसलिए वह सत्य है। वह दुनिया के कण कण में समाया है, तो भी उससे जुदा सचखण्ड में आसन जमाये बैठा है उसने अनेक सत्यों को उपजाया है, वह अमर, अजर, अनश्वर है इसलिए वह सत्य है। माया सत्य है उसी की इच्छा है सृष्टि का सम्पूर्ण प्रसार उसी के द्वारा हुआ है परन्तु क्योंकि यह मुमुक्षु जीव का अन्तिम लक्ष्य नहीं बन सकती यह असत्य ठहरती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य देवी-देव सब सत्य हैं सत्य के ही अंश हैं परन्तु क्योंकि उनके लिए भी जन्म-मरण का प्रकृति-चक्र लागू है वे अपूर्ण और असत्य कहे जाते हैं। विश्व की अनेक निधियाँ धन-सम्पत्ति-सम्पन्नता घर-बाहर-परिवार सब सत्य हैं क्योंकि परमेश्वर की देन हैं परन्तु क्योंकि उनमें कोई भी स्थिर नहीं वे काल-कौर के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकते। मानसिक-वृत्तियाँ—भूख प्यास वासना मोहब्बत भय और प्रेम सब सत्य हैं वे स्वयं परमात्मा का अंश आत्मा की अनुभूतियाँ हैं परन्तु क्योंकि वे चंचल और परिमित हैं उन्हें पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। अस्तु, केवल सतपुरुष या ब्रह्म ही ऐसी शक्ति बन जाती है जिसमें अमरता अचंचलता अनादि अनन्तशीलता और अकालता के गुण तथा अपने में अन्तिम लक्ष्य होने की अपरिमितता, सब एक साथ उपलब्ध होते हैं—वही मात्र-सत्य कहला सकता है। गुरु नानक का कथन है 'वही एक मात्र सत्य है उसी ने चारों ओर अपनी सत्य-प्रकाश की किरणें बिखेर रखी हैं। जिस पर उसकी कृपा हो जाय उस पर अपनी वास्तविकता प्रकट कर देता है और जीव-विशेष सत्य की कमाई करता हुआ सत्य में ही समा जाता है।'[1] आगे फरमाते हैं 'वह सच्चा सर्वज्ञ है सब सर्वस्व स्वयं है। वह सच्चा पोषक है विश्व के पालन में उसी की शक्ति कार्य-निहित है। वह अगम्य और अपरिमित तत्त्व जिसको रचने वाला कोई नहीं जो स्वयंभू है अपना रचयिता आप है केवल वही सत्य है।'[2] (शेष सब झूठ)।

---

१ सचा साहिबु एकु तूं जिनि सचो सचु वरताइआ ।
जिसु तू देहि तिसु मिलै सचु ता तिन्ही सचु कमाइआ ।

सलोक ८ आसा पृ० ४६३ ।

२ सचु सिरंदा सचा जाणीऐ सचड़ा परवदगारो ।
जिनि आपीनै आपु साजिआ सचड़ा अलख अपारो ।

१ रे, वडहंस, पृ० ५८० ।

(ख) नाम-शिवम्—अकाल-पुरुष कल्याण का प्रत्यक्षस्वरूप है; उसके दरबार में उपस्थित होने वाला पतित कुटिल या कितना ही पापी क्यों न हो उसके कल्याणकारी वरद-हस्त की छाया मिलते ही शिव-रूप हो जाता है। जीवनभर माया-मोह के अन्धकार में ठोकरें खाने वाला मनुष्य यदि अन्तिम समय भी किसी 'अनुभवी पुरुष' का दामन थाम ले तो वह शिवम् के नगर शिवलोक (सचखण्ड) का नागरिक बनने का अधिकारी हो सकता है। सत्पुरुष सबका हितैषी है शुभ-चिन्तक है स्वयं साक्षात् शिव[1] है। उसने विश्व की रचना की प्राणी और प्रकृति बनाये और माया जाल में पड़े हुए जीवों के कल्याणार्थ प्रत्येक वस्तु का आयोजन भी किया। इतना ही नहीं अपने से बिछुड़े जीवों के लिए पुनर्मिलन के सरल सहज मार्ग भी प्रस्तुत किये। उसके द्वारा समय-समय पर अमर-महानात्माओं का विश्व में भेजा जाना अपने भटके हुए जीवों को सन्मार्ग पर लगाने के सत्प्रयास तथा निजी ज्योति से उनका पथ-प्रदर्शन करना एवं अपने से वाम-मार्गी[2] अंशों को पुनः अपने में मिलाकर सन्तुष्टि लाभ करना उसके कल्याण-स्वरूप के प्रतीक हैं। 'सर्व ज्ञाता होने के नाते वह हमारी सब आवश्यकताओं को जानता है और उदारता-वश उनकी पूर्ति भी करता है। वह पूर्ण शिव है इसलिये उसका प्रत्येक सत्कर्म हमारे हित में होता है।'[3] और भी 'सत्पुरुष आनन्द का तरंगित सागर है चतुर्दिक अपने प्रिय जीवों के प्रति प्रेम की बौछारें फेंक रहा है। सत्यानन्द के ठाठें मारते हुए इस सागर में हम लोग मधु मीनों की भांति उसी में मग्न होकर जीवन बिता रहे हैं। जो उसे पहचानता है वह कभी पतित नहीं होता कुल-मालिक का अनुराग उसके हृदय में स्वामित्व प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर कल्याण का प्रसाद लिये सबके हृदयों में निवास कर रहा है वह हम से कभी जुदा नहीं होता वह हमारा परम-सहचर है सब को समान रूप में प्रकाशित और आनन्दित करता है।'[4] बाइबिल के गीति पद १५ : १। २६ में भी परमेश्वर के शिवम् होने पर पर्याप्त जोर डाला गया है। वह सबकी भलाई करता और चाहता है। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति से भी उसका उतना ही प्रेम है जितना कि अपने भक्तों से है—युहन्ना पद ३। १६ इस बात का साक्षी है। उसे बुरे से कभी घृणा नहीं बुराई से घृणा है। वह बुरे व्यक्ति से अधिक प्रेम करता है ताकि वह (बुरा आदमी) प्रेमपाश में बंधकर बुराई छोड़ दे।

---

१ ध्यान रहे यहां "शिव" का अभिप्राय त्रिदेवों में से एक नहीं कल्याणकारी से है।

२ "वाम-मार्गी" यहां किसी सम्प्रदाय के लिये प्रयोग नहीं किया जा रहा। अभिप्राय भटके हुए जीवों से है।

3 Omniscient He knows our every need all generous, He supplies it, all good, His every act is for our welfare—Duncan Greenlees in the Gospel of the Guru Granth Sahib p 28

4 Ibid p. 42.

सतपुरुष द्वारा जीव-कल्याण का यह एक सजीव उदाहरण है। गुरु नानक ने ब्रह्म के कल्याणकारी रूप का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है

जैसी है तैसी [redacted] आपे तू सरब जीआं प्रतिपाला।
तुम्हारी सरणि परे पति राखहु साचु मिलै गोपाला।

७ २ मलार अष्टपदी पृ० १२७४।

गुरु अर्जुनदेव जी ने सुखमनी में भी प्रभु के शिवस्वरूप के अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं। लिखते हैं 'प्रस्तुत विश्व के प्राणी काम क्रोध लोभ मोह और अहंकार के तूफानी अन्धड़ों की लपट में आये हुए बार-बार जन्म ले रहे हैं उनके लिए कहीं मोक्ष नहीं। परन्तु कल्याण का प्रत्यक्ष रूप सतपुरुष सब जीवों पर कृपा का वरद्-हस्त उठाये है और उनके जन्म-मरण के चक्र में पड़ने के कष्टों का हरण कर रहा है।'[1] स्पष्ट ही अकाल-पुरुष ब्रह्म जीवों की भलाई के लिये ही सब कुछ करता है। वह परम-पुनीत है उसके विचार-मात्र से कुटिलतम जीवन भी पवित्र हो जाता है। जैसे पारस हर प्रकार के लोहे को चाहे वह कसाई का टकुआ हो या तपस्वी का त्रिशूल बिना किसी भेदभाव के स्वर्ण बना देता है वैसे ही सतपुरुष पर विश्वास लाने वाले जीव हों या उनके सब पर उसका करम होता है। वह सबका हितैषी है। वह स्वयं तो है ही उसका स्मरण और नाम भी शिव है। एक बार उसे स्मरण करने वाला जीव विश्व की सभी यातनाओं से निवृत्त हो जाता है। गुरु अर्जुन लिखते हैं

प्रभ कै सिमरनि गरभि न बसै। प्रभ कै सिमरनि दूखु जमु नसै।
प्रभ कै सिमरनि कालु परहरै। प्रभ कै सिमरनि दुसमनु टरै।
प्रभ सिमरत कछु बिघनु न लागै। प्रभ कै सिमरनि अनदिनु जागै।
प्रभ कै सिमरनि भउ न बिआपै। प्रभ कै सिमरनि दुखु न संतापै।

सुखमनी श्लोक २ पृ० २६२।

(ङ) मात्र तत्त्वम्—यह तो पीछे सिद्ध हो ही चुका है कि ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति हुई है और उसकी अपनी इच्छा ही उत्पादन शक्ति है। अब देखना है कि गुरु नानक विचारधारा के अनुसार उस सम्पूर्ण उत्पत्ति का नाश-लय भी वह स्वयं है सबको उसी में समा जाना है। जैसे अग्नि से कोटि-कोटि चिनगारियाँ निकलती हैं सब पृथक्-पृथक् रहती हुईं पुन अग्नि में ही समा जाती हैं, जैसे भूमि के कण वायु

---

१ बैर बिरोध काम क्रोध मोह। झूठ बिकार महा लोभ ध्रोह।
इआहू जुगति बिहाने कई जनम। नानक राखि लेहु आपन करि करम।

७ ४, सुखमनी, म० ५, पृ० २६६।

के पार से जुदा जुदा हो उड़ने लगते हैं, परन्तु अन्ततः उसी लक्ष्य—भूमि में लीन हो जाते हैं जैसे नदी में अलग-अलग तरंगें उठती हैं परन्तु सब पानी होने के कारण अपना चरम-लक्ष्य पानी में ही निमग्न होना अपना गौरव समझती हैं, वैसे ही अकाल पुरुष (विश्वरूप) से विश्व की समस्त देह और विविध-भासित वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं और उनका चरम-लक्ष्य भी स्वयं वही है उन्हें उसी में समा जाना है।[1] कस्तूरी-मृग की भाँति प्राणी सुगन्धि का नाफ़ हृदय में छिपाये हुए बाहरी कारण की खोज कर रहा है। घटि-घटि-वासी परमात्मा की खोज सिर मुड़ाने और कान फड़वाने में की जा रही है, विचित्र विडम्बना है। बहिर्मुखी सब हैं अन्तर्मुखी कोई नहीं बनता। जो कोई अन्तर्मुखी हो हृदय-सिंहासन पर विराजे हुये उस ब्रह्म तत्त्व को प्राप्त करले तो उसे लक्ष्य-सिद्धि मिले उसकी आशायें-उमंगें पूर्ण हों और उसके गुण-कोष की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगे।[2] वास्तव में हमारे लक्ष्य भ्रष्ट होने का कारण है हमारा अज्ञान। हम लोभ भ्रम क्रोध मोह और माया के विकारों में पड़े हुए हैं। हमने माया के झूठे परन्तु बाह्यरूप से अनूठे आकर्षणों में फँसकर अपनी यथार्थता को स्वयं क्षीण कर लिया है, अन्यथा सत्पुरुष एक ऐसा लक्ष्य है जिसको खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती वह तो हर समय हमारे साथ रहता है। उदाहरण देकर समझाते हुये गुरु अर्जुन लिखते हैं "हजार अलग-अलग घड़ों में जैसे एक वायु या आकाश होता है वैसे ही जीवों के पृथक्-पृथक होने पर भी उनकी भीतरी-आत्मा उसी महाजीव का समान-अंश है। घड़े के फूट जाने पर आन्तरिक शून्य बाहरी शून्य से मिलकर एक हो जाता है वैसे ही यदि जीव किसी अनुभवी-पुरुष से ज्ञान प्राप्त कर सके तो माया का पर्दा हटा कर, जिसे वह बाहर खोज रहा था उसे भीतर पा सकता है। स्वयं ब्रह्म बन सकता है।[3] यही लक्ष्य सिद्धि है।

---

१ जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे निआरे-निआरे हुई कै फिरि आग मैं मिलिहगे।
जैसे एक धूर ते अनेक धूर पूरत है धूर के कनूका फेर धूर ही समाहिंगे।
जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत है, पान कै तरंग सबै पान ही कहाहिंगे।
तैसे विस्वरूप ते अभूत भूत प्रगट होइ ताहिते उपज सबै ताही मैं समाहिंगे।
अकाल उस्तत पद, १७ ८७।

२ पूरो पूरो आखिये पूरै तखति निवास पूरै थान सुहावणै पूरे आस निरास।
नानक पूरा जे मिलै किउ घाटै गुणतास। राग सिरी म० १ पृ० १७।

३ सहस घटा महि एकु आकासु, घटि फूटे तो ओही प्रगासु।
भरम लोभ मोह माइआ विकार, भ्रम छूटे ते एकंकार।
१ १ सूही म० ५, पृ ७३६।
कबीर का यही रूप—
जल में कुम्भ-कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटे कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथ्यो ज्ञानी।

(ठ) अकथनीय—उपर्युक्त अनुच्छेदों में ब्रह्म के उन कुछेक गुणों की ओर संकेत किया गया है जो गुरु नानक के काव्य में यथा-तथा इंगित होते हैं परन्तु क्या वह उन्हीं पाँच-सात गुणों का स्वामी है? नहीं अनन्त के गुण भी अनन्त हैं अथाह का रूप भी अथाह है, वह उपमातीत है सर्व-उत्पत्ति उसी में से हुई है अतः सृष्टि की असंख्य रचनाओं के नाम रूप और गुण उसी के तो हैं अतः उनका वर्णन इतने थोड़े में क्योंकर सम्भव है? यह तो असीम का रूप भी नहीं। अकालपुरुष देश-काल से बाहर की सर्वव्यापकता है इसलिये देश-काल में बद्ध भाषा उसके वर्णन में असमर्थ है। जब से मानव को वाणी मिली है और उसने ब्रह्म की अपरिमितता का अनुभव अपने चतुर्दिक प्रसार में किया है, तभी से वह उसकी परिभाषाएँ खोजने के यत्न में है—परन्तु, जैसा कि स्वाभाविक भी था ससीम मानव असीम ब्रह्म को कभी परिभाषा-बद्ध न कर सका।

कोई महापुरुष ही उसकी यथार्थता को जान सका शेष तो अंधे कुएँ में ईंट फेंक कर यह विचार कर बैठे कि नीचे जाकर किसी का सिर फूट गया होगा। गुरु नानक उन अनुभवियों में से थे जो उससे एकाकार करते ही नहीं करवाना भी जानते हैं। सच्चे सद्गुरु होने के नाते, वे ब्रह्म की महत्ता को इतना समझते थे कि साक्षात् अनुभव तो उन्होंने लाखों को दिया लेकिन क्योंकि वे जानते थे कि उसके गुण वर्णन से बाहर हैं इसलिये सत्पुरुष की ओर-छोर रहित अनन्तता को शब्दों के बन्धन में बाँधने की धृष्टता से वे सदैव बचते रहे। अकाल परमेश्वर के सम्बन्ध में जो भी उन्होंने कहा उसके अधूरेपन को खुले आम स्वीकार करते रहे। स्पष्ट कहा कि ब्रह्म केवल अनुभव की वस्तु है, शाब्दिक अभिव्यक्ति की नहीं। किसी भी नाम से उसे याद करो लेकिन उसमें दृढ़ विश्वास जमाओ अपने आप वह तुम पर प्रकट हो जायगा। उसका वर्णन असम्भव है, उसे पा जाओ तो परमानन्द की तरंगों में किलोलित हुए फिरो परन्तु फिर भी गूँगे द्वारा लिये जाने वाले मिठाई के आस्वादन की तरह तुम अपनी भीतरी स्थिति का चित्रण न कर सकोगे यही दशा मेरी भी है (गुरु नानक की)—यथा

जिन चाखिआ सेई सादु जाणनि जिउ गूंगे मिठिआई।
अकथै का किआ कथीऐ भाई चालउ सदा रजाई।

सोरठ म० १ पृ० ६३५।

और भी—

सुणि सुणि आखै केती बाणी सुणि कहीऐ को अंतु न जाणी।
जा कउ अलखु लखाए आपे अकथ कथा बुधि ताहा है।[२]

---

२. मारू सोलह पद १२ ६ पृ० १०३२।
He to whom the unseen has revealed Himself can understand the ineffable story'
Duncan Greenlees

अतः निश्चय ही हमें ब्रह्म की अवर्णनीयता को स्वीकार करते हुए पंजाबी के उस कवि के स्वर में स्वर मिला लेना होगा जिसने कहा था— 'वेहा वेहा है, वोह है आप करता नहीं है कोई सानी ओहदा।

(ख) उसका चतुर्दिक स्तुति-गान—अनादि अनन्त सर्वकर्ता सर्वव्यापक और सत्यम्-शिवम् अकालपुरुष के गुण निश्चय ही अवर्णनीय हैं। उसकी पूर्णता तक किसी की पहुँच ही नहीं हो सकती परन्तु फिर भी जड़ चेतन सृष्टि का कण-कण उसका स्तुति-गान कर रहा है। विश्व के कामिक-वातावरण में सबने एक अमित एविक्षत शक्ति का आभास पा लिया है। सृष्टि की भौतिक-रचनाएँ भी सम्भवतः उस चिर सत्त्व को अनुभव करने लगी हैं जिसमें से सब आये हैं और वहीं सबको जाना है। उक्त अनुभव के ही कारण आज समूची संसृति के समस्त अवयव उस ब्रह्म की महिमा गान करने लगे हैं। जीवों ने जान लिया है कि महान् की महानता में लीन होने के लिये उसकी कृपा-दृष्टि अपेक्षित है, उसके हुक्मों को पहचानना जरूरी है और उसकी इच्छा के अनुसार जीवन यापन करते हुए उसी की प्राप्ति को चरम-लक्ष्य बनाना आरोपित है। *अतः दुनिया के माया जाल में फंसे स्वार्थी बन्दों ने चापलूसी का दामन* पकड़ा और उस सर्वशक्तिमान की प्रशंसा में जुट गये। सत्पुरुष को अपने जीवों का यह स्वार्थ और चापलूसी प्रिय है क्योंकि इसके अभ्यास से उनमें नाम स्मरण आज्ञा पालन प्रेम श्रद्धा और विश्वास की वृत्तियों का उदय होता है। इन सब के सम्मिश्रण से भक्ति की उत्पत्ति उन जीवों को सत्पुरुष के निकट ले आती है और अन्ततः वह दिन आ ही जाता है, जब बूँद भर पानी सागर में मिल सागर कहलाने लगता है—आत्मा प्रभु को पा जाती है, स्वयं परमेश्वर बनती है। यही वह पृष्ठभूमि है जिस पर अकालपुरुष के स्तुति-गान और प्रशंसा के प्रासाद अडिग रूप से स्थित हैं।

गुरु नानक उसके भक्त-गायकों तथा स्तुतिकारों की कोटि के अपवाद नहीं प्रत्युत यदि उन्हें अग्रगण्य माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। पहले अध्याय में संकेत किया जा चुका है कि गुरु नानक "राजी-बर-रजा" की विचारधारा के पोषक थे। इसीलिये वे सदैव अपने को पूर्णतः सत्पुरुष के आश्रय छोड़कर उसके स्तुति-गान में निमग्न रहते हैं। लिखते हैं 'मेरे भाव बुद्धि और शिक्षा तुम पर आश्रित हैं यह शरीर भी तुम्हारे ही संरक्षण में पनप रहा है। हे मेरे मालिक मैं तुम्हारे अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता इसीलिये नित्यप्रति तुम्हारे ही गुण गाता हूँ। मेरे लिए तुम्हारी प्रत्येक इच्छा ग्राह्य है। मैं सेवक हूँ और सेवक का धर्म नतमस्तक हो स्वीकार करना ही है।'[1] गुरु नानक अकाल को सब रूप रंग में अपना लक्ष्य

---

१ सिख मति सभ बुधि तुम्हारी मंदिर छावा तेरे।
तुम बिनु अवरु न जाणा मेरे साहिबा गुण गावा नित तेरे।
जो तुधु भावै सोई चंगा इक नानक की अरदास।
४ २ बिलावल पृ० ७९५।

स्वीकार करते हैं और उसके सम्मुख यह प्रार्थना है कि कृपा की एक दृष्टि से जीवोद्धार करने वाला यह सतपुरुष उन पर भी एक नजर डाले।[1]

सार यह कि यह चेतन चराचर में ऐसा एक भी कण अपवाद न मिलेगा जो उसकी महिमा का गान न करता हो, उसकी इच्छाओं और आज्ञाओं के सम्मुख नतमस्तक न हो। गुरु नानक अन्त में यह संकेत देना नहीं भूले कि जिसकी स्तुति स्वीकार हो गई वह तर गया भवसागर से पार उतर गया। वह अन्तर्मुखी हो कर अपने भीतर से ही परमेश्वर को पा गया और आनन्द से नाच उठा। कहने लगा—

हम घर साजन आए। साचै मेलि मिलाए।
सहजि मिलाए हरि मनि भाए पंच मिले सुखु पाइआ।
साई वसतु परापति होई जिसु सेती मनु लाइआ।
अनदिनु मेलु भइआ मनु मानिआ घर मंदर सोहाए।
पंच सबद धुनि अनहद वाजे हम घरि साजन आए।

१ सूही छंत पृ० ७६४।

४ अकाल पुरुष का स्थान

समस्त ब्रह्माण्ड का रचयिता होने के नाते वह सर्वोच्च है परन्तु क्योंकि वह दयालु और रसिक भी है इसलिये सृष्टि के कण-कण में समाया है, सर्वोच्चता उसकी परिपूर्णता (Absoluteness) की परिचायक है, तो कण-कण में समाविष्टि उसकी व्यापकता की। इसी आधार-भित्ति पर गुरु नानक काव्य में ब्रह्म का स्थान-निरूपण दोनों ओर संकेत करता है। पीछे निवेदन किया जा चुका है कि जब विश्व प्रकृति का कोई अस्तित्व ही न था तो भी अकाल का "शब्द" चहुँ ओर गुंजरित था। धीरे-धीरे शब्द से सृष्टि की रचना हुई, खण्डों-ब्रह्माण्डों[1] का सृजन हुआ माया-माया को जन्म दिया गया और पवन का ताना-बाना "हुक्म" को सौंपकर वह अलौकिक शक्ति स्वयं अपनी चमत्कारिक रचना का आनन्द लेने के लिये उच्च ऊँचे जा बैठी एवं वहीं से अपनी कृति के राग विलास तथा शोक-संसार-विलय अभिनय का रसास्वादन करने लगी। तभी तो "जपुजी" में गुरु नानक ने खण्ड-विभाजन करते हुए धरम ज्ञान सरम और करम खण्डों के उपरान्त सर्वोच्च सच खण्ड में अकाल-पुरुष के स्थित होने का संकेत किया है।

---

१ गुर बिनु भगति न होई भैणे निमाणे गुर बिनु भगत न कोई हरे।
नदरि करी ता तू है मिल नदरी बिनु नदरि करे।

१ २२, बाणी म० १, पृ० १२२।

'सचखण्ड वसै निरंकारु, करि करि वेखै नदरि निहाल ।" पउड़ी ३७ । विशेषता यह है कि वह सर्वशक्ति-सम्पन्न प्रभु केवल मुक्तात्माओं के लोक तक ही सीमित नहीं, आवागमन और मुक्ति दोनों पर उसका एकाधिपत्य है जड़ और चेतन दोनों उसके शासन में पनप रहे हैं तो भी वह एक (१ ओंकार) तारामण्डल चन्द्र और सूर्यमण्डलों के ऊपर उस गगन का वासी बन बैठा है[1] जो उसके परस्तर को सम्पूर्ण विश्व का मूल सिद्ध किए है। गुरु नानक का कथन है कि अकाल-पुरुष तीन लोक (देश-कालीन रचना) से न्यारे किसी चौथे लोक में निवसित है और समय तथा स्थान की परिसीमाओं से बाहर रहकर सम्पूर्ण संसृति की जीवन-ज्योति बना है। उसकी पहचान केवल गुरु की अनहद वाणी या शब्द-शब्दों की विश्वसनीय पृष्ठभूमि पर ही सम्भव है।[2]

लेकिन नहीं गुरु नानक-वाणी ब्रह्म की सर्वोपरि विलक्षता की प्रदर्शक ही नहीं वह उसके विलग होते हुए भी कण-कण व्यापी होने का विश्वास दिलाती है। जिस प्रकार पेड़ का मूल तना शाखायें पत्र-पुष्पादि सब एक-दूसरे से पृथक् होते हुए भी मूल को जीवनाधार बनाए रहते हैं ठीक वैसे ही सृष्टि का अणु अणु रचयिता रूपी मूल से जुदा होकर भी उसी पर आश्रित है, मूल का अंश सब में व्याप्त है। इस उपमा में औंधे वृक्ष की कल्पना की गई है। पृथ्वी के पेड़ों का मूल नीचे होता है परन्तु संसृति का मूल (ब्रह्म) ऊपर है उसकी शाखायें पत्र-पुष्प नीचे की ओर लटक रहे हैं। गुरु नानक लिखते हैं

"ऊरध मूल जिसु साख तलाहा।"

१ गूजरी अष्टपदी मह १ पृ० ५०३।

प्रस्तुत परिकल्पना अत्यन्त प्राचीन है। सृष्टि एवं सृष्टि के रचयिता का मूल एवं शाखा प्रशाखाओं का सम्बन्ध कहीं-कहीं उपनिषदों और गीता में भी उपलब्ध है।[3] गुरु नानक या अन्य समकालीन कवियों की वाणी में भी ऐसी उक्तियाँ प्राप्य हैं।

---

१ गगन गम्भीर गगनंतरि वासु। २ रामकली दखणी म १ पृ० ९१२।

२ मै बरताई चौथे परिवासा। काल बिकाल किए इक ग्रासा।
निरमल जोति सरब जगजीवनु। गुरि अनहद सबदि दिखाइला।
४ मारू म० १ पृ० १ ३८।

३ कबीर ने लिखा है—अछ पुरुष इक पेड़ है निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा शाखा भय पात भया संसार।

(ख) श्री मद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय का प्रथम श्लोक इस प्रकार है—
ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।
(आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखा वाले जिस संसार

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अभिप्राय यह है कि अकालपुरुष मूल रूप में सबका सर्जक-पोषक होने के साथ-साथ पुष्प-गंध की भाँति समस्त प्रकृति जड़ और चेतन में स्वयं विद्यमान है इसलिये उसे सर्वव्यापक घटि-घटि वासी भी कहा गया है। स्पष्ट ही रचनाकार का यह सर्वोच्च कलाकार इतने मनोयोग से कृति की रचना करता रहा है कि अपनी कला में ही समा गया है। डॉ० इकबाल के शब्दों में 'बुत बुतगर का बुतगर, बुतखाने में बुत बन गया आकार।" भौतिक-पिण्ड में जो सत्यांश विद्यमान है वह निरंजन (अकाल-पुरुष) का ही अवयव है।[1] ज्ञान चक्षु पासेने वाला अपने चतुर्दिक अकाल-करतार का प्रसार ही नहीं देखता प्रत्युत साक्षात् उसी का स्वरूप दर्शन भी करता है। उसके लिये "भव की मायावी पृथकता" का अन्त हो जाता है। वह बाहर-भीतर प्रत्येक जीव में ब्रह्म स्थित देखता है।[2] प्रकृति के कण-कण में भी वही अनंत समाया हुआ है—

बलिहारी कुदरत वसिया। तेरा अन्त न जाई लखिया।
१ १२ बारहमासा, म० १।

विचारवान् अनुभवी के लिए तो वह चारों ओर प्रत्यक्ष है। गुरु अर्जुनदेव के शब्दों में—

देस कतेब संसार समाहू बाहरा।
नानक का पातशाहु दिसै जाहरा। ४ १ १०५ आसा।

वस्तुतः अकाल-पुरुष स्वयं ही जीवों के रूप में चतुर्दिक प्रस्तुत है। उसी की ज्योति संसृति का प्रकाश-पुंज है। इसीलिये "जीव में ब्रह्म का अंश है" ऐसा कहने

(शेष पिछले पृष्ठ का)

रूप पीपल वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते कहे गये हैं, उस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है वह वास्तविक वेद तत्त्वों को जानने वाला है—गीता प्रेस)

(ख) कठोपनिषद् अध्याय २ वल्ली ३ मन्त्र १ इस प्रकार है
ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातन।
अभिप्राय यह कि ऊपर की ओर जड़ों तथा नीचे लटकती हुई शाखाओं-प्रशाखाओं वाला यह अश्वत्थ वृक्ष प्राचीनतम और अनादि है।

१ कंचन काइआ निर्मल हंसु जिसु महि नामु निरंजन अंसु।
४ २ मलार पृ० १२२६।

२ मनै नदरि करे जा देखा दूजा कोई नाहीं।
ऐको रवि रहिआ सभ थाई, एकु वसिआ मनमाही।'
१३ आसा पटीलिखी ४३३।

की अपेक्षा गुरु नानक उसे 'आत्मा-देहधारी' कहकर पुकारते हैं और जीव को ही ब्रह्म रूप में देखते चलते हैं। लिखते हैं 'प्रत्येक प्राणी के अन्दर स्वयं ब्रह्म छिपा पड़ा है उसकी ज्योति सबके अन्तःकरण को आलोकित कर रही है परन्तु कौतुकवश परमात्मा ने जीव को भ्रमात्मक सांसारिक सुख देकर बाहर भटकने को छोड़ दिया है और स्वयं उसी के अन्दर शान्त समाधि लगा बैठा है। प्राणी-मात्र काम के प्रभाव में यथार्थता को विस्मृत किए है अपने ही अन्तर के आलोक के प्रति आँखें मूँदे वे बाहर की परिधि में सत्यानुसंधान कर रहे हैं। यहाँ नानक यह संकेत करना भी भूलते नहीं कि उक्त अद्वितीयता की प्राप्ति सतिगुरु के माध्यम से शब्द की कमाई द्वारा सहज सम्भाव्य है।'[1] कहीं-कहीं तो डंके की चोट पर सिद्ध किया गया है कि मनुष्य देह ही प्रभु का निवास स्थान है।

काइआ महलु मंदरु घरु हरि का तिसु महि राखी जोति अपार।
नानक गुरमुखि महलि बुलाईऐ, हरि मेले मेलणहार। मलार, म० १।

यहाँ पर साईं बुल्लेशाह का कथन "अखियाँ बीच तेरो बलम नहीं पर वेखन वाली अक्ख नहीं" चरितार्थ हो उठता है। अन्तर में चिर विद्यमान ज्योति देखने के लिये ज्ञान-चक्षुओं की अपेक्षा है। कोई सच्चा अनुभवी महापुरुष ही कृपा-दान करे तो कोई यथार्थता (हरि मिलन) की पुनर्प्राप्ति हो। खेद का विषय तो यह है कि जन साधारण माया के धोखा-धान की भूल भुलैया में इतने खो जाते हैं कि गाँठ-बँधे रत्न को झूठे तीर्थों जंगलों नदियों पर्वतों में खोजते फिरते हैं। घर में रखी वस्तु अन्धेरा होने के कारण बाहर खोजी नहीं जा सकती। उसके लिये एक-मात्र मार्ग घर में दीपक जलाने का है। प्रस्तुत स्थिति में भी अन्तर में छिपे प्रभु की प्राप्ति के लिए किसी सच्चे गुरु के चरण पकड़ना अनिवार्य है जो स्वयं अनुभवी हो यथार्थता का जानकार हो और जिज्ञासु को अनुभव तथा ज्ञान दे सके। सन्त की तो विशेषता ही यह है कि वह जो कुछ है, अपने अनुयायी को वही बना लेता है।[2] कोई ऐसा ही संत-महात्मा अकाल के स्थान का 'आत्म-विश्लेषणात्मक' ज्ञान जीव को दे सकता है। गुरु नानक ने हरि-मन्दिर के सम्बन्ध में लिखा भी है—

---

१ घटि घटि अंतरि ब्रह्मु लुकाइआ घटि घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमति निरभै ताड़ी लाई।
जंत उपाइ कालु सिरि जंता वसि गति जुगति सबाई।
सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि छूटहि सबदु कमाई।
४ ६ सोरठ म १ पृ ५९७।

२ पारस और संत में यहु अन्तरा जान वह लोहा कंचन करे, वह कर ले आप समान—अज्ञात।

हरि मन्दिर सोई आखीऐ जिथहु हरि जाता ।
मानस देह गुर बचनी पाइआ सभु आतमरामु पछाता ।
बाहरि मूलि न खोजिऐ घर माहि बिधाता ।
मनमुख हरि मन्दिर की सार न जाणनी तिनी जनमु गवाता ।
सभ महि इक वरतदा गुर सबदी पाइआ जाई ।

१२ रामकली श्लोक पृ० ९५३ ।

यहाँ इस बात की पुनरुक्ति प्राप्त है कि ईश्वर सब में है और गुरु के मार्ग निर्देशन के अनुकरण से उसकी ज्योति का साक्षात्कार हो सकता है ।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म यदि सामान्यतः सर्वव्यापक है और विशेषकर सचखण्ड-वासी तो इन दोनों की एकरूप स्थिति क्या होगी ? एक उदाहरण प्रस्तुत है बाजारों गलियों घरों-दुकानों एवं अन्य सब स्थानों में आजकल तारों द्वारा बिजली की लहरियाँ पहुँचती दिखाई पड़ती हैं । ये लहरियाँ सजीव और चेतन की तरह हमारा प्रत्येक कार्य करती हैं हमारी प्रकाश प्रदाता है शीतोष्ण वातावरण भी उनसे उपलब्ध है और ये एक समझदार सेवक की भाँति हमें प्रत्येक अपेक्षित सुविधा पहुँचाती हैं । विचार कर कि ये विद्युत लहरियाँ या ताम्र-तारें क्या अपने में उक्त शक्ति की प्रतीक हैं ? यदि नहीं तो कथित शक्ति के प्रतिपादन का सामर्थ्य ये किस माध्यम से प्राप्त करती हैं ? उत्तर में हमारा ध्यान पावर-हाउस की ओर आकृष्ट होता है हम समझ लेते हैं कि गली में गड़े प्रत्येक खम्भे पर ज्योति प्रदान करने वाली विद्युत शक्ति उसकी अपने में किसी परिपूर्णता का नाम नहीं प्रत्युत खम्भे में निर्वासित पावर हाउस की शक्ति का विम्बदर्शन है । उक्त शक्ति यथावत् नगर के गली-कूचे बाजार और घर में बसने वाले प्रत्येक बल्ब में प्रतिबिम्बित करती है जबकि पावर-हाउस स्वयं सब जगह नहीं पहुँच पाता । अकाल-पुरुष भी विद्युत-लहरियों की भाँति सृष्टि के प्रत्येक जीव एवं अन्य चराचर में समाहित है यद्यपि उसका निर्दिष्ट स्थान (पावर-हाउस) सचखण्ड ही है । अभिप्राय यह कि जिस प्रकार बिजली के एक पावर हाउस की विद्युत-शक्ति लहरियों द्वारा समूचे नगर या प्रदेश में फैली रहती है, शक्ति पुंज के स्थान विशेष पर स्थिर रहते हुए भी विद्युत-लहरियाँ कण-कण में ऊर्जा-वितरण करने में सक्षम है—ठीक वैसे ही ब्रह्म के सचलोक में स्थिर रहते हुए भी उसकी ज्योति या जीव-शक्ति समस्त जड़ चेतन में शब्द की लहरियों द्वारा प्रसारित होती रहती है । इसी रूप में ब्रह्म को कण-कण वासी या सर्वव्यापक स्वीकार किया जाता है । विद्युत शक्ति की तरह ही वह एक उद्गम पर होता हुआ भी सब स्थानों पर विद्यमान है और सर्व-स्थित होने पर भी एक ही सर्वोत्तम खण्ड सचलोक का वासी है । उपरोक्त स्थिति पर गुरु नानक लिखते हैं सर्वव्यापक ब्रह्म जिसने तीनों लोकों में ज्योति प्रदीप्त कर रखी है

और जिसने अन्य सन्त-महात्माओं का प्रत्यक्षीकरण करवाया है, वह नाम-शक्ति प्रभु, स्वयं विद्युत लहरियों की भाँति ही अदृश्य है। पुनः विद्युत शक्ति का परीक्षण होता है बीर बलब के बाद। इसी प्रकार जीव में ब्रह्म-शक्ति की उपस्थिति का परीक्षण किसी अनुभवी महापुरुष (सतिगुरु) के पथ प्रदर्शन से केवल तभी सम्भव है जब वह शब्द लहरियों को पहचान नाम-जपने आदि की कला का ज्ञान प्राप्त करले। अन्यथा पावर-हाउस तो है वह शक्ति-वितरण करता ही रहेगा कोई उसे पहचाने या जानने का प्रयत्न करे अथवा नहीं। ब्रह्म तो सतलोक में शून्य समाधि में संलग्न है और उसकी नाम-शक्ति विश्व को बनाती नचाती या मिटाती चली जाती है।[1] सच्चे गुरु के चेताए जीव यथार्थता के प्रकाश में आने के कारण मुक्ति की ओर बढ़ते हैं। और अन्य सांसारिक भूल-भुलैय्यों में अपने को ही 'कुछ' समझ कर अहं को जन्म देते और जीवन-मरण चक्र का चिर-पोषण करते रहते हैं। परन्तु ध्यान रहे ब्रह्म मनमुखों में भी है और गुरमुखों में भी। एक ने पहचान लिया और दूसरे ने नहीं। लिखा भी है—

अनिक कोठरिआ भिंन भिंन भिंन भिंन करीआ।

१ १ ४४ सूही म० ५ पृ० ७४६।

५ विश्व में ब्रह्म का प्रतिनिधि गुरु (Mouth-piece of God)

माया के त्रिगुणात्मक फंदे में जीव जब सृष्टि के कष्टों से त्राहि पुकार उठते हैं अपने त्राण के लिये वे पूर्व-सुमार्गी महात्माओं की वाणियों से प्रभावित हो कर कृपा-आगार प्रभु की प्रत्यक्ष कल्पना करने लगते हैं उसे ही अपना माता पिता मानकर अहर्निश आह्वान करते हैं तब दया का अटूट भंडार वह कुलमालिक अपने जीवों को इस प्रकार तड़पते देखकर स्वयं तड़प उठता है। अपने में अन्तर्निहित मुक्तात्माओं में से किसी एक[2] को जिज्ञासुओं की पिपासा शान्त करने और भ्रामक शक्ति माया के ऊपर दृष्टिपात हेतु प्रकाश—ज्योति प्रदान करने के लिए भेजता है। वह महात्मा ब्रह्म का प्रत्यक्ष अंश होने के कारण निश्चय ही ब्रह्म की समूची शक्तियों से विभूषित एवं उसके अलौकिक गुणों से अलंकृत होता है। संसार में

१ एक महि सरब सरब महि एका एहु सतिगुरु देखि दिखाई। २।
जिनि कीए खंड मण्डल ब्रह्मण्डा सो प्रभु लखनु न जाई। १।
दीपक ते दीपक परगासिआ त्रिभवण जोति दिखाई। ७।
सचै तखति सच महली बैठे निरभउ ताड़ी लाई।

८ ८ रामकली पृ ९ ७।

२ यह आवश्यक नहीं कि एक समय में केवल एक ही मुक्तात्मा कार्य करे। देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार कभी कई सन्त-महात्मा समकालीन अवतरित होते हैं।

ने के लिये गर्भवास से मृत्यु तक का कष्ट उसे भी भोगना पड़ता है सृष्टि के दुःख कठिनाइयाँ भी सहनी होती हैं परन्तु वह तन-मन के बन्धनों से चिर-मुक्त होने के कारण मृत्यु-लोक का समस्त कार्य भुगताता हुआ भी आवागमन का साक्षी रहता है। मालिक की आज्ञा पाकर वह भटके हुए जीवों को सुपथ पर लगाने आता है अपना कार्य पूरा कर वहीं (सतलोक में) लौट जाता है और अपने साथ न जाने कितने जिज्ञासियों का भी उद्धार करता चलता है। मृत्युलोक में आकर भी वह जल में मुर्गाबी की भाँति उससे अलिप्त रहता है और जो कुछ भी करता है अकाल की आज्ञानुसार उसी के रूप में करता है। वह प्रभु का सच्चा प्रतिनिधि होता है माया के तिमिराच्छन्न हृदयों में ज्ञानरत्न की ज्योति जलाता है इसलिये अन्धकार-विध्वंसन-कर्ता अर्थात् 'गुरु' कहलाता है। गुरु नानक ने स्पष्ट लिखा है।

गुरु महि आपु रखिआ करतारे। गुरमुखि कोटि असंख उधारे। ६।[1] [2]

(क) जीव-ब्रह्म में साम्यत्व—जीव और ब्रह्म एक ही तत्त्व हैं, परन्तु जीव प्रकृति की परिसीमाओं—देश और काल के अन्तर्गत आ जाने से पार्थिव स्थिति में आत्मा देहधारी बन गया है और माया के आवरण में अपने को ऐसा भूला है कि निज के परम रूप का भान तक भी उसे नहीं रहा। ऐसे में मायावरण की स्थूलता यदि कहीं से झीनी[3] पड़ जाए और सत्संगति एवं धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन से जीव में मालिक के महत् सत्य को जानने की जिज्ञासा जागृत हो तो वह किसी ऐसे महापुरुष की खोज में निकलता है जिसकी अपनी रसाई परम-तत्त्व तक हो और जो दूसरे को भी वही अनुभव करवा सके। पीछे कहा जा चुका है कि तत्त्व-चिंतन किसी चेतन मार्ग प्रदर्शक के बिना सम्भव नहीं और यह सौभाग्य हमारे पूर्व-जन्म के अच्छे कर्मों से ही प्राप्य है तो निश्चय ही जीव की यह पूर्ण खोज कोई सच्चा गुरु पा लेने को लक्ष्य बनाये रहेगी। योग्य प्राप्ति की स्थिति में उत्तर-खोज गुरु-निर्देशन में परम-तत्त्व से सम्बन्धित होगी। इससे सिद्ध है कि जीव और ब्रह्म के मिलन अथवा जीव द्वारा ब्रह्म की चमत्कारी प्राप्त

---

१ माझ म० १ पृ० १०२४।

२ बाइबिल में भी स्वीकार किया गया है कि स्वयं शब्द देह रूप में हमारे बीच आया और सत्य का निर्देशन किया।
The word was made flesh and dwelt among us full of grace and truth.

३ माया के आवरण के झीनेपन से हमारा अभिप्राय उसके प्रभाव की कमी एवं आध्यात्मिक जिज्ञासा के प्रस्फुटन से है। गुरुवाणी के अनुसार यह सब अच्छे कर्मों (प्रारब्ध) से ही सम्भव है।

करने में गुरु प्रथम सोपान है।[1] इसका कारण स्पष्ट करते हुए गुरु नानक लिखते हैं कि जब तक जीव सांसारिक विषय-वासनाओं से मुक्त न हो जाय और उसके अहंकार में (हउमैं) विनम्रता का उदय न हो तब तक वह ब्रह्म रूप को नहीं समझ सकता। गुरु वह शक्ति है जो जीव की इन असाध्य वृत्तियों को कृपा-नेत्रों से वश कर, उसे ब्रह्मैक्य का एक-मात्र साधन नाम-रहस्य समझाता है। गुरु के उन शब्दों से ही सत्पदप्राप्ति होती है अन्यथा जीव कहीं भी भटक कर रह सकता है।[2] अभिप्राय यह कि गुरु जीव और ब्रह्म में सम्बन्ध का कार्य करता है। एक ही तत्त्व के दो पृथक रूपों का एकीकरण मध्यस्थ की स्वाभाविक विशेषता है। इस सम्बन्ध में गुरु अर्जुनदेव तो पुकार कर कहते हैं कि ब्रह्म से बिछुड़े हुए जीव को पुनर्मिलन की स्थिति तक पहुँचाने के लिए गुरु ही योग्यतम साधन है। यह उनका सैद्धान्तिक कथन नहीं व्यावहारिक अनुभूति है।[3] गुरु नानक स्वयं भी इसी भाव को प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार व्यापार या वैवाहिक सम्बन्धों में मध्यस्थ-जन दो दलों का मेल करवा देते हैं, वैसे ही गुरु मायावृत्त-ब्रह्म (जीव) तथा निरंजन-ब्रह्म (अकाल-पुरुष) के मिलन का कारण बनता है। सीधी-सी बात है कि उसे जीव व स माया के पर्दे को हटाना होता है और तत्त्व स्वतः ही तत्त्व में मिल जाता है। गुरु साहिब फरमाते हैं कि उस सच्चे पालक द्वारा निर्मित प्रत्येक-जीव सत्य है। ब्रह्म स्वरचित है इसलिये अपार महिमामय है। परन्तु जीव उससे बिछुड़ गया है और केवल गुरु ही उन टूटे हुए तत्त्वों को दोबारा जोड़ सकता है। आगे लिखते हैं कि जीव उस सूर्य-चाँद के रचयिता कुशमालिक का विचार चाहे दिन-रात क्यों न करे, बिना गुरु की ज्योति के वह आत्म-तत्त्व को पहचानने में असमर्थ ही रहेगा।[4] कहने

१ द्वितीय सोपान गुरु आज्ञा का पालन एवं उपदेशानुसार भजन-स्मरण एवं नाम की कमाई है। यही गुरु-सेवा भी कही जायगी। तदोपरान्त तीसरा सोपान है आत्मा का केन्द्रीकरण आत्मज्ञान और ब्रह्मैक्य।

२ बिनु गुर रोगु न तुटई हउमै पीड़ न जाई।
गुर परसादी मन वसै नामे रहै समाई।
गुर सबदी हरि पाईऐ बिनु सबदै भरमि भुलाई।
१ २४ ५७ राग सिरी म० १।

३ ऐसा सतिगुरु सुणीदा संसोही मैं डीठ।
बिछुड़िआ मेले प्रभु, हरि दरगाह बसीठ। वार रामकली म० ५।

४ सचु सिरंदा सचा जाणीऐ सचड़ा परवरदगारो।
जिनि आपीनै आपु साजिआ सचड़ा अलख अपारो।
दुइ पुड़ जोड़ि विछोड़िअनु गुर बिनु घोर अंधारो।
सूरजु चंदु सिरजिअनु अहिनिसि चलतु वीचारो॥
१ १ वडहंस पृ० ५८०।

का तात्पर्य यह कि गुरु जीव प्रबोधक होता है और जीव तथा ब्रह्म के गठबन्धन में अधिकारी पुरोहित का काम करता है।

लेकिन नहीं वह केवल मध्यस्थ ही नहीं वह तो जीवों की पुकार सुन सहायक रूप में पठाया हुआ स्वयं ब्रह्म का प्रतिनिधि होता है।[1] वह जो कुछ भी करता है प्रभु की ओर से करता है और सच तो यह है कि प्रभु को गुरु जी की हर प्रत्येक बात मन्ज़ूर है। गुरु द्वारा बताए जीव का यमराज की अदालत में कोई प्रश्न नहीं उठता, बस जिसका गुरु ने बख्श दिया लिखा-कर्म से छुड़ाकर मुक्तात्माओं की सूची में जिसका नाम प्रविष्ट कर लिया वह मुक्ति पा गया। स्वयं करतार को भी उसमें कोई आपत्ति नहीं होती। ठीक जिस प्रकार वैयक्तिक-मंत्री या प्रतिनिधि के स्वीकृत काम का उच्चाधिकारियों को कोई क्षोभ नहीं होता उसी तरह "जो गुरु किया सो हरि मानिया" की उक्ति लोकोत्तर आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मान्य है।[2]

(ख) गुरु और ब्रह्म में अभेद —नानक-वाणी गुरु को केवल ब्रह्म का प्रतिनिधि मानकर ही संतुष्ट नहीं। ज्यों-ज्यों चिन्तन का क्षेत्र विस्तृत होता है गुरु ही ब्रह्म रूप में दिखाई देने लगता है और साधक की वह अवस्था भी दूर नहीं रह जाती जब वह गुरु को साक्षात् ब्रह्म स्वीकार करता है और दोनों में अभेद की स्थापना का सुगम हो जाता है। गुरु नानक ने स्वयं गुरु को अपरम्पार पारब्रह्म और परमेश्वर कह कर पुकारा है।[3] गुरु अर्जुनदेव ने तो अतीव विचारोपरान्त यह निश्चय किया था कि गुरु और गोविन्द में कोई अन्तर हो ही नहीं सकता।

---

१ जैसा सतिगुरु सुणीदा तैसोही मै डीठ।
विछुड़िआ मेले प्रभू हरि दरगह का बसीठ।
वार रामकली म० ५

२ राम नामु धनु निरमलो जो देवै देवणहारु
आगै पूछ न होवई जिसु बेली गुरु करतारु।
आपि छडाए छुटीऐ आपे बखसणहारु। १६, राग सिरी पृ० ५।

३ अपरम्पार पारब्रह्म परमेसरु नानक गुरु मिलिआ सोई जीउ। सोरठ म० १।

नोट—इस पद के अनुसार कुछ विवेचकों ने नानक-वाणी में उनके गुरु के प्रति विचार करने का उपक्रम किया है और परिणामस्वरूप सिद्ध किया है कि नानक का कोई गुरु न था। स्वयं प्रभु उनका गुरु था। हम विचार से हम सहमत हैं कि नानक के किसी दीक्षा-गुरु का पता नहीं चलता परन्तु प्रस्तुत परिकल्पना की आवश्यकता ही क्या है जबकि वाणी गुरु और प्र में भेद मानती ही नहीं। गुरु नानक ने स्वयं भी तो लिखा है —
हरि गुरमुखि एको वरती नानक हरि गुर भाइआ। ६ मारू पृ० १०४१

समुन्द विरोलि सरीरु हम देखिआ इक वसतु अनूप दिखाई।
गुर गोविन्द, गोविन्द गुरू है नानक भेद न भाई।

१८ आसा पृ ४४२।

और भी कुछेक स्थानों पर यह निर्णय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

गुरु परमेसरु करणै हारु सगल स्रिसटि कउ दे आधारु।

१२, सुही पृ० ७४।

और भी—

गुरु परमेसरु एको जाण। जो तिसु भावै सो परवाण।[1]

११ गौंड म० ५, पृ० ८६४।

स्पष्ट ही गुरुवाणी गुरु और अकाल पुरुष में कोई भेद नहीं मानती। मेरा विश्वास है कि पीछे 'गुरु और गुरुमुख' के अध्याय में इस बात पर पर्याप्त बल दिया जा चुका है यहाँ पुनरावृत्ति करना अपेक्षित न होगा।

६ ब्रह्म का जीव से सम्बन्ध

ब्रह्म और जीव दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं एक परम-पद पर आसीन है तो दूसरा उसी का परिवर्तनशील अंश। अतः जो सम्बन्ध सागर और उसमें उठने वाली तरंगों अथवा मरुस्थल तथा उसमें उड़ने-गिरते और टकराते बालू-कणों में होता है, वही स्थिति ब्रह्म और जीव की भी है। प्रत्येक जीव में चेतना रूप में ब्रह्म सदैव विद्यमान रहता है। उस परम-तत्त्व का शरीर से विलग होना ही मृत्यु है। स्पष्ट है कि दोनों का सम्बन्ध चिर-अविच्छेदनीय है। गुरु नानक ने प्रस्तुत सम्बन्ध को समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं और कहीं-कहीं स्थिति को सांसारिक नातों-सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में भी आलोकित किया है।

(टिप्पणी—ध्यान रहे ऊपर सागर और जल-बिन्दु या मरुस्थल तथा रजकण की उपमा नहीं दी गई। विशेष कारण यह है कि जल बिन्दु या रजकण के सागर अथवा मरुस्थल से कुछ समय जुदा भी रहने की सम्भावना हो सकती है लेकिन उपयुक्त उपमा में गुरुवाणी सिद्धान्तों के अनुसार यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि

---

१ कहीं-कहीं हिन्दू धर्म-शास्त्रों में भी ऐसी उक्तियाँ उपलब्ध हैं यथा
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः
बाइबिल में क्राइस्ट ने भी कहा है—
I and my father are one.

दोनों रूप कभी एक-दूसरे से जुदा नहीं होते। जीव ब्रह्म में ही लीन होता है तो भी परिवर्तनशील होने के कारण अलग दीखता है और यदि जल की लहरें तरंगित होना छोड़ दें तो वे जल (सागर) ही कही जायेंगी लहरें नहीं वैसे ही यदि जीव अहंभाव छोड़ दे तो वह स्वयं ब्रह्म कहलायेगा जीव नहीं। नानक वाणी के इस सिद्धान्त पर उनके दार्शनिक स्वरूप को भेदाभेदी कहा जा सकता है।)

(ख) सर्वसत्ता रचना सम्बन्ध (जीव ब्रह्म का अंश है)—पीछे बताया जा चुका है कि जीव ब्रह्म का अंश है यहाँ केवल दोनों के सम्बन्ध का स्वरूप गुरु नानक द्वारा दिये उपदेशों के आश्रय प्रस्तुत किया जायेगा। ब्रह्म या प्रभु सृष्टि का अमर शक्ति-सम्पन्न रचयिता है। उसने खण्डों-ब्रह्माण्डों प्रकृति तथा पदार्थ की रचना की है। मानव-देह के स्वरूप अणु रूप के साथ ही उसने उसमें सजीवता और सजगता के महान गुणों का प्रतिपादन भी किया है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन उस कलाकार की ऐसी कृति है जिस पर वह सदैव तूली और रंग लिये पिला रहता है और अपनी रचना का आनन्द लेने के लिये निरन्तर उस पर तूलिका चलाता ही जाता है। कभी बनाता है कभी बिगाड़ता है और मनोरुचि के अनुसार मानव-जीवन की उन्नति अवनति या उत्थान-पतन का कारण बनता है। अन्तिम रंग (Finishing Touch) तो वह किसी विशेष कृपा-पात्र कृति को ही देता है अन्यथा उसकी प्रत्येक रचना अपने में अपूर्ण है (इन दि मेकिंग)। परिपूर्णता (ऐब्सोल्यूटनेस) केवल उसी की पाती है या फिर उसकी जिसे वह अपने में मिलाकर अर्थात् अन्तिम रंग भर कर पूर्ण बनादे।[1] जीव और ब्रह्म का प्रस्तुत सम्बन्ध युगों-युगों से चला आ रहा है।

(ग) शरीर में चेतन-अंश परमात्मा (जीव ब्रह्म का अंश है)—यथार्थ शरीर में आत्मन् की उपस्थिति ही उस मनुष्य की संज्ञा दिलाने में समर्थ है। शरीर के अन्दर प्राणों का संचार, श्वास प्रश्वास क्रिया, मनोभावों की तरंगें एवं मस्तिष्क की विचार-शक्ति सब एक नियन्त्रण में बंधे हुए हैं। जब तक मनुष्य चेतन है उसके अन्दर सजीवता है तब तक उपर्युक्त सभी क्रियाएँ अबाध गति एवं अनुशासित विधि से चलित हैं परन्तु अन्दर की चेतना के भंग होने से सब मानसिक क्रियाओं का अकस्मात् गतिरोध हो जाता है और मनुष्य शव मात्र रह जाता है। जैसे घर में मेन स्विच के बन्द कर देने से सब विद्युत्-दीपक बुझ जाते हैं बिजली द्वारा होने वाली सब क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं वैसे ही चेतना के मुख्य-स्रोत से यदि शरीर का सम्बन्ध कट जावे तो मनुष्य को मृत कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि मानव शरीर में जो चेतना की लहर बह रही है उसका उद्गम वही परम-चेतन ब्रह्म है अर्थात्

---

१ घड़ि ढाहि उसार आपे जिउ तिसु भावै तिवै करे।
करि करि वेखै हुकमु चलाए तिसु निसतारे जा कउ नदरि करे।
१७ पटीलिखी आसा म० १, पृ० ४३३।

ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध आश्रय और आश्रित का है। गुरु नानक ब्रह्म की स्तुति में लिखते हैं कि वह कृपालु दाता स्वयं सृष्टि के जीवों में प्राण-शक्ति बना बैठा है। ज्ञान-ध्यान से रहित मनुष्य उसे नहीं पहचानता। झूठे वेशधारण करने घूमने-खोजने या हठयोग की असाध्य क्रियाएँ करने से अन्तर-निवासित ब्रह्म को खोजने में मनुष्य असमर्थ रहता है उसकी प्राप्ति केवल सत्पथ पर चलने से ही सम्भव है।[1]

(घ) दोनों में तत्त्व-भेद कोई नहीं—ब्रह्म परम-सत्य या चेतन तत्त्व है और जीव उसका साधारण सा अंश। दोनों की यथार्थता बराबर है दोनों का स्वरूप एक है और दोनों एक ही तत्त्व का स्वभाव लिये हैं। 'ब्रह्म जीवो नहीं कछु भेदा' का लोक कथन इसी तात्त्विक-एकता की पृष्ठभूमि पर प्रचलित है।[2] 'जितने जानदार हैं वे सब उसी तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं जो प्रभु का है। इनका अंशांशी सम्बन्ध है। इस तरह सृष्टि के सब जीव उसके बालक हैं। जिस प्रकार बालक माँ के मांस का भाग है उसके गर्भ में रहता और पलता है उसी तरह हम प्रभु से पैदा होते हैं तथा उसी से हमारा पोषण भी होता है और उससे वैसे ही सम्बद्ध रहते हैं जैसे बालक अपनी माता से हमारा सम्बन्ध मालिक से और भी अधिक है हम उसके अवयव हैं हमारा और उसका अंश-अंशी सम्बन्ध है। सागर और उसकी लहरों में अन्तर नहीं सूर्य और उसकी किरणों में कोई भेद नहीं। हम मालिक से कभी जुदा नहीं हुए और वह हमेशा हमारे अंग-संग और अन्दर-बाहर मौजूद है।" गुरु नानक फरमाते हैं—तू दरियाउ दाना बीना मैं मछुली कैसे अंतु लहा। (सिरी म० १ पृ० २५१)[3]। तात्त्विक-साम्यता के सम्बन्ध में गुरु अर्जुनदेव ने जल एवं तरंग का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जीव के मानव देह में प्रकट होने से किसी प्रकार प्रभु से कोई अन्तर पैदा नहीं होता। जीव वही रहता है जो उसका परमात्मा—

हरि का सेवक सो हरि जेहा भेदु न जाणहु माणस देहा।
जिउ जल तरंग उठहि बहुभाती फिरि सललै सलल समाइदा। (मारू सोलहे)

---

१ किरपाल दइआ दइआलु दाता जीआ अन्दरि तु जीवें।
मैं अवरु गिआनु न धिआनु पूजा हरिनामु अन्तरि वसि रहे।
भेखु भवनी हठु न जाना नानक सचु गहि रहे।
१ बिलावल छंत दखणी पृ० ८४३।

२ कबीर ने लिखा है—कहु कबीर इहु राम की अंस।
१ राग गौंड आदिग्रन्थ पृ० ८७१।

३ गुरमत सिद्धान्त—सम्पादित एवं प्रकाशित महाराज सावनसिंह जी।
पृ० ११ १२।

३ क भेदाभेदवाद का निश्चित रूप यहाँ उपलब्ध है।

(घ) पति-पत्नी सम्बन्ध—संसार के भोले जीवों को ब्रह्म और जीव के गहन सत्य को समझाने के लिए गुरु नानक निकटता के सार्वलौकिक नाते पति और पत्नी के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पति-पत्नी के नाते के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे दो शरीर और एक प्राण (आत्मा) होते हैं। उनमें परस्पर किसी भी यथार्थता का भेद नहीं रहता गोपनीयता का प्रश्न ही नहीं उठता और वे आपस में इतने सम्बद्ध हो जाते हैं कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण और अस्थिर हो जाता है। यही स्वरूप ब्रह्म और जीव का है। दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं अर्थात् पृथक्ता अनुभव की जाती है परन्तु तत्त्व एक ही है। ब्रह्म पति है तो जीव उसकी पत्नी। पत्नी हर क्षण पति का संयोग चाहती है परन्तु दुनियादारी के बन्धन सामाजिकता के 'सुसंस्कृत' आदेश और घर के अन्य सदस्यों के प्रति सम्मानुराग सब मिलकर पति पत्नी मिलन के मार्ग की बाधाएँ बन जाते हैं। इस गुरुमत में माया-जाल कहा गया है। जो जीव (पत्नी) इन बन्धनों को तोड़कर या इनकी उपेक्षा करते हुए प्रभु (पति) के मिलन को कटिबद्ध रहता है वह अन्ततः सफल होता है दोनों का संयोग होता है—जीव और ब्रह्म (पति-पत्नी) मिलकर एक हो जाते हैं। गुरु नानक इस सम्बन्ध को विप्रलम्भ शृंगार के अनोखे रूप में प्रस्तुत करते हैं। आत्मा रूपी पत्नी परमात्मा-पति से बिछुड़ गई है (माया-जाल के कारण) कोई उसका रक्षक नहीं स्वामी नहीं अकेली मारी मारी फिरती है और अपने उद्धारकर्त्ता मालिक को बारम्बार पुकारती रहती है। कहती है "ऐ मेरे बेपरवाह पति-प्रभु मैं तेरी अनुपस्थिति में इस बनवारम्य में अकेली क्योंकर धैर्य धारण कर सकती हूँ? पति के बिना पत्नी लम्बी अन्धेरी और सूनी रातों को सुख-पूर्वक कैसे काट सकती है? हे प्रभु तेरे बिना मुझे नींद भी नहीं आती। तेरी याद सताती है तू ही मुझे भाता है। क्योंकि अपने प्रिय स्वजन के अतिरिक्त इस दुखिया विरहिणी की सार और कौन ले?"[1] यहाँ तक सांसारिक रंग में पति-मिलनार्थ पत्नी की पुकार का चित्रण कर अन्त में गुरु नानक इसे आध्यात्मिक पुट दे पेश करते हैं 'आत्मा अपने पति से बिछुड़ कर तिल-तिल विरह विदग्ध हो रही है मिलन चाहती है परन्तु साधन के बिना सत्य-साधना क्योंकर सम्भव हो?' स्पष्ट ही संकेत आत्मा-परमात्मा के मिलन-साधनों (सतिसंग सतिगुरु और नाम-स्मरण) की ओर है। गुरु नानक आध्यात्मिकता के इस सांसारिक चित्रण

---

१ सुणि नाह प्रभु जीउ एकलड़ी बन माहे। किउ धीरैगी नाह बिना प्रभ वेपरवाहे।
धन नाह बाझहु रहि न साकै बिखम रैणि घणेरीआ।
नह नीद आवै प्रेमु भावै सुणि बेनंती मेरीआ।
बाझहु पिआरे कोइ न सारै एकलड़ी कुरलाए।
नानक सा धन मिलै मिलाई बिनु प्रीतम दुखु पाए।

[1] गउड़ी पूर्बी छंत पृ २४३।

की पूर्ति में प्रेम की अवश्यकता को अपेक्षित मानते हैं। यदि पति-पत्नी में प्रेम ही न हो या पति अपनी पत्नी को पसन्द ही न करे, तो क्या पत्नी-जीवन कभी सुखकर हो सकता है? कदापि नहीं। ऐसे में स्त्री को पति को आकर्षित करने वाले गुण अपने अन्दर में उत्पन्न करने होंगे। अपने को पति की प्रेम-भाजी बनाना होगा और यह तभी सम्भव होगा जब स्त्री (आत्मा) पति (प्रभु) की इच्छाओं को समझ कर अपने में अपेक्षित परिवर्तन लाने का सद्प्रयास करेगी। तब वह अपने प्रिय के घर को सुशोभित भी कर सकेगी। गुरु नानक लिखते हैं कि 'पिरु घर सोहे नारी जे पिरु भावै जीउ'। (धनासरी पृ० ६८६) यहाँ पति-पत्नी प्रतीक को आत्मा-परमात्मा के स्पष्टीकरण में कुछ और बलपूर्वक समझाया गया है। लिखते हैं कि यदि नारी (आत्मा) गुरु के शब्दों-उपदेशों का विचार कर अपने को पति के रंग में रंग ले तो निश्चय ही वह पति की प्रेम-भाजी हो जायगी क्योंकि जब तक पत्नी को ही पति से प्रेम नहीं पति के मन में उसके लिए स्थान क्योंकर बन सकता है? अर्थात् जब तक जीव प्रभु से मिलने का आतुर नहीं होता प्रभु उसकी उपेक्षा ही किये रहता है। परन्तु जब गुरु-कृपा से स्त्री (आत्मा) पति (प्रभु) का सतत ध्यान करती है, श्रद्धा और भक्ति के नशे में अति-विनम्र हो उससे मिलन की प्रार्थना करती है सांसारिक बन्धनों को त्यागती और मोह माया का अन्त करती है तब वह पिया मिलन के परमानन्द में रंग जाती है वियोग संयोग में परिवर्तित हो जाता है और वह (नारी आत्मा) अपने पति (प्रभु) का प्यार प्राप्त कर उसके सतमहलों में निवास करती है और वास्तविक रूप में सुहागिन होने का गौरव उसके पद चुम्बन करता है।[1] सिद्ध है कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिये जीव को आत्म-समर्पण करना होगा ठीक वैसे ही जैसे पति को प्रसन्न करने के लिए पत्नी किया करती है। पति-पत्नी का यह मधुरतर सम्बन्ध का दृष्टान्त जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों की गुत्थी को सुलझाने में पर्याप्त सफल कहा जा सकता है। अन्त में जैसे पति की प्रेम-भाजी बनने वाली नारी धन्य होती है फिर आनन्द एवं महान् सुख की भागी बनती है, ठीक उसी प्रकार मार्ग की बाधाओं (मायाजाल) का मर्दन कर जो जीव प्रभु के चरण पकड़ता है, सद्गुरु-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता हुआ महापथ का अनुगामी बनता है, वह वाहेपद को प्राप्त करता है। स्वयं तो वह विषम सिन्धु को तिरता ही है अपने साथियों एवं

---

१ पिरु घर नाव ता पिरु भावै नारी जीउ।
रंगि प्रीतम राती गुर कै सबदि विचारी जीउ।
गुर सबदि वीचारी नाहु पिआरी निवि निवि भगति करेई।
माइआ मोहु जलाए प्रीतमु रस महि रंगु करेई।
प्रभु साचे सेती रंग रंगेती लाल भई मनु मारी।
नानक साची वसी सोहागिणी पिर सिउ प्रीति पिआरी।

१ ३, धनासरी पृ० ६८६ ।

सम्बन्धियों-नातेदारों को भी मुक्त करवा लेता है।[1] यह सब उस जिज्ञासु आत्मा (छाम्बी नारी) की महानता का द्योतक है।

(ख) जीव और ब्रह्म की पृथक्ता—(मायाजाल नामाभाव, विषय-वासना, मनोविकार एवं सांसारिक बन्धनों के कारण)

जीव और ब्रह्म में तात्त्विक अभेद और पूर्णतम ऐक्य सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा परमात्मा से पृथक् रह कर विपाकिनी तड़प रही है। दोनों के मिलन पथ में भ्रम की भयानक खाई खुद गई है, स्थूलता का आवरण छाया है और जीव भूल भुलैयों के चक्र में यथार्थता को भूल कर विपथ पर ही अग्रसर हुआ जा रहा है। कभी प्रभु मिलन की जिज्ञासा होती भी है, तो भ्रममूलक अवधारों के कारण वह अन्तर्मुखी अनुसंधाता बनने की अपेक्षा जिधर-तिधर तीर्थों-पहाड़ों में उसे खोजने लगता है। परन्तु पश्चिमी मार्ग पर चले पूर्व के अन्वेषक की भांति जीवन भर ठोकरें खाता गन्तव्य से दूर ही बना रहता है। उक्त दूरी का कारण है—भव-बन्धन विषय वासना नाम-स्मरण का अभाव और माया का भ्रम। आत्मा परमात्मा-रूप होने के कारण अपने में कभी निस्तेज नहीं होती परन्तु देह धारण करने से उस पर सांसारिक सम्बन्धों के स्थूल आवरण चढ़ जाते हैं जिससे पृथक्ता का उद्भव होता है।[2] खेद का विषय तो यह है कि जीव वर्जितों और दुष्कर्मों के इन पर्दों में ही अपनी यथार्थ स्थिति समझने लगता है और ब्रह्मांश होते हुए भी उससे भिन्न बना रहता है उसका दुर्भाग्य। सच्चाई को छिपाकर झूठ की ओर किसी का प्रवृत्त करना ही मायावी-कृत्य है और भव-बंधन इसी मायावी-कृत्य के प्रतीक हैं। प्रस्तुत स्थिति का महत्तम कारण है संसार (झूठ) से प्यार तथा नाम (सत्य) की उपेक्षा। गुरु नानक लिखते हैं "बिनु नावै भ्रम भुलिया, ठगि मुठि कूड़िआर कोइ। १ । १ (मुही म० १ पृ० ७२१।) अर्थात् सत्यनाम स्मरण के बिना जीव विश्व में चारों ओर से ठगा जा रहा है और फिर भी भ्रमित हुआ सच्चाई से कोसों दूर संतुष्ट पड़ा है।

---

१ हरि का सिमि पाइआ मन मारी हरि सिउ राती सबदु वीचारी।
आपि तरै संगति कुलु तारै सतिगुरु सेवि तत्तु वीचारै।
१ १८ माझा पृ० २२१।

२ उदाहरणतः विद्युत्-दीपक जब तक बिजली की लहरियों से सम्बन्धित रहता है अपने में कभी निस्तेज नहीं होता। स्वयं प्रकाशित होता है दूसरे को ज्योति दान देता है। परन्तु यदि उसी पर कुछ मोटे आवरण डाल दिये जायें तो वह प्रकाश देने में असमर्थ हो जाता है। ध्यान रहे उसका अन्तःप्रकाश ज्यों का त्यों तब भी बना रहता है और समयानुसार स्थूल पर्दों को उठा देने से वह पुनः देदीप्यमान दिखने लगता है। ठीक ऐसे ही आत्मा पर दुष्कर्मों और विषय वासना के पर्दे पड़ जाने से वह अपनी ज्योति खोकर ब्रह्म से जुदा हो गई है, ज्यों-ज्यों ये पर्दे हटाए जायेंगे, प्रकाश स्वयमेव दीप्त हो उठेगा।

(घ) कर्म-सिद्धान्त—यद्यपि प्रस्तुत भावना कारण-कार्य वृत्ति पर आधारित मानी जाती है तथापि गुरुमत का स्पष्ट निर्णय यह है कि कारण और कार्य का सम्बन्ध किसी चेतन-सत्ता के हाथ है।

करण कारण समरथ है कहु नानक बीचारि।
कारण करते वसि है जिनि कल रखी धारि।

२ श्लोक सहसकृति म० १।

कर्म अपने आप फल पैदा नहीं कर सकते। हुकम ही कर्मों का फल-प्रदाता है तथापि यह फल हमारे ही कर्मों के अनुसार होता है—

हुकम चलाए आपणै करमी वहै कलाम।

२, श्लोक म० १ वार सारंग म० ४।

जीवन में बुरे कर्म हमें बँधे स्वभाव में चलाते हैं और जब तक जीव मनमुख रहता है, वह न तो उस स्वभाव को बदल सकता है, जो कर्म-संस्कारों से बन जाता है और न ही उन कर्मों को छोड़ पाता है जो अवगुणों में प्रतिफलित होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जीव को बार-बार कर्मफल भोगार्थ जन्म लेना पड़ता है। हर बार वह गुरु-मत-विरोधी कर्म करता है इसलिये अपनी मंजिल से दूर रहता है अर्थात् ब्रह्म से उसकी पृथकता बनी ही रहती है। यथा—

हउमै मल दुख फिरि मरि जमै वारो वार।
पइऐ किरति कमावणा कोई न मेटणहार।

१६, १७ सूही म० १ अष्टपदिया।

७. मिलाप

अब प्रश्न उठता है कि जीव और ब्रह्म की यह भ्रामक पृथकता क्योंकर दूर की जा सकती है? मान लीजिए पथ भ्रष्ट जीव को अन्तःप्रेरणा से आभास[1] मिलता है कि वह गलत मार्ग पर चल रहा है तो भी ठीक मार्ग कौन सा है? यह उसे ज्ञात नहीं होता। अतः सत्पथ के प्रदर्शक की आवश्यकता पड़ती है। इससे मिलाप की सम्भावना जागृत होती है एवं जब तक पथ प्रदर्शक के आदेशों का पालन न किया जाये उक्त सम्भावना मात्र-सम्भावना ही रहती है, सत्य में कदापि परिणत नहीं हो सकती। अस्तु, कहना न होगा कि माया के बन्धनों में बँधे मनोविकारों के सिलसिले में जीव को परम पद की प्राप्ति के लिये एक गुरुतर क्रम सीखना पड़ता है जिसका स्वरूप खण्ड विभाजन युक्त आगामी पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है।

---

१ गुरु वाणी के अनुसार सत्कर्मों (पूर्व जन्म के) के बिना ऐसा आभास कभी नहीं होता। प्राप्ति के साधन हैं अच्छे लोगों की संगति धर्म-शास्त्रों का अध्ययन एवं अन्तःकरण की शुद्धि।

(क) विकारों का अन्त—जिज्ञासु जीव को सर्वप्रथम अपने मानसिक विकारों का अन्त करना अत्यावश्यक है। चंचल मन को स्थिर करना, मोह-माया के बन्धनों को काटना एवं सांसारिक आकर्षणों को त्यागना ऐसी क्रियायें हैं जिनमें भटका हुआ जीव स्थिरता प्राप्त करता है। मन की चपलता के प्रभाव में मनुष्य दुनियाँ के विषय विकारों में फँसा माया के हाथों की कठपुतली बना नाचता रहता है। ऐसी स्थिति में प्रायः जिज्ञासा भी नष्ट हो जाती है।[1] जीव अपनी पतित स्थिति में ही संतुष्टि लाभ करने लगता है। उसकी गिरावट यहीं तक सीमित नहीं हो जाती वह और भी दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है तथा अपने हाथों अपनी भलाई का पथरोध करता है। गुरु की वाणी में विकारी मन को ही इस हेय स्थिति के लिये अपराधी ठहराया गया है और इसके वश कर लेने को विश्व-विजय सरीखा महत्त्व दिया है।[2] गुरु नानक लिखते हैं कि मन को समझाने और वश में करने से ही स्वामी-प्रभुपत (प्रिय मिलन) सम्भव है—

बोलै बोलै मलनिध होवै फिर फिरि मलतु लगाए।
गुरि गुरमती सचु मानहु प्रगटै अपने मन समझाए।[3]

आगे लिखते हैं कि मन को समझाने के साथ साथ पंच-विकारों (काम क्रोध, लोभ मोह, अहंकार) का अन्त करना भी परम-सत्य की प्राप्ति में अनिवार्य है। कृत्रिम आडम्बर (योग-आसन जटा-धर्षण भगवा-पहनावा घर-बार का त्याग आदि), जीव की निष्क्रियता का द्योतक होगा। उसे तो किसी अनुभवी महापुरुष के चरण पकड़ने चाहिएँ और उसके उपदेशों-आदेशों से मानस की पावनता प्राप्त कर अपने को प्रभु के समीप लाने का उपक्रम करना चाहिये। गुरु की शुद्ध और सिद्ध वाद परख लेने से मन की चंचलता तो शांत होगी ही, साथ ही परम-पद प्रभु की अति निकट जानकारी भी मिल सकेगी।[4]

---

१ जिस प्रकार माली का कीड़ा गन्दी जगह में जन्म लेता और पलता है, वह धीरे-धीरे अपने वातावरण का इतना अभ्यस्त हो जाता है कि माली की "सुगन्धि" छोड़ कर वह उसी स्थान की "दुर्गन्धि" में भी रहना नहीं चाहता।
२ मनु जीतै जगु जीतु—जपुजी।
३ पद ११, राग रामकली म० १ पृ० ९०४।
४ पंचहरि सबदु निरंतरि मुझा हउमै ममता दूरि करी।
कामु क्रोधु अहंकार निवारै गुर कै सबदि सु समझ परी।
जिना मोमी भरिपूरि रहिआ नानक सारि एक हरी।
माया माहि सचु नाही पाई गुर की बात करी।
रामकली सिद्ध म० १ पृ० ९१९।

प्रिय-मिलन के पथ पर मनोविकारों के अन्त के लिये रखा गया प्रथम-चरण ही 'गुरु की आवश्यकता' की ओर संकेत कर रहा है। अर्थात् ऐसा प्रतिभासित होता है कि गुरु की प्राप्ति के बिना कोई जीव मिलन-पथ का अनुगामी नहीं बन सकता। (पीछे इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है) अतः किसी सच्चे गुरु की खोज अवश्यम्भावी ही है, यह सद्चेतना से पूर्व की बात या बाद में परन्तु बात का ठीक निर्देशन उसके अभाव में असम्भव प्राय है।

(ख) गुरु की सहायता ज्ञान-प्राप्ति एवं सत्य की जानकारी—यह जानते हुए कि गुरु की सहायता के बिना जीव प्रभु-मिलन के पावन उद्देश्य में कभी सफल नहीं हो सकता, पश्चात्तिज्ञता के साथ साथ मानव-कर्तव्य हो जाता है कि वह सच्चे और अनुभवी महापुरुष को पहचाने, खोजे और उसका दामन थाम ले। गुरु नानक ने संत मत के इस विश्वास पर पर्याप्त बल दिया है—

गुरि मिलिये आसमु पछाणीऐ, कहु नानक मोखु दुआरु।

मै २ माझ अष्टपदी पृ० १०१०।

तथा—

गुरमति खोजि लहहु घरु अपना बहुड़ि न गरभ मझारा है।

४ १० मारू पृ० १०१०।

यहाँ प्रश्न उठता है कि गुरु खोज लेने मात्र से ही क्या जीव और ब्रह्म का मिलाप हो जाता है? नहीं, तब भी यह एक महद् कार्य है। गुरु अपने में एक ऐसी ज्योति है जो माया के स्थूल आवरणों में भी सत्य की जानकारी करवा सकती है। उसके उपदेशों से सद्ज्ञान की प्राप्ति होती है, यथार्थता जीव के सम्मुख स्पष्ट हो जाती है। गुरु की सहायता से जीव अपने और ईश्वर के बीच की खाई को पहचानता है तथा गुरु-निर्देशित मार्ग पर अग्रसर हो उक्त खाइयों को पाटने के सत्कर्म करता है। उसके प्रकाश में अंजन में निरंजन को देखता है। प्रभु-भावना का मूल्यांकन करने लगता है तथा परमात्मा का गुण-गान करता हुआ भय भ्रम एवं जन्म-मरण के दुखों से मुक्त हो जाता है।[1] यहाँ जय के लिए गुरु-प्रयोजन को अनिवार्य ठहराते हुए गुरु नानक ने जोर देकर कहा है "सतगुरु साचा मन वसै, साजन उत ही ठाइ"।[2]

---

१ ऐसी सतिगुरु भाइ नाम निरजना। गुरु जावै तिसै रजाइ भरमु भउ भगना। ३।
अनमत ही दुखु जावै मरणा जाइसी। जनमु मरणु परवाणु हरिगुण गाइसी।
४ ३ सूही ७५२।

२ भुली भुली मैं फिरी पाधरु कहै न कोई।
पूछहु जाइ सिआणिआ [redacted] काटै मेरा कोई।
सतिगुरु साचा मनु वसै साजन उत ही ठाई।
नानक मनु त्रिपतासीऐ सिफती साचै नाई।
मारू श्लोक म० १, पृ० १ ८३।

अभिप्राय यह है कि जब तक गुरु की खोज कर ज्ञान प्राप्त न किया जाए, गुरु ज्योति को हृदय में रख यथार्थता को न पहचाना जाय तब तक सत्य सिद्धि असम्भव से भी परे की वस्तु बनी रहेगी ।

(ग) नाम-स्मरण—कोई हम पाक-शास्त्र पर प्रवचन सुनाए, सुन्दर, सरस भोजन बनाने की विधियाँ बताये, तो क्या उन विधियों के अनुसार भोजन बनाने और खाने के बिना सुनने मात्र से ही हम उनका आस्वादन कर सकते हैं ? कदापि नहीं । बातों से पेट नहीं भरता पेट भरने के लिये उक्त बातों को व्यावहारिक रूप देना होगा । ठीक इसी प्रकार गुरु को खोज लेना उसके उपदेश सुनना एवं उसकी सही बातों को निष्क्रिय भाव से मस्तिष्क के किसी कोने में छिपा रखने से भगवान नहीं मिल जाता आवश्यकता है गुरु के उपदेशों को व्यावहारिकता प्रदान करने की तथा उसकी बताई बातों पर अभ्यास करने की । गुरुवाणी अभ्यास के सिद्धान्त को स्वीकार करती है । निर्विकार ढंग से कहा गया है कि जीव जब तक भगवद्भजन नहीं करता प्रभु का नाम-स्मरण नहीं अपनाता तब तक प्रभु से उसका मिलाप नहीं हो सकता । गुरु का कार्य है मार्ग सुझाना एवं नाम के स्वरूप का परिचय देना । इसके आगे के मार्ग पर योग्य परिचय प्राप्त-जीव को गुरु के प्रति आत्म-समर्पण कर स्वयं डग-डग चलना है । इसमें सम्यक स्थिरता अडिगता और संयम की आवश्यकता है—और उसका महामंत्र है गुरु द्वारा बताया हुआ नाम-रहस्य तथा उसका अभ्यास । गुरु नानक ने नाम को शब्द और अनक्षर (अक्षर) भी कहा है और उसके स्मरण एवं रहस्य ज्ञान का महत्त्व प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

सिध साधिक जोगी अरु जंगम एकु सिधु जिनी धिआइआ ।
परसत पैर सिझत ते सुआमी अखरु जिन कउ आइआ ।

४ रामकली म० १ पृ० ८७८ ।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि गुरु मुक्ति का नाम सुझाता है और जीव उसमें विश्वास जमा कर प्रभु का स्मरण करता हुआ भव-सिन्धु से पार हो जाता है—

हरि नामु चेति फिरि पवहि न जूनी ।
गुरमति सारु होरु नामु बिहूनी ।

रामकली म० १ पृ० ९१२ ।

नाम का जानकार ही तो उचित पथ प्रदर्शन कर सकता है दूसरा कोई नहीं । इसीलिये गुरुवाणी में नाम-स्मरण के लिये भी गुरु द्वारा सुझाव का अभिप्राय माना गया है । वह आध्यात्मिकता के इस पथ का सुझाता होता है और उसके सुझाव

वास्तविकता के बारे में सुस्थित ।[1] विशेष विचारणीय बात यह है कि जीव-ब्रह्म मिलन में एकांगी कार्य सफलतादायी नहीं हो सकता । मात्र गुरु की प्राप्ति या केवल गुरु-विहीन भगवदुपासना दोनों ही अपने में अपूर्ण है । जीव की सफलता तभी सम्भव है जब उसे सच्चा गुरु मिल जाय वह उसमें विश्वास बनाकर आत्म-समर्पण कर दे और फिर उसके द्वारा सुझाये मार्ग का निष्ठ अनुगामी बने । तदोपरान्त जब जीवत्व की सीमा प्रभु चरणों तक पहुँचे तो मिलन अनिवार्य होगा । गुरु नानक लिखते हैं 'प्रभु-मिलन के क्रम में सर्वप्रथम चंचल-बुद्धि (मनोविकार) का त्याग करने से ही भ्रम और भय का नाश और शब्द से अनुरक्ति का उदय होता है । तब हरि रस का सुपान करने से जीव की युगों-युगों की आध्यात्मिक तृष्णा शान्त हो जाती है ।[2] परन्तु यह सब कब सम्भव होता है ? उत्तर में कहते हैं 'जब कोई सतिगुरु जीव पर अति दया कर उसे उपदेशामृत प्रदान करता है साथ ही उसकी पुकार सुन कर कृपा-निधान प्रभु का वरद् हस्त उस पर उठता है और उसका मन परमात्मा के रंग में रंगा जाता है ।[3]

(घ) सेवा-भक्ति और श्रद्धा—प्रभु-मिलन के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये उक्त समर्पणात्मक गुणों की भी विशेष आवश्यकता है । हरिनाम-स्मरण तब तक उच्च कोटि का नहीं हो सकता जब तक कि उसमें श्रद्धा और भक्ति की प्रबल पुट न दे दी जाय । 'श्रद्धावान् लभते फलम्" के कथन को चरितार्थ समझते हुये सेवाभावी गुरु-हृदय में परम-सत्य के निवास की बात सम्भवतः गुरु नानक ने इसी निश्चित दृष्टिकोण से कही होगी ।[3] और यही आधार होगा उनके द्वारा अपने मन को आदेश देने का "ऐ मन तू सत्पुरुष में अखण्ड विश्वास रखना कहीं चोट न खा बैठना (विमुख न होना) । उसी के गुण गाते हुए तुम्हें उसमें लीन होना है ।[4]

---

१ इस स्पष्टीकरण का उद्देश्य उन जिज्ञासुओं की शंका समाधान करना है जो प्रभु नाम का गान करने के लिये मध्यस्थ रूप में गुरु को अनावश्यक समझते हैं । सन्त सिद्धान्तों में गुरु केवल मध्यस्थ ही नहीं वह स्वयं ब्रह्म है (पीछे बताया जा चुका है) परन्तु एक विशेष दृष्टिकोण लिये वह पथ-प्रदर्शक बनकर अवतरित हुआ है ताकि भटके हुये जीवों को त्राण मिल सके ।

२ चंचल मति तिआगी भउ भंजनु पाइआ एक सबदि लिव लागी ।
हरि रसु चाखि तृखा निवारी हरि मेलि लये बडभागी ।
अमरत सिंचि भए सुभर सर गुरमति साचु निहाला ।
मन रति नामि रते निहकेवल आदि जुगादि दइआला ।
१ २, सारंग अष्टपदी पृ० १२१२ ११ ।

३ सूचै भाँडै साचु समावै विरले सूचाचारी ।
ततै कउ परमततु मिलाइआ नानक सरणि तुमारी ५ ९ सोरठ, पृ० ५९७ ।

४ पद १ ९ राग तुखारी पृ० ११११ ।

(क) लौकिक-वासनाओं और मनमुख कर्मों का त्याग—प्रभु कृपा के लिये लौकिक-वासनाओं बाह्याडम्बरों हठमें तथा मनमुखी कर्मों का त्याग करना अनिवार्य है। ये सब चीजें अहंकारजनित किसी न किसी नैमत्तिक परिणाम द्वारा प्रभु जनित होती हैं तथा उन भोग के लिये मनुष्य को आवागमन के बन्धन में पड़ा रह कर मंतव्य (हरि मिलन) को खोना पड़ता है।

जीव की कर्म-लीला गुरु-मतानुसार हो जानी चाहिए, ताकि वह निष्काम वृत्ति में रह कर कर्म-फंद में फंसने से बचा रहे। ऐसा होने से कर्म-फल पाने का प्रश्न समाप्त हो जाएगा और जीव को चौरासी जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आना पड़ेगा।

(ख) उपलब्धि—ईश्वर कृपा से—जीव और ब्रह्म के मिलन में जिन उपर्युक्त आवश्यकताओं की अपेक्षा दर्शायी गई है वे क्योंकर प्राप्त हों? उत्तर में गुरु नानक गुरु विश्वास का आश्रय लेकर 'ईश्वर कृपा' की ओर संकेत करते हैं। उनके मतानुसार जब तक जीव के शुभ कर्मों पर प्रसन्न हो स्वयं सत्पुरुष अपने वरद्-हस्त की छाया न करे, न गुरु प्राप्त हो सकता है न जीव नाम-स्मरण का सामर्थ्य पाता है और न ही उसमें श्रद्धा-भक्ति सरीखे समर्पणात्मक गुण उत्पन्न होते हैं। अतः संसार में आने वाले प्रत्येक जीव का सर्व-प्रथम कर्तव्य अपने में सात्विक गुणों की वृद्धि होना चाहिए, ताकि वह शिव तत्त्व के पोषक स्रोत भगवान की कृपा-दृष्टि का सहज भाजन बन सके।

(ग) जीवन मुक्ति एवं जीवित मरना—मिलाप के सोपान की कड़ियाँ गिनता हुआ जीव उपर्युक्त प्रत्येक स्थिति से होकर अन्ततः जीवन-मुक्ति तक पहुँचता है। श्री गुरु अर्जुनदेव 'सुखमनी' में जीवन-मुक्ति का स्वरूप दर्शाते हुए लिखते हैं "प्रभु की आगिआ आतम हितावै, जीवन मुकति सोऊ कहावै।" उसके लिए हर्ष-शोक आनन्द-वियोग स्वर्ण-मिट्टी विष या अमृत मान-अपमान सब बराबर हैं। जिसके अन्तर में प्रभु स्वयं निवसित रहता है वह जीवन-मुक्त है वह तो "आप मुक्त मुक्त करे संसार, नानक तिस जन कउ सदा नमस्कार।" गुरु नानक ने तो दो टूक निर्णय देते हुये माझ अष्टपदी में लिखा है—

जीवन मुकत सु आखीऐ जिसु विचहु हउमै जाइ।

अर्थात् गुरमुख अडिग विश्वास एवं भक्ति से सुसज्जित तथा सात्विक गुणों से अलंकृत हो जब अहं ममत्व का त्याग करता है, तो जीवन-मुक्त कहलाता है। वह जीवित ही मरना सीख लेता है। उसके लिये गुरु अर्जुन का प्रस्तुत पद चरितार्थ होता है—

आठ पहरि प्रभु अपना धिआइऐ, गुर प्रसादि भउ तरीऐ।
आप तिआगि होईऐ सभ रेणा, जीवतिआ इउ मरीऐ।

राम सूही, म० ५।

(ज) लीनता—इस मार्ग की अन्तिम मंजिल जीव का ब्रह्म में लीन हो जाना है। क्रमिक प्रगति करते हुए वह अपने शुद्ध मन से गुरु की खोज करता है। प्राप्ति के उपरान्त उसमें अखण्ड विश्वास हो जीव उसकी आज्ञानुसार नाम स्मरण करता हुआ ईश्वरीय-कृपा का भाजन बनता है। तभी भक्ति का उदय होता है और अपनी लौकिक-इच्छाओं तथा अनावश्यक कर्मों का त्याग कर जीव अपने प्रत्येक कर्म का हेतु उसी 'एक' को मानने लगता है। प्रस्तुत भावना "निष्काम कर्म" का आधार बनती है और उसका देखना सुनना चलना करना आदि सब भौतिक-हेतु से हटकर परालौकिक तक पहुँच जाता है। वह जीवित-मरणावस्था को पा जाता है और ईश्वरीय-आज्ञा को पहचान कर अपने स्वामी में ही लीन हो जाता है। यथा गुरु अंगद कहते हैं—

अखी बाझहु वेखणा विणु कंना सुनणा
पैरा बाझहु चलणा विणु हथा करणा।
जीभै बाझहु बोलणा इउ जीवित मरणा,
नानक हुकमु पछाणि कै तउ खसमै मिलणा।

सलोक वार-माझ पृ० १३९।

४
जीवात्मा

आतम महि रामु राम महि आतमु चीनसि गुर बीचारा ।
अंमृत बाणी सबदि पछाणी दुख काटै हउमारा ।
(१ १ भैरउ)

आज का वैज्ञानिक युग स्वीकार करता है कि मनुष्य जो सर्वयोनि-सम्राट कहा जा सकता है, एक दीर्घ विकास का परिणाम है। प्रस्तुत विकास के अन्तर्गत आवश्यकता आविष्कार की जननी है को चरितार्थ करते हुए, पत्थर-युग से लेकर अब तक उच्च-विचार शक्ति, अनेक अनुभूतियाँ उपकरण जुटाने का साहस आदि कई पूंजियाँ मानव-जाति की भंडार बनीं। कुछेक विचारकों ने इस सम्पूर्ण विकास को स्पन्दन का परिणाम माना और यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि मानवीय चेतना की उत्पत्ति भी उक्त आरम्भिक स्पन्दन से ही सम्भव हो सकी है। (यहाँ भारतीय विचारधारा का तीव्र विरोध है)। ऐसा ही क्यों न हो ? परन्तु यह मानने में कभी किसी को आपत्ति न होगी कि चेतना की जिस पूर्णता तक मनुष्य ने विकास प्राप्त किया है, और कोई प्राणी नहीं कर पाया। साधारणतः प्राणियों के चेतन प्रतीकों में अनुभूति और बुद्धि का समावेश जिस स्तर पर मनुष्यों में हुआ है, और किसी में नहीं। इसलिए मनुष्य को सर्वोत्तम प्राणी स्वीकार किया जाता है।

जीव क्या है ?

जब मनुष्य के स्वरूप का प्रश्न उठता है। भारत की लगभग सभी दार्शनिक-विचारधाराएँ मनुष्य में पदार्थ तथा चेतना का समन्वय स्वीकार करती हैं। शरीर पदार्थ है उसकी उत्पत्ति कुछ प्राकृतिक-नियमों में सम्बद्ध पदार्थ से ही होती है। वीर्य और रज के मेल से शरीर ही शरीर उपजाता है। अर्थात् पदार्थ बाह्य प्रकृति की उत्पत्ति है, जबकि चेतना परम-चेतना ब्रह्म का अंश। श्रीमद्भगवद्गीता में क्षर अक्षर तथा पुरुषोत्तम जिन तीन प्राकृतिक- तत्त्वों का वर्णन उपलब्ध है, उसमें अक्षर तत्त्व (अविनाशी) को ही जीव या ब्रह्म की परा-प्रकृति कहा जाता है। (गीता ७-५) शरीर की समूची-चेतना यही है—यह जगत को धारण करता है, भगवान का अंश (गीता १५-७) है और यही भगवान् की वह प्रकृति है जो मरने पर एक शरीर को छोड़ दूसरे में प्रवेश करती और विषय-भोग का आधार बनती है। अंशांशी सम्बन्ध होते हुए भी भगवान् से इसकी भिन्नता का कारण दर्शाते हुए शंकराचार्य ने गीता भाष्य (१५-७) में बताया है कि अविद्या के कारण जीव भगवान् से भिन्न दीख पड़ता है और भगवान् के सभी गुणों की उपलब्धि उसमें सम्भव होने पर भी अविद्या ही के कारण जीवित-दशा में इन गुणों की अभिव्यक्ति जीव में नहीं होती। अभिप्राय यह

कि जीव प्रभु का अंश है परन्तु अविद्या के अन्धकार में अपनी ज्योति को खोकर मणि रहित सर्प की नाईं भटक रहा है।

क्योंकि महात्मा बुद्ध आत्मा परमात्मा तथा उनके सम्बन्धों पर मौन रहे हैं इसलिये बौद्ध-विचारधारा को भारतियों ने नास्तिक माना है। तो भी महायान सम्प्रदाय के योगाचारी या विज्ञानवादियों ने आलयविज्ञान के तथागत धर्म या 'चित्त' में जिन विशेषताओं को समाहित किया है वे जीव की चेतना तथा सत्ता की ओर पूर्ण संकेत करती हैं। 'चित्त' की ही प्रवृत्ति और मुक्ति की कल्पना आलयविज्ञान को व्यावहारिक जीवात्मा की कोटि में पहुँचा देती है।

सांख्य-मतानुसार त्रिगुणातीत और निर्लिप्त 'ज्ञ' का बद्ध रूप ही जीवात्मा है जो परोक्ष है। 'ज्ञ' स्वयं भी परोक्ष है। 'ज्ञ' के समस्त धर्म जीवात्मा में उपलब्ध हैं परन्तु गुणों के तन्तु-जाल में बद्ध होने के कारण उसमें अनेकत्व के साथ-साथ सांसारिक वृत्तियों एवं विषय-वासनाओं आदि का जन्म होता है। इन्हीं प्रवृत्तियों से बचना तथा निष्काम-भाव से कार्य रत रहना ही गीता का मुक्तिपथ है।

शंकर ने अद्वैतवाद में ज्ञानमय कोष[1] से घिरे परम चेतन को जीव कहा है यही जीव लोक से परलोक जाता है। ध्यान रहे यह जाना-आना उस परम चेतन की विशेषता नहीं वह तो स्थिर है। अतः वास्तव में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को पाकर 'विज्ञानमय-कोष' में क्रिया उत्पन्न होती है। इसी से हमें आने-जाने का भ्रम होता है। यह जीव कर्ता-भोक्ता सुखी-दुःखी होता है। यही इस संसार में रहकर भोग करता है—यह जन्म-मरण में पड़ता है बद्ध है, अतः मुक्ति की अपेक्षा रखता है दूसरे शब्दों में अविद्या या अज्ञान से आवृत ब्रह्म को जीव कहते हैं। भेदाभेदवादी भास्कराचार्य का मत भी यही स्वीकार करता है कि अज्ञान और कर्म के कारण ही जीव बन्धन में पड़ता है और जब तक उसकी संसारावस्था रहती है वह जीव रहता है मुक्ति की दशा में तो वह परमात्मा में लीन हो जाता है।

रामानुजानुसार चित्-तत्त्व ही जीवात्मा है, जो देह इन्द्रियों मन प्राणादि से भिन्न है। यह ज्ञान का आश्रय है, ईश्वर उसका नियामक है, तथा वह ईश्वर का अंशभूत भी है।

मध्यकाल में गुरु नानक के सम्मुख भी 'जीव क्या है ?' का प्रश्न आया। परन्तु वे महात्मा तर्कों और शास्त्रार्थ में न पड़कर प्रत्येक दार्शनिक-तत्त्व का व्यावहारिक

---

१ अन्तःकरण के भिन्न अंशों मन बुद्धि चित्त और अहंकार की वृत्तियाँ प्रकाश स्वरूप हैं अतः उनकी उत्पत्ति सात्त्विक अंश से मानी जाती है। इनके उत्पन्न होने के बाद बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सम्मिलन से कोष के समान एक कार्य-वस्तु शरीर में पैदा होती है उसे विज्ञानमय कोष कहते हैं।

भारतीय दर्शन, उमेश मिश्र पृ० १९२।

रूप देखना श्रेयस्कर समझते थे । अतः उन्होंने अपने पूर्वगामी विचारकों के मतों को समन्वित किया और तत्कालीन परिस्थितियों के सांचे में ढालकर उसे नया रूप दे डाला । भगवद्गीता के अनुसार गुरु नानक ने जीवात्मा को भगवान् का अंश स्वीकार किया और शंकर की तरह आत्मा और परमात्मा में अभेद माना । बाहरी भेद का मुख्य कारण उन्होंने भी अविद्या और अज्ञान को ठहराया । पुनः सांख्यमतानुसार त्रिगुण बन्धनों के कारण जीव में सांसारिक-प्रवृत्तियों और विषय-विकारों का जन्म एवं भेदाभेदी भास्कराचार्य की तरह मुक्त-जीव की परमात्मा में लीनता स्वीकार की गई । इन सबको ऐकान्तिकता की कोटि से बाहर व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए गुरु नानक ने जीवात्मा का त्रिगुण सत् चित् और आनन्द ब्रह्म का अंश स्वीकार कर कर्मवाद की कल्पना के अन्तर्गत उसमें आनन्द का अभाव घोषित किया । यदि जीव इस अभावयुक्त अंश को भी प्राप्त करले तो वह ब्रह्म से अपना अभेद देखने की मान्यता पा जायगा । आनन्द की प्राप्ति का एक मात्र साधन है, सत्कर्म और सात्विकता । यदि जीव सेवक-कार्यों की ओर प्रवृत्त हो बुराई और दुष्कर्म का त्याग कर अपने वर्तमान दो अंशों—सत् तथा चित् में अपने व्यवहार को केन्द्रित करे, तो सुप्त आनन्द भी प्रकट हो जाएगा और वह भाग्यशाली जीव कर्मों के चक्र से मुक्त हो अविद्या या अज्ञान के अन्धकार में स्वयं एक ज्योति बन जाएगा । उसकी यह स्थिति जीवन-मुक्ति कहलाएगी । ऐसा जीव 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के रूप में जीवन का दृष्टिकोण बदल लेगा और प्रभु-भजन में तल्लीन रहता हुआ मृत्यु पश्चात् जन्म-मरण से मुक्त हो जाएगा ।

स्पष्टीकरण हेतु कहा जा सकता है कि मनुष्य के अन्दर की प्राण-ऊर्जा या चेतना परालौकिक स्वरूप की वस्तु है जो उस प्रभु की ओर से प्रदान की गई है । यह सत्ता की ज्योति (परम-ज्योति या ब्रह्म) का तुलना मात्र है जिसके योग्य प्रकाश और अपेक्षित ऊष्मता में शरीर गतिशील और चेतन बनता एवं संसार में आकर जीवित प्राणी कहलाने की क्षमता पाता है । तीसरी पातशाही गुरु अमरदास जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

ऐ सरीरा मेरिआ, हरि तुम महि जोति रखी ।
ता तू जग महि आइआ ।

रामकली अनंदु श्लोक ३३ पृ० ९२१ ।

अर्थात् आत्मा या जीव शरीर नहीं वह परम-ज्योति का अंश है और जैसा कि पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि वह ज्योति चिर प्रकाशित देश-काल की सीमाओं से बाहर एवं अपरिवर्तनीय है उसका अंश जीव भी अविनाशी है । शरीर को दीप्त करने के लिए वह ज्योति प्रभु की ओर से रखी गई है अतः शरीर [illegible]

इधर-उधर फँसते और अन्ततः उसी में समा जाते हैं वह ज्योति-अंश भी शरीर के नाश होने पर परम-ज्योति में विलीन हो जाता है।[1] भाव यह है कि जीव अनश्वर है तो शरीर नाशवान्। गुरु अर्जुन लिखते हैं

(क) मरणहार इहु जीअरा नाही।[2]

(ख) ढंढी सती मिट्टी जाही। वहु न जासा गुरा भाई।[3]

गुरु नानक ने भी ऐसे ही विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है कि जीवात्मा वीतरागी की नाई प्राकृतिक-बन्धनों से मुक्त है वह मरता-जन्मता नहीं। वह प्रभु का अंश होने के नाते केवल उसी की आज्ञा में कर्मशील है।[4]

आधुनिक मनोविज्ञान भी भौतिक-अनुभूतियों से इतर अन्य सब प्रकार की क्रियाओं का निर्णायक आत्मा जीव या शरीर की प्राण-ऊर्जा अथवा आन्तरिक शक्ति है। 'शरीर में चेतना तथा निर्णय करने का गुण नहीं वह आत्मा की थाती है। प्रश्न उठता है आत्मा क्या है? कई विचारकों का कहना है कि आत्मा ही ब्रह्म है। परन्तु गुरुमत इसके विपरीत है। गुरु नानक मतानुसार जीवात्मा जिस दशा में है ब्रह्म नहीं। इसे निरंकार ने अपनी ज्योति से उत्पन्न किया है अतः यह उसका अंश हो सकती है। तत्त्व-अभेद होने के नाते आत्मा निरंकार से मिल सकती है परन्तु प्रभु पूर्ण है तो जीव अपूर्ण अस्तु निरंकार में लीन होने पर भी परम परम ही रहेगा जबकि आत्मा का अस्तित्व उसमें विलीन हो चुका होगा।[5] तभी गुरु नानक ने लिखा भी है—

तू पूरा हम ऊरे होधि तू गउरा हम हउरे।

२ ५, सोरठ, म० १ पृ० ५९७।

जीव परमात्मा का अंश होता हुआ भी परमात्मा से भिन्न है। उसकी शक्तियाँ सीमित हैं वह विशुद्ध चेतनता नहीं रह गया भौतिक शरीर में निवास करने से उसकी बहुत सी व्यस्तता पदार्थक-क्रियाओं की ओर प्रवृत्त हो चुकी है। भाई साहिब जोधसिंह जी का कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य की वर्तमान भौतिक-उन्नति निसर्ग नियमों को समझ लेने में निहित है ठीक उसी तरह उसकी आध्यात्मिक-उन्नति

---

१ तुझते उपजहि तुझ माहि समावहि। १९ २ १४ मारू सोलहे, पृ० १०३५।

२ गउड़ी गुआरेरी पद ३ ४१ ११२ म० ५ पृ० १८८।

३ आसा पद १ ११ म० ५, पृ० ३७५।

४ ओहु बैरागी मरै न जाइ। हुकमे बाधा कार कमाइ। ४ ३१ ८२ आसा।

५. गुरुमत-निर्णय—भाई जोधसिंह जी। पृ० ४१।

निरंकारी-नियमों और आज्ञाओं पर आचरण करने से ही सम्भव है। ये नियम पूर्व-स्थित हैं, जीव में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि वह नए नियम बना सके या पूर्व-नियमों को बदल सके।[1] गुरु अर्जुनदेव लिखते हैं—

> जितु जितु लावहु तितु लगहि हरिनाथ ।
> नानक इनके कछु न हाथ ।[2]

फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो सामर्थ्य प्रभु की ओर से जीव को प्रदान किया गया है उसके प्रयोग में जीव को बहुत कुछ स्वतन्त्रता है। परमाज्ञा (Supreme Will) का अंकुश वहाँ भी रहता है। गुरु नानक फरमाते हैं कि प्रभु का बनाया यह जीव किसी विशेष अवस्था में पहुँच कर भी स्वमन के अहं-भाव से कुछ नहीं कर सकता। सामर्थ्य शक्ति-स्रोत का अंग है, (दाम दाता की वस्तु है) जिसे चाहे, उसे दे, जीवों (बनाए हुए या जीव क) के कहने से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।[3] पुनः कहते हैं—

> सरब जीआ सिरि लेखु धुराहु, बिनु लेखै नहीं कोई जीउ ।
> आपि अलेखु कुदरति करि देखै हुकमि चलाए सोई जीउ ।[4]

सार यह कि जीव शरीर के भीतर ब्रह्म-शक्ति का अंश है परन्तु अपनी प्राप्त-शक्तियों में स्वतन्त्र होते हुए भी वह ब्रह्म नहीं। तत्त्व-अभेद के कारण उसमें परम-लीनता की जिजिविषा विद्यमान है किन्तु प्रभु की निजी विशेषताओं को ग्रहण करने का सामर्थ्य उसमें नहीं। वह शरीर की प्राण ऊर्जा है। उसकी क्रियाएँ, इच्छाएँ या प्रवृत्तियाँ सब ईश्वर की परमाज्ञा के अधीन हैं। जब तक वह दुकर्म और कर्म चक्र में पड़ा रहता है तब तक एक शरीर के नष्ट होने पर नया धारण करता रहता है, निष्काम प्रवृत्ति होने पर वह मुक्ति का अधिकारी होता है अर्थात् परम-ज्योति में विलीन होने का सामर्थ्य पा जाता है।

१ जीव का चरम-लक्ष्य—आत्मोपलब्धि लीनता

उपर्युक्त पंक्तियों में लिखा जा चुका है कि आत्मा या जीव परम-सत्य ब्रह्म की

---

१ वही पृ० ४२-४३।

२ पद ८ १ गउड़ी सुखमनी श्लोक म० ५, पृ० २७१।

३ जीआ किहु करे मनि भावु। देवणहारे कै हथि दातु।
    आखै देइ न देई कोइ। जीआं कै कहिऐ किआ होइ।
                        १ ३ १२ सिरी म० १ पृ० २५।

४ पद १ ११ सोरठ, म० १ पृ० ५९८-९९।

ज्योति का अंश है। परन्तु मन बुद्धि एवं माया के स्थूल पर्दों में आवरित होने के कारण वह अपनी यथार्थता को खो बैठता है। इसी कारण से उसके भीतर हउमैं जागृत होती है जो परम-ज्योति की सत्ता और चेतनता पर कुछ इस प्रकार छा जाती है कि जीव निजी सम्पत्ति को पर-धन समझ अपनी भौतिक-आवश्यकताओं में ही अपरिचित-सा खोया रहता है। आत्मज्ञान न होने के कारण जीव पुनः पुनः देह धारण करता है। आवागमन-चक्र में जन्म की सम्भावना ही उसके जीवन-लक्ष्य का प्रमाण एवं ज्योति-ज्योति विलीनता की सार्थकता बनती है। गुरमति-अनुसार ऐसे चिर-मुक्ति हेतु मनुष्य-योनि ही सर्वोपयुक्त स्थिति है। बड़े ऊँचे भाग्य एवं अच्छे कर्मों से इसकी उपलब्धि होती है।[1] यदि इस जन्म में भी लक्ष्य सिद्धि का प्रयास न किया गया तो पुनः जन्म-मरण के भ्रमण में पड़ना होगा। गुरु साहिब फरमाते हैं कि चौरासी लाख योनियों के बाद प्रभु-कृपा से मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। सचमुच यदि यहाँ थोड़ी भी चूक हो गई (लक्ष्य की उपेक्षा की गई) तो पुनः आवागमन का दुःख सहना पड़ेगा।[2] इस जन्म के अन्य कर्म नाकारा और व्यर्थ हैं सार्थकता तो केवल साधु-संगति एवं नाम-स्मरण की है।

भई परापति मानुख देहुरीआ। गोबिंद मिलण की इह तेरी बरीआ।[3]
अवरि काज तेरै कितै न काम। मिलु साधसंगति भजु केवल नाम।[4]

अभिप्राय यह कि मनुष्य-देह में गोबिन्द का अंश विद्यमान है। माया के भटकीलेपन के कारण वह अपने को पृथक-सत्ता अनुभव करने लगा है। जन्म-मरण के रूप में उसी का दण्ड भी भोग रहा है। यदि वह अपने में ईश्वरत्व की खोज करले तो [illegible]-अमर के कारण कुछ ही समय में वह अपनी आंशिकता को परम-तत्त्व में लीन कर चिर-मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। और फिर—

जिउ जल महि जलु आइ खटाना। तिउ जोती संगि जोति समाना।
मिटि गए गवण पाए बिस्राम।[5]

---

१ मानसु जन्मु गुरमुखी पाइआ। १ १ ३ सूही म० १ पृ० ७५१।
२ लख चउरासी जोनि सबाई माणस कउ प्रभि दीई वडिआई।
इसु पउड़ी ते जो नर चूकै सो आइ जाइ दुखु पाइदा।
१ १ ५, मारू सोलहे म० ५ पृ० १०७५।
३ पद १ २६, आसा म० ५, पृ० ३७८।
४ खिड़की है—साधन है।
५ पद ८ ११ गउड़ी सुखमनी म० ५, पृ० २७८।

२ लक्ष्य-सिद्धि के साधन

आत्मोपलब्धि अथवा अपने को पहचानने के बाद नाम द्वारा वृत्ति को निरंकार में लगाकर उसी में लीन हो जाना जीव का अन्तिम लक्ष्य है। जैसा कि बताया जा चुका है जीव परब्रह्म का अंश है इसलिये आत्म ज्ञान ही बाद में ब्रह्म ज्ञान का रूप धारण कर उसकी मुक्ति का कारण बन सकता है। प्रश्न उठता है प्रस्तुत ज्ञान या पहचान क्योंकर प्राप्त की जाए ? उत्तर में दो टूक निर्णय नहीं किया जा सकता इसलिये एक सम्पूर्ण विचार क्रम की अपेक्षा है।

(क) हउमै का उन्मूलन—मनुष्य देह में निवसित जीव-सत्ता या चेतनता साक्षात् ब्रह्म का अंश है। क्योंकि ब्रह्म अपरिवर्तनीय और अनश्वर है इसलिए जीवात्मा भी अनश्वर और स्थिर है। परन्तु हमारे जीवित होने का भाव हमारे अन्तर 'मैं' और मेरी की वृत्तियों को जन्म देता रहता है। गुरमत में उसे हउमै भाव कहकर पुकारा जाता है। हउमै के आवरण ने जीव-सत्ता या चेतनता को बन्दी बना रखा है। यदि उसे बन्धन-मुक्त कर दिया जाए, तो ऐसा विश्वास किया जाता है कि हउमै के कारण जीव और ब्रह्म में जिस पृथक्ता का अनुभव होता है वह न रहेगा। उदाहरणतः जल में रखा 'भरा हुआ घड़ा' भीतर और बाहर जल-तत्त्व सम्पन्न होता है। तो भी दोनों अंशों के बीच घड़े की मिट्टी की तह का आवरण रहता है जो उन्हें एक-दूसरे से पृथक रखता है। यदि घड़ा टूट जाए तो जल-जल में समा जाएगा और अंशांशी भाव की अपेक्षा वहां पूर्णता का साम्राज्य होगा।[1] ठीक इसी प्रकार हउमै के आवरण में जो चेतना बन्द है वह सर्वव्यापक चेतनता से इसलिए भिन्न है कि उन दोनों में पर्दा पड़ा है और यदि वह पर्दा (हउमै) हट जाए, तो स्वभाव समान तत्त्व परस्पर एक हो जायेंगे। बन्दी-तत्त्व अपनी विशालता और महत्ता को पहचान लेगा। ईश्वरत्व के पथ पर बढ़ने के लिए हउमै का अपनत्व का यहाँ तक कि निजी भाव का भी चीर उतारना आवश्यक है। सचमुच यदि मनुष्य अपने को शून्य और उसको सर्वस्व मानकर अग्रसर हो तो उसकी अपनापे की पीड़ा की शान्ति के साथ-साथ उसे वह विचार-शक्ति भी मिल सकेगी जो उसे आत्मज्ञान की अखण्ड निधि से समृद्ध कर सके। गुरु नानक फरमाते हैं—

जब आपी तब पूछहु कैसा गहुकी चीरि निवारी।
नानक आपे आपि पछाणै गुरमुखि ततु बीचारी।[2]

---

१ जैसे कुंभ उदक पूरि आनिओ तब उहु भिन्न द्रिसटो।
कहु नानक कुंभु जलै महि डारिओ अंभै अंभ मिलो।
म० ५, सारंग म० ५, पृ० १२०३।

२ म० १ राग तुखारी पृ० १११२।

(ख) नाम-स्मरण—हउमै का उन्मूलन तथा पूर्णता की प्राप्ति का उत्तम और सरल-मार्ग है—नाम-स्मरण। प्रभु-नाम के जपने वाला व्यक्ति अपने अन्दर की हउमै को त्यागकर आध्यात्मिक-सत्य के पथ का राही बनता है। उसका चिर-मलिन मन हरि-नाम की आभा से दीप्त हो उठता है मुक्त हो जाता है।[1] इतना ही नहीं नाम जपने वाला प्राणी धीरे-धीरे अपने इष्ट का ही रूप धारण कर लेता है। गुरु साहिब फरमाते हैं—

जिन्हा न विसरै नामु से किनेहिआ।
भेदु न जाणहु मूलि साँई जेहिआ।
१ ६ १०८ आसा म० ५, पृ० ३९७।

कहना न होगा कि 'नाम' मानव-मन की चंचलता को शांत कर उसके अन्दर परम शक्ति के प्रति ऐसा विश्वास उत्पन्न करता है कि मनुष्य की हउमै-वृत्ति का नैसर्गिक ह्रास होने लगता है। मन की पूर्ण विशुद्धता एवं उक्त विश्वास समन्वित रूप में प्रारब्ध का अन्त कर क्रियमान को निष्काम रूप देने में सार्थक होते हैं। अभिप्राय यह कि कर्मविशेष शुद्धतः होकर जीवात्मा के योनि भ्रमण से मुक्त होने का कारण बनता है। गुरु नानक का कथन है—

हरि नामु चेति फिरि पवहि न जूनी।
गुरमति सारु होर नाम बिहूनी।
२० रामकली दखणी पृ० ९३२।

आगे फरमाते हैं कि मनुष्य यदि ईश्वर से प्यार करे तो वह हउमै के फंदे से बचकर प्रभु की गोद में चिर सुखी हो सकता है। वे सम्मति देते हैं कि सदैव हरि चर्चा करो उससे असीम प्यार बढ़ाओ उसका स्मरण-ध्यान करो और उसी का आश्रय लेकर अपने परम-लक्ष्य लीनता का आनन्द-लाभ करो।[2]

ध्यान रहे, यदि हउमै का नाश कर मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर ले तो उसका

---

१ जि प्रभु सालाहे आपणा सो सोभा पाए। हउमै विचहु दूरि करि सचु मंनि वसाए।
× × ×
मन मता सभ सुखु है हरि नाम धिआए। १७ सूही सलोक म० १ पृ० ७९१।

२ नानक गुरमुखि पाईऐ हरि सिउ प्रीति पिआरु।
हरि बिनु किनि सुखु पाइआ देखहु मनि बीचारि।
हरि पड़णा हरि बुझणा हरि सिउ रखहु पिआरु।
हरि जपीऐ, हरि धिआईऐ, हरि का नामु आधारु।
२१ रामकली दखणी पृ० ९१७।

वहां नाम हुकम में चलने का 'अभ्यास' होता है। वह सब बातें उसके हुकम की परिसीमाओं में छोड़ कर निश्चिन्तता अनुभव करता है, और बहिर्मुखी वृत्तियों को ज्यों ज्यों अन्तर्मुखी करता चलता है, त्यों त्यों सत्यता स्वाभाविक होती रहती है।

जेहा सेवै तेहो होवै जे मनि तिस रखाइ।
नानक सच दिखु आपि है अवरु न दूजी जाइ।[1]

(घ) गुरु-प्रबोधन—ठीक है कि नाम-स्मरण से हउमै का उन्मूलन और पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु नाम रहस्य बताने तथा उसकी ओर प्रेरित करने वाले का महत्त्व महत्तम है, और वह है गुरु। सच्चे गुरु का बताया जीव ही वास्तव में नाम-स्मरण का अधिकारी बनता है। गुरु ही नाम की सत्ता से जीव का परिचय करवाता है। भटके हुए जीव को यथार्थ एवं अपरिचित मार्ग दिखाता है, जिससे जीवात्मा अपने वास्तविक-घर को पहचान कर जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाती है।[2] हउमै का अन्त करने के लिए नाम-स्मरण से भी पूर्व चित्त-शुद्धि एवं सात्विक-गुणों की अभिवृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इसका एक-मात्र माध्यम साधु-संगति है। शरीर के स्वर्ण पिंजर में रहने वाले इस जीवात्मा-कीर को प्रभु प्रेम की टेर, सत्यता के प्रति आकर्षण एवं विशुद्धता के प्रति सौहार्द बनाए रखने की अपेक्षा है। सद्गुरु की संगति का यही पुण्य-प्रताप है, केवल तभी जीवात्मा अपने चिरन्तन-स्रोत ब्रह्म को पहचान सकती है और मोक्ष की मधुर-सम्पत्ति ग्रहण करने में समर्थ होती है। गुरु नानक लिखते हैं—

सुहट पिंजरि प्रेम कै बोलै बोलणहारु।
सचु चुगै अंम्रितु पीऐ उडै त एका वार।
गुरि मिलिऐ खसमु पछाणीऐ कहु नानक मोखु दुआरु।

[3] २, मारू अष्टपदी पृ० १०१०।

कहा जा चुका है कि आत्मा परमात्मा का अंश है, लेकिन देहधारी होने पर अपनी वास्तविकता को भूली भौतिकता में ही निमग्न हो गई है। जब कभी विश्व के प्रेरक उपकरणों से उसके भीतर जिज्ञासा जगती है, तो वह अपने को पहचानने का उपक्रम करती है परन्तु पदार्थवाद के अंधकार में पुनः खोकर रह जाता कोई अप्राकृतिक

---

१ पद १ ३ श्लोक म० ३ वार बिहागड़ा म० ४ पृ० ५४९।
२ राम नामु गुरबचनी बोलहु। संत सभा महि इहु रसु टोलहु।
गुरमति खोजि लहहु घरु अपना। बहुड़ि न गरभ मझारा हे।
४ १० मारू पृ० १०३०।

स्थिति नहीं। ऐसे में गन्तव्य की ओर निरन्तर अग्रसर होने के लिए उसे ऐसी ज्योति की आवश्यकता होती है जो सतत उसके मार्ग को प्रदीप्त किए रह सके। अपेक्षित ज्योति की प्राप्ति किसी अनुभवी महात्मा अथवा सच्चे-गुरु के माध्यम से ही सम्भव है। वस्तुतः कहने का अभिप्राय यह कि अपनी ही यथार्थता को जानने या अपने भीतर के ब्रह्म-तत्त्व को पहचानने हेतु गुरु की चिर प्रदीप्त ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है। नाम रहस्य उससे स्वतः ही प्रकट हो जाता है। गुरु नानक का कथन है—

> आतम महि रामु राम महि आतमु चीनसि गुर बीचारा।
> अमृत बाणी सबदि पछाणी दुख काटै हउमारा।
>
> १ १ भैरउ अष्टपदी पृ० ११५३।

गुरवाणी में प्रायः स्थान-स्थान पर वाणी और नाम के साथ गुरु के उच्च महत्व को स्वीकार किया गया है। फरमाते हैं कि नाम-रहस्य की जानकारी से आत्मोपलब्धि हो सकती है परन्तु गुरु-शब्दों की अनुपस्थिति में उक्त रहस्य कल्पना ही बना रह जाता है। गुरु-ज्ञान प्राप्त होने पर संताप का नाश अपने आप हो जाता है और आत्मा-रूपी नारी को प्रभु रूपी पति प्राप्त होता है।[1] यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि जिज्ञासु की खोज 'गुरु में विश्वास' पर आधारित होनी चाहिए। कर्मकाण्ड में फँसने से वह वास्तविकता से दूर हट जाएगा—कारण कि वह अन्तस् की वस्तु है बाहर की नहीं। सच्चा गुरु जीव को अन्तः प्रेरणा से ही भीतरी-ज्ञान का सामर्थ्य प्रदान करता है, और जीव आत्म-सिद्धि पाकर सदैव के लिए जन्म-मरण के दुखों से मुक्त हो जाता है। लिखा भी है—

> भ्रमु-भ्रमु फिरती डूबती भवति रही घरि बारि।
> सतिगुर भेटी मिलि रही जनम-मरण दुख निवारि।
>
> १६, रामकली दखणी म० १ पृ० ९१४।

सतिगुरु की विशेषता तो यह है कि वह तब तक जीवात्मा का साथ देता है, जब तक वह परम-पिता सत्पुरुष की गोद में न पहुँच जाय। गुरु साहिब तो गुरु की रक्षक प्रवृत्ति की तुलना माता-बालक सम्बन्ध से करते हैं। जिस प्रकार माता अपने बालक की रक्षा में सतत सावधान रहती है घर में इधर-उधर काम करते हुए

---

१ कढ़ि बाणी हरि पाइआ गुर सबदी बीचारि।
आपु गइआ दुखु कटिआ हरि वरु पाइआ नारि।

४० रामकली दखणी म० १ पृ० ९१६ १७।

भी उसका ध्यान बच्चे में रहता है ठीक वैसे ही गुरु जीव की पालना श्वास-श्वास पुचकार कर एवं दूर से भी ध्यान केन्द्रित किए रहकर करता है। यथा—

जिउ जननी सुतु जणि पालती राखै नदरि मझारि ।
अंतरि बाहरि मुखि दे गिरासु खिनु खिनु पोचारि ।
तिउ सतिगुरु गुरसिख राखता हरि प्रीति पिआरि ।
१ ७ ११ ११ राग गउड़ी बैरागणी म० ४, पृ० १६८ ।

(घ) ईश्वर-कृपा—आत्मोपलब्धि के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ईश्वरीय-कृपा का भी उच्च स्थान है। बिना प्रभु की दया के कोई जीव विश्व-सिन्धु तिरने का एप्सित लक्ष्य लाभ नहीं कर सकता। यही कारण है कि गुरु नानक ने कर्म ज्ञान एवं श्रम से भी ऊपर 'करम' को स्थान दिया है। बड़े-बड़े ज्ञानी योगी संन्यासी आदि आकाश मण्डलों के निम्न-स्तरों पर हाथ मारते रह जाते हैं जबकि दूसरी ओर किसी साधारण भक्त पर भी यदि उसकी महत् दयादृष्टि पड़ गई तो वह तत्क्षण में प्रभु की गोद में क्रीड़ा करने लगा। गुरु नानक फरमाते हैं—

आपे नदरि करे जा सोइ। गुरमुखि विरला बूझै कोइ।[1]

सम्भवतः यही कारण है कि भारतीय-धर्म-साधना में भगवद्शरण को उच्च स्थान दिया जाता है। विचारकों का मत है कि अपने को ईश्वर के आधारित करने वाले भगवद्भक्तों पर उसकी कृपा शीघ्र होती है और उसका प्रसाद मिलता है ईश्वरत्व के रूप में। इसीलिये कर्म ज्ञान योग एवं भक्ति के अध्यात्मपथों में भारतीय धर्मावलम्बी भक्ति मार्ग को सर्वश्रेष्ठ समझते रहे हैं उसके प्रति विश्वास अर्पित करते हुए स्वयं पूरी तरह निश्चिन्त रहना सीखते रहे हैं। गुरु नानक भी इसे मान्यता देते हैं।[2]

पुनः गुरु की प्राप्ति भी तो ईश्वर-कृपा से ही सम्भव है। किरपा करे जो आपनी ता सतिगुरु मिलि मिलाया का भाव कथन की पुष्टि करता है। अतः कहना न होगा कि जीव के जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति में हउमै के नाश के साथ-साथ नाम-स्मरण गुरु-प्रसाद एवं प्रभु-कृपा का समान महत्त्व है। जीव के सत्कार्यों से उस पर प्रभु का वरद्-हस्त उठे तो उसे किसी सतिगुरु की प्राप्ति हो पुनः गुरु उसे नाम-रहस्य समझा कर भगवद्भजन की ओर प्रेरित करे और जीव उसमें अडिग विश्वास बनाकर हउमै का त्याग करदे तब कहीं आत्मोपलब्धि का लक्ष्य पूर्ण हो पाता है। निरंकार की विचित्र-महिमा है कि जीव को जो वह है वही बनने में इतना परिश्रम अपेक्षित है।

---

१ पद ४ ७ रामकली म० १ पृ० ८७७ ।
२ अगम अगोचर अलख अपारा चिन्ता करहु हमारी ।
पद २-२, बिलावल म० १, पृ० ७९५ ।

सत्य तो यह है कि जीवात्मा का मनुष्य-योनि में जन्म लेना ही उस पर प्रभु कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही एक ऐसी योनि है, जिसमें चेतनतम स्तर पर यथा अनुभूति एवं सहिष्णुता विद्यमान है और इसीमें पड़ता हुआ जीव आत्म-ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच कर मोक्षासन पर विस्थापित होता है। इसी जीवन में गुरु-प्राप्ति एवं नाम-स्मरण की सम्भावना हो सकती है। यदि इसे भी बेकार खो दिया तो निश्चय ही देह-धारण के धिक्कार है।[1] यहाँ भी यदि किसी महत् लक्ष्य की प्राप्ति न हुई तो जीव की पूर्व-सांकेतिक पूर्णता के उस तक पहुँचने में न जाने फिर कितने युग लग जाएँगे। चौरासी लाख जीवन का चक्र काट कर मनुष्य जन्म मिला अब यदि इसे भी बिना साधन और उपकरण जुटाए सिद्धि के मोल गंवा दिया जाए तो निश्चय ही एक बार फिर जन्म-मरण के रहट में पिसना पड़ेगा। नाम-स्मरण एवं गुरु-बोध की अनुपस्थिति में न तो जीव को पूर्णता मिल सकती है न उसके क्रियमाण-कर्मों का नाश हो सकता है और अन्तत: यही संचित बन-बन कर पुनः मोक्ष के लिए जीव के जन्म-मरण का कारण बनते रहते हैं। तभी गुरु नानक कहते हैं—

जैसा करे सु तैसा पावै। आपि बीजि आपे ही खावै[2]।

सार यह कि गुरुवाणी तो यही मत प्रकट करती है कि जीव को सौभाग्यवश मिले इस मनुष्य जीवन का पूरा लाभ उठाना और संसार-सागर से पार हो जाना चाहिए। यही उसका लक्ष्य है।

---

१ हरि नामु न सिमरहि साध संगि तै तनि उडै खेहि।
जिनि कीती तिसै न जाणई नानक फिटु अलूनी देह।
१ १४ सलोक म० ५, वार बिहागड़ा म० ४ पृ० ५५१।

२ पद १ ४ ९ धनासरी म० १ पृ०६६२।

५

माया

माइआ मोहि जगु बाधा जमकालि ।
बांधा छूटै नामु समालि ।
(१ म : ३ आसा)

माया अथवा काल

रचना करने की इच्छा से अकाल की वह शक्ति अस्तित्व में आई जिसके द्वारा विश्व के सृजन पोषण और नाश की क्रमिक और सतत धारा प्रवाहित हो उठी। ब्रह्म की यह शक्ति भिन्न विचारधाराओं में अनेक नामों से पुकारी गई है और गुरु नानक ने इसकी रचना और क्रियाओं में विलक्षणता तथा कुत्सितता देखकर ही इसे माया कहा है। कभी-कभी माया और काल को पर्यायवाची भी समझ लिया जाता है। परन्तु ऐसा नहीं है। काल माया के साम्राज्य में विशेष राज्याधिकारी कहा जा सकता है जो माया रचित सृष्टि में संतुलन बनाए रखने के लिए जीवों को गुमराह करता है और कर्मचक्र में डालकर उनके पुनर्जन्म का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार माया के राज्य में जीव रूपी बीज को बनाए रखने का श्रेय (यही बीज जो माया को त्रिगुण से मिला है जगत की निरंतर चलना का कारण है) काल को ही दिया जा सकता है। इसकी सीमाओं में प्रायः अकाल हस्तक्षेप नहीं करता। तो भी यदि कोई जीव इतना सत्तावान् हो कि इसकी सीमाओं में रहता हुआ मन को दृढ़ कर तथा सतिगुरु से नाम का बल लेकर उक्त सीमाओं से पार अकाल में प्रवेश करने पर कटिबद्ध हो तो सचमुच अपनी शक्ति को क्षीण होता देख काल और माया दीवाने हो उठते हैं।[1] इस समय काल जीव पर अनेक प्रकार से आघात किया करता है। माया विभिन्न प्रलोभनों में उसे पुनः त्रिगुणात्मकता में और खींचती है। यह जीव की परीक्षा का समय होता है। अपने मार्ग पर अडिग रहा तो विजयी हुआ। फिसल गया तो चौरासी के चक्कर में[2] पड़ने के लिए छोड़ दिया जायगा। जीव के बचने की एक ही सूरत है। यदि वह समझ सके कि माया के प्रलोभनों का अस्तित्व क्षणभंगुर और अस्थायी है तो वह इस क्षणभंगुरता का अनुमान कर इससे बचने का प्रयास करेगा।

---

१ काल बिराधु भये दीवाने मनु राखिआ गुरि ठाये। १५, सूही म० १ पृ०७६७।
१ क काल बिराधु कहै कहि अपुरे जीवत मुआ मनु मारी।
१ रामकली म० १ पृ० ९०८।
२ पारम्परिक चौरासी लाख योनियों में आवागमन।

कालाधिकार की सीमाएँ बहुत विस्तृत हैं। सब उच्च लोक और महत्पुरियाँ जिनकी प्राप्ति के लिए भटके हुए जीव पुण्य दान कर्म-धर्म आदि करते हैं काल की सीमाओं में हैं। इस कारण अस्थायी हैं। अपना अपना समय पूरा होने पर वे नष्ट हो जाते हैं।[1] गुरु साहिब ने फरमाया भी है—

इंद्रपुरी महि सरपर मरणा ब्रहमपुरी निहचलु नही रहणा।
सिवपुरी का होइगा काला त्रैगुण माइआ बिनसि बिताला ॥[2]

और भी—

ब्रहमु लोक अरु रुद्र लोक आई इंद्रलोक ते धाई।
साधसंगति कउ जोहि न साकै मलि मलि धोवै पाई।[3]

सब देवी देवता माया के वश में हैं।[4] उनकी शक्तियाँ और सीमाएँ भी अस्थिर और कालिक हैं। संभवतः इसीलिए संत-मत किसी देवी देवता की अधूरी पूजा-आराधना की अपेक्षा आसिल-ए-कुल सतिपुरुष को ही सदैव अपना लक्ष्य बनाए रहा है। उसका विश्वास है कि गुरु सेवा और नाम-स्मरण से हम कालिक सीमाओं को तोड़ सकते हैं। साथ ही साथ सांसारिक गुणों और काल के कर्म-चक्र से ऊपर उठकर मुक्ति के भाजन बन सकते हैं। लिखा भी है—

कालु न छोडै बिनु गुर की सेवा।
२ ६ १४ गउड़ी म० १ पृ० २२७।

और भी—

सभु जगु बाधि काल को बिनु गुर कालु अफारु।
सचि रते से उबरे दुबिधा छोडि विकारु।
पद २ ८ ४ सिरी म० १ पृ ५५।

तथा

माइआ मोहि जगु बाधा जमकालि। बांधा छूटै नामु समालि
२ ८ १ आसा म १ पृ० ४१२।

---

१ गुरमति सिद्धान्त पृ० १२८।
२ पद २ ४ राग गउड़ी म० ५, पृ० २३७।
३ पद १ ११ २१ गूजरी म० ५, पृ० ५००।
४ माइआ मोहे देवी सभ देवा। २ ६ १४ गउड़ी म० १ पृ० २२७।

आशय यह कि सत्पथ की पहचान किए बिना काल-जाल से कोई नहीं छूटता। माया के विभिन्न रूपों में फँसा हुआ जीव काल की सीमाओं को ही अपना वास्तविक घर समझने लगता है और भिन्न स्थितियों से मृत्यु प्राप्त कर पुनः योनियों में जन्म लेने का अधिकारी होता है। माया के तीनों गुणों में मृत्यु के समय जो प्रभाव हुआ उसी के आधार पर नव जन्म की प्राप्ति की जाती है। सत्वगुण प्रधानता में मृत्यु होने पर जीव स्वर्गादि लोकों (यह काल की सीमा में ही है) का आनन्द लेता और पुनः उच्च वृत्ति वाले मनुष्य के रूप में जन्म धारण करता है। रजोगुण प्रधानता में मरने पर पुनः कर्मासक्त मनुष्य बनता है। तमोगुणी मृत्यु से कीट पशु आदि मूढ़ योनियों में पैदा होता है।[1] काल के इस समस्त प्रसार से मनुष्य का बचाव त्रिगुणता से परे निष्काम वृत्ति अपनाने में ही संभव है। अन्यथा जीव की स्थिति मदारी के मर्कट की भाँति बनी रहती है। काल उसे जैसा नचाता है वैसा ही वह नाचता है और नाली के कीड़े की भाँति जो उद्यान की सुगंधि से अनभिज्ञ होता है, जीव भी नाली में पड़े (काल जाल में ही) रहकर अपनी स्तुत्य स्थिति समझने लगता है।

काल शब्द का उपर्युक्त अवस्था के अतिरिक्त अन्य दो स्थानों पर दो अन्य अर्थों में भी प्रयोग होता है। मृत्यु और समय। निश्चय ही काल शक्ति मायावी होने के कारण मृत्यु की प्रतीक है। इसकी सीमा प्रसार के अन्तर्गत जो भी आया या रहा उसका विनाश अवश्यम्भावी है। कहा जाता है "जो घड़ा सो फूटेगा" अर्थात् जिसने प्राकृतिक नियमों के बन्धनों में आना स्वीकार किया है वह अनिवार्यतः उन नियमों के विप्लव में नष्ट जायगा। प्राणियों में नर और मादा के संयोग से जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अटल है। केवल वही जीव जो स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारण इन तीनों गुणों का उल्लंघन करके जन्म मरण वृद्धावस्था एवं सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ इस काल सीमा से बाहर परमेश्वर की गोद में पहुँच कर परमानन्द को प्राप्त करता है[2]।

काल समय का प्रतीक भी है। इसकी सृष्टि निश्चित नियमों के बन्धन में बँधी हुई है। केवल सतिपुरुष ही काल की सीमा के बाहर है। अन्यथा शेष सब समय-विभाजन के भूत भविष्य या वर्तमान के किसी न किसी सोपान पर अपनी नश्वरता का परिचय देता है। समय स्वयं परिवर्तन का ज्वलन्त उदाहरण है

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता अ० १४ श्लोक १४ १५।

२ श्लोक २० अध्याय १४ श्रीमद्भगवद्गीता।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।

और काल की सृष्टि उसका व्यवहार क्षेत्र। काल की शक्ति अण्डों ब्रह्माण्डों की रचना करती तथा विनाश का कारण बनती है। सबको नियम और संयम में परिवर्तन का आधार बनाती है। चारों युग काल के चक्र में हैं। उनमें वर्ष मास दिवस घड़ी पल याम छनों का विभाजन है। महाभारत में यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया 'वार्ता क्या है ?" युधिष्ठिर का उत्तर था 'महीनों और ऋतुओं की करछी चलाते हुए, सूर्य की अग्नि और ताप पर इस जगत् के मोहमय कड़ाहे में काल जीवों को पका रहा है। बस यही वार्ता है।'[1] स्पष्ट ही समय के बंधनों में काल ने जीवों को ऐसा जकड़ रखा है कि वे 'अकाल' को लगभग भूल ही गए हैं। समय के परिवर्तन में ही भटके हुए जीव अपना 'विकास' समझ रहे हैं। यही कारण है कि विश्व का प्रत्येक अस्तित्व एक निश्चित समय के बाद अनस्तित्व में प्रवेश कर जाता है। इसीलिए कहा है "सभु कछु कालै वसि है बाबा बूझै भाइ"[2] काल के पास जीवों को भरमाने के लिए विकास का ऐसा आकर्षण है कि सतोगुण में सेवा एवं रजोगुण में क्रोध धारण करने वाला जीव समय की दौड़ के साथ-साथ दौड़ना ही अपना लक्ष्य समझ कर उसे 'विकास' का भ्रामक नाम दे देता है। जब तक इन गुणों से परे सात्त्विकता के प्रेम और विकास सरीखे गुणों को अपनाकर जीव सत्य की खोज नहीं करता तब तक जन्म मरण की चक्की में पिसता और काल की सीमाओं में बँधा भूत पर पछताता वर्तमान पर विचारता एवं भविष्य की चिन्ता करता हुआ इस असत्य में ही भटकता रह जाता है। प्रभु कृपा से यदि किसी सद्गुरु की शरण मिल गई तो मूल का अंधकार विदीर्ण हो वास्तविकता की किरणों का प्रसारण होगा। तब कहीं जीव देशकाल और सृष्टि के क्षण भंगुर अस्थायी आकर्षणों से पार सत्-चित्-आनन्द के रूप में खोने का सामर्थ्य पाएगा। यही जीव की लक्ष्य सिद्धि होगी —

सभु जग बाधे काल को बिनु गुर गाढु अंधार।

माया का स्वरूप

भारतीय शास्त्रों में माया के भिन्न स्वरूपों का वर्णन उपलब्ध है। वेदान्त के अनेक भाष्यकारों ने इसे जुदा-जुदा दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास किया है। शंकराचार्य सरीखे महापंडित ने इसे ब्रह्म की शक्ति माना है। किन्तु वे इसे ब्रह्म का नित्य रूप नहीं मानते। यह ब्रह्म की एक ऐसी इच्छामात्र है जिसे चाहने पर परि

---

१ महाभारत यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर, गुरमत सिद्धान्त से उद्धृत पृ० १९६।

२ पद १ ४ १८ ११ गउड़ी म० ३ पृ० १६२।

ध्यान किया जा सकता है। शक्ति रूप में माया ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है। कहीं कहीं शंकर प्रकृति को भी माया कहते हैं। वहाँ उनका अभिप्राय यह है कि यह रचनात्मिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिए विश्व की प्रकृति (आदि या मूल कारण) है जो इसे देख रहे हैं।[1] शंकर ने इसे नित्य इसलिए नहीं माना है क्योंकि यह गुण मात्र ब्रह्म का है और यह अनित्य भी नहीं है क्योंकि इसकी 'भ्रामकता' वास्तविक दीख पड़ती है। नित्य और अनित्य दोनों नाम एक ही वस्तु को देना मन्देहास्पद है। अतः शंकर इसे "अध्यास' कहते हैं।

रामानुज का विचार इससे भिन्न है। वे माया को ब्रह्म की नित्य शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं जो हर क्षण वास्तविक सृष्टि का निर्माण पालन तथा विनाश करती चलती है। अर्थात् रामानुज के अनुसार माया ब्रह्म की नित्य अचेतन शक्ति है जिसमें वास्तविक परिवर्तन होता है। यहाँ दोनों मत भिन्न हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्म की नित्य शक्ति में परिवर्तन होने से साभिप्राय ब्रह्म में परिवर्तन होना स्वीकार किया जायगा। किन्तु शंकर ब्रह्म में किसी प्रकार के परिवर्तन की कल्पना भी नहीं कर सकते।

सांख्य के भाष्यकारों ने सृष्टि की मूल उपादान प्रकृति का माया रूप में वर्णन किया है। सांख्य प्रकृति त्रिगुणमयी (सत्व रज और तम इन तीनों गुणों का नाम प्रकृति है) कही गई है अतः भाष्यकारों ने माया का स्वरूप त्रिगुणात्मक देखा है। माया के मनुष्य का बंधन होने का वर्णन प्राकृतिक दृष्टिकोण से यों किया गया है कि ये तीनों गुण रस्सी के तीनों सूतों (रेशों) की तरह आपस में मिलकर पुरुष के लिए बंधन का कार्य करते हैं।[2]

श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने जगत् की उत्पत्ति के बारे में उपदेश देते हुए सांख्यिक दृष्टिकोण की तरह ही बताया है कि नाना प्रकार की योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं त्रिगुणमयी माया तो गर्भ धारण करने वाली उन सबकी माता है और मैं बीज की स्थापना करने वाला पिता हूँ।[3] जीवात्मा यद्यपि अविनाशी है किन्तु प्रकृति से उत्पन्न सत्व रज और तम तीनों गुण उसे शरीर में बाँधते हैं।[4]

मानस वाणी में शंकर और रामानुज की मान्यताओं को समन्वित कर दिया गया

---

१ भारतीय दर्शन चट्टोपाध्याय तथा दत्ता पृ २१८।
2. The Essentials of Indian Philosophy : M. Hiriyana p. 109.
३ भारतीय दर्शन चट्टोपाध्याय एवं दत्ता पृ० १७२।
४ अध्याय १४ श्लोक ४ (गीता प्रेस गोरखपुर) भगवद्गीता।

है। वे रामानुज की नाईं माया को ब्रह्म की नित्य-अचेतन शक्ति स्वीकार करते हैं। इसी शक्ति से सृष्टि की वास्तविक व निरन्तर रचना हो रही है।[1] गुरु नानक यहाँ शंकर के विचार को सम्मुख रखते हुये यह भी मान लेते हैं कि उक्त शक्ति से ब्रह्म में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन तो अपूर्ण का प्रतीक है ब्रह्म पूर्ण है (Absolute) और यह माया उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित है। सृष्टि के आदि और अन्त की कल्पना इसके इच्छाधारित होने पर ही की जा सकती है।

(२) माया परम सत्य ब्रह्म की शक्ति है। इसलिए उसका निश्चित और आकर्षक अस्तित्व है। वह कदापि मिथ्या नहीं है। किन्तु नानक के मतानुसार वह उपेक्षणीय अवश्य है। यदि उसकी उपेक्षा न की जाए तो जीव भ्रमवश उसके ही आकर्षणों को अपना लक्ष्य समझ कर भटकते रहेंगे और परम लक्ष्य अकाल-पुरुष के महत् ऐक्य को भूल बैठेंगे। सांसारिक जीवों को माया के आकर्षणों की ओर से उदासीन होकर ही परम की खोज करनी होगी। अन्यथा सफलता सन्देहास्पद है।

(३) गुरु नानक सांख्य प्रकृति की भाँति माया को त्रिगुणमयी भी स्वीकार करते हैं।

(४) श्रीमद्भगवद्गीता की नाईं जीव का आवागमन तथा शरीर बंधन भी नानक ने क्रमशः माया और उसके तीनों गुणों के कारण स्वीकार किया है। (अध्याय १४ श्लोक ४ ५।)

(५) गुरु साहिब इसे अविद्या अज्ञान तथा मिथ्या-तथ्य के रूप में भी देखते हैं। साथ ही प्रसंगवश उस प्रत्येक वस्तु को माया कह देते हैं जो जीव के हरि-मिलन में बाधक बनती है। (इसमें कहीं-कहीं रूपकों की सहायता भी ली गई है)।

(क) ब्रह्म की त्रिगुणात्मक शक्ति—माया ब्रह्म की वह शक्ति है जिसने अकाल की इच्छा का पालन और सृष्टि-निर्माण किया है। यही कारण है कि नानक ने साधारण साधु-महात्माओं की भाँति इसे धन दौलत नारी पुत्र या मोह-ममता आदि कह कर अपना कर्तव्य पूरा नहीं समझ लिया बल्कि उसका व्यापक दार्शनिक विश्लेषण भी यत्र-तत्र अपने पदों में प्रस्तुत करते रहे। श्रीमद्भगवद्गीता की नाईं उनका विश्वास था कि माया प्रकृति के तीनों गुणों—सत्व रज और तम—के समन्वय से सृष्टि को बंधनयुक्त किए है। जीव इन्हीं गुणों के फंदे में फँसा नाना प्रकार की सांसारिक क्रियाएँ करता है। तीनों गुणों में प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्वगुण तो निर्मल होने के

---

१ जपुजी पउड़ी ७। एका माई जुगति विआई

कारण सुख की आसक्ति और ज्ञान की आसक्ति (ज्ञानाभिमान) से जीव को बाँधता है।[1] जिसके कारण मनुष्य की क्रियाओं में आडम्बर पाखंड धर्म चेतना आध्यात्मिक दाम्भिकता और कभी कभी पशु भक्ति का समावेश होता है। रजसे जीवात्मा कर्मों एवं उनके फल की आसक्ति में बँधता है।[2] परिणाम यह होता है कि मनुष्य काम मोह और तदुपरान्त अहंकार ग्रसित हो जाता है और 'हम चुनी दीगरे नेस्त' के प्रवाह में गोते लगाता है। इसे वह अपनी शान मर्यादा या मान की पराकाष्ठा समझने लगता है। तमोगुण की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। उसके कारण जीव प्रमाद आलस्य और निद्रादि में बद्ध होता है।[3] इन्द्रियों और अंतःकरण की व्यर्थ चेष्टाओं और कर्तव्य-कर्म में अप्रवृत्ति तथा निश्चेष्टता तमोगुण के मुख्य फल हैं। गुरु साहिब फरमाते हैं—

> तेरे तीनि गुणा[4] संसारि समावहि, अलखु न लखणा जाई रे। (रहाउ)
> सकर खंडु माइआ तनि मीठी हम तउ पंड उचाई[5] रे।
> रात[6] अनेरी सूझसि नाही लजु[7] टूकसि मूसा[8] भाई रे।[9]

(यहाँ माया के तीनों गुणों की ओर संकेत किया गया है। 'सकर खंडु' का रसास्वादन-सुख सत्वगुण 'पंड उचाई' में लोभ और श्रम का संकेत होने के कारण रजोगुण एवं 'रात अनेरी' में अज्ञानता के कारण तमोगुण का स्वरूप चित्रित किया गया है।)

ब्रह्म की प्रसुप्त शक्ति-माया ('त्रैगुण माइआ ब्रहम की कीन्ही' पद २ १ ११० आसा म० ५ पृ० ४०४) तब तक निष्क्रिय ही रहती है जब तक उसके भिन्न गुणों में विकार और विषमता नहीं आ पाती। जब तीनों गुण अन्य दोनों से जुदा हो-होकर अपने में बर्तते हैं और समरूप होकर निवृत्त-से हो जाते हैं तो यह उसकी सक्रियता का अंत कहा जाता है। उसी से सृष्टि का भी अंत हो जाता है।

---

१ श्लोक ६ अध्याय १४ श्रीमद्भगवद्गीता।
२ वही ७ १४।
३ वही ८ १४।
४ तीनों गुणों के कीचड़ में।
५ उठाई।
६ अज्ञानता का दुर्भेद्य अंधकार।
७ आयु रूपी रस्सी।
८ काल रूपी चूहा।
९ पद १-२ १० गउड़ी म० १ पृ० १५६।

वही प्रलय है। यहाँ माया की रचना-शक्ति शिथिल पड़ जाती है। गुणों के इस परिणाम को 'सरूप परिणाम' कहते हैं। दूसरी ओर जब तीन में से किसी समय कोई एक गुण प्रबल होकर अन्य दो को अपने वश में कर लेता है तभी मायाजाल फैलने लगता है। सृष्टि में वैषम्य सक्रियता आती है। इसे विरूप परिणाम' कहा जाता है। इस प्रकार दोनों दशाओं में गुणों में गुणान्तर हुआ करता है।[1] अभिप्रेत यह कि गुणांतर ही माया का विक्षेप रूप है। जिसमें वह नित्य परिवर्तन का रूप प्रस्तुत करती है और निर्माण विकास एवं विनाश का चिर चक्र चलाती अनुभव की जाती है। गुरु नानक के अनेक पदों में भिन्न गुणों की प्रबलता का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। सत्व की प्रबलता जीव में ज्ञान वृद्धि की द्योतक है। इससे मनुष्य ईश्वरत्व का अनुभव करता एवं उसकी शक्ति त्रिगुणित-माया की वास्तविकता को पहचानने लगता है। कहने का तात्पर्य यह कि माया के विचार से केवल भिन्न होता है मुक्त नहीं (मुक्ति के लिए पीछे कहा जा चुका है कि सच्चे गुरु द्वारा प्रदत्त अनुभव की आवश्यकता है।) जीव कह उठता है प्रभु की सत्यता के साथ उसकी शक्ति माया एवं धारण किए शरीर का प्यार सब सत्य है। उसकी कृपा से ही यह भूमि निर्मित हुई है। वह सुख-दुख का प्रवर्तक है। नारी-पुरुष का सृजन माया रूपी विष का विस्तार सब उसी का किया हुआ है। उसने आवागमन की रचना की है। वही मुक्ति प्रदाता है। वही जीव को माया के वश कर विषम विकारों की प्रेरणा से हिंसक बनाता है। मलिन-मति लोग उसके नाम का विस्मरण कर सम्बद्ध माया सर में डूब चुके हैं। अत वे गुणों का त्याग कर विपरीत अवगुणों के ग्राहक बने डगमगाते फिरते हैं। मृत्यु निर्मम ईश्वरेच्छा से जीवन-साथी स्त्री-पुरुष को भी जुदा कर देता है और चाहे तो बिछड़ों को भी मिला देता है। यमदूत तो (मालिक की) आज्ञा का पालन कर रहे हैं। उनके लिए सुन्दर रूप और बालक वृद्ध का कोई आकर्षण नहीं है'[2]। ब्रह्म और उसकी शक्ति माया से सम्बन्धित जीव के ये विचार उसकी अन्तश्चेतना है

१ भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० ११६ ८०।

२ सचड़ा साहिब सचु तू सचड़ा देहि पिआरी। (रहाउ)
तुधु सिरजी मेदनी दुखु सुखु देवण हारो।
जमणु मरणा आइ गइआ बधिकु जीऊ विकारो।
मुगधै नामु विसारिआ बूडड़ि किआ तिसु चारो।
गुण छोडि बिखु लदिआ अवगुण का वणजारो।
सदड़े आए तिना जानीआ हुकमि सचे करतारो।
नारी पुरख विछुंनिआ विछुड़िआ मेलणहारो।
रूपु न जाणै सोहणीए, हुकमि बधी सिरि कारो।
बालक बिरधि न जाणनि तोड़नि [illegible] पिआरो।

२४ । वडहंस पृ० ५८०।

अतः ज्ञानोदय का प्रतीक होने के कारण सतोगुण की प्रबलता है। इस स्थिति में जीव मुख्यतः जिज्ञासु हो तो निश्चय ही सद्गुरु की खोज कर सुपथगामी बनता एवं मोक्ष का अधिकार प्राप्त करता है। अन्यथा वही ढाक के तीन पात अर्थात् माया के तीनों गुणों के उतार-चढ़ाव व उभार में लिप्त रह जन्म-मरण के चक्र का दंड भोगता है। ज्ञानोत्पादक प्रस्तुत गुण का रंग उजला है अतः व्यवस्था उचित रही तो आत्मा मलिनता को दूर कर उजलापन धारण कर सकती है। अयोग्य स्थिति में जीव की दशा पक्षी फँसाने की फिरकी पर बैठे हुए तोते के समान होगी जो मालिक के सिखाए शब्दों को तो रटता है—फिरकी पर बैठना नहीं बैठ जाओ तो छोड़ देना गिरने से चोट नहीं आएगी—आदि किन्तु फिरकी नहीं छोड़ता। माया का एक यही ऐसा गुण है जिसमें माया से छुटकारा दिलवाने का सामर्थ्य सदा विद्यमान है। शेष दो में फँसाने का सामर्थ्य अधिक है। इसी तो गुरु साहिब ने मायावी रूप हउमै के विषय में लिखा था कि रोगमुक्ति की औषधि भी उसी में है।

हउमै दीरघ रोगु है दारू भी इसु माहि।
किरपा करे जे आपणी ता गुर का सबदु कमाहि।

सलोक आसा दी वार, म० १।

मानव मन का यह भाव माया का ही प्रतीक है, और प्रायः रजोगुण का स्वरूप प्रस्तुत करता है। कामना और आसक्ति लोभ की उत्पादक हैं और लोभ की निरन्तर सस्फूर्ति हउमै की प्रवर्तक । कामना मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है और आसक्ति उस कर्म के फल की आशा को सजीव बनाए रखती है। कर्मयोग के अनुसार यही स्थिति जन्म-मरण और आवागमन का कारण बनती है। अतः हउमै (रजोगुणी आधार) को यदि सृष्टि का आधार स्वीकार कर लिया जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। गुरु नानक ने हउमै के विष बीज से इस विष वृक्ष (मिथ्या संसार) की उत्पत्ति स्वीकार की है। हउमै का विष बीज भी ऐसा विचित्र है कि यह जीव को मारने (निवृत्त करके निष्कामता प्रदान करने) की अपेक्षा जिलाने (प्रवृत्त करके सकाम अनुभूति प्रदान करने का मुख्य कार्य करता है। लेकिन जो जीवित मरना ही सीख ले उसके लिए इस विपरीत विष का प्रभाव अक्षुण्ण नहीं रह पाता। सत्य के अन्तिम ध्यानमय से विष ज्वाला बुझ जाती है। सत्य-धारा का शीतल प्रवाह बह निकलता है। वह रजोगुणी हउमै (लोभ एवं सकामता) का विजेता-जीव सशरीर ही मुक्त कहलाने का अधिकारी बन जाता है।[1] सार यह कि रजोगुण प्रवृत्ति दाता है और संसार के मोहमाया के कष्टों का कारण बनता है।

---

१ हउमै विचि पाइ पवणु उपाइआ सबदु वसै लिवु लाइ।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

रजोगुण का वर्ण रक्तिम है। सतोगुण के उपक्षेपण पर प्रायः यह छा जाता है। हउमै के आवरण में वास्तविक सत्ता और चेतनता को छिपा कर जीव और ब्रह्म में भेद डालता है। धीरे-धीरे इसकी रक्तिम आभा तामसिक होते-होते तमोगुण को जन्म देती है। और उसके भेद गहन और विस्तृत होता जाता है। अब हउमै की स्वाभाविक प्रतिक्रिया (धर्मों का दुर्विन्यास तथा मानसिक दुर्विचार) उत्पन्न होती है जो कि तमोगुण का सजीव रूप कही जा सकती है। गुरु नानक लिखते हैं ?

सबु लोभु बुरा अहंकारु।
ताड़ी चाड़ी लाइतबारु।[2] मनमुखु अंधा मुगधु गवारु।
जन्हे कारणि आइआ जगि होइ मजूरु[3] गहला ठगाइ ठगि।
सचुरा मापु पूंजी से साचु नामक सचि पति लया पातिसाहु[4]।

अर्थात् रजोगुण से भौतिक काम (लाहा) की जो प्रेरणा होती है वह प्राप्ति के गलत साधन अपनाने में तमोगुण का रूप धारण कर लेती है। तभी तो गुरु साहिब ने कहा था कि सब माया-मोह झूठ है और इसका परिणाम सदा मिथ्या और निराशात्मक रहना स्वाभाविक ही है। हउमै ने संसार में एक ऐसा समर्थ पैदा कर दिया है कि समूचा संसार उसमें बँध गया है। अपवाद रूप केवल गुरु का सेवक ही उस हउमै पर विजय पाकर एक रमणीय तत्त्व की पहचान का सामर्थ्य प्राप्त करता है।

वस्तुतः, ये तीनों गुण माया के स्वरूप पर्यायवाची हैं। इनका परस्पर संपर्क सृष्टि के निर्माण और परिवर्तन की अवस्था को बनाए रखता है। पुनः यह त्रिगुणित माया ब्रह्म की इच्छा शक्ति होने के नाते जादूगर की जादुई माया की तरह अपनी दो स्वतन्त्र शक्तियों का आश्रय लेती हुई जीव और ब्रह्म में अवास्तविक भेद का कारण बनती है। आवरण और विक्षेप[5] इसकी मुख्य शक्तियाँ हैं। आवरण द्वारा यह

(शेष पिछले पृष्ठ का)

जरा जोहि न सकई सचि रहै लिव लाइ। जीवन मुक्ति सो आखीए जिस विच हउमै जाइ ६ २, माझ अष्टपदी पृ० १०१०।

२ ताड़ी = निंदा चाड़ी = झूठी स्तुति लाइतबार = चुगली।

३ रुपी पुर्षों का सेवक।

४ प० ११ राग रामकली म० १ दखनी पृ ९३१।

५ माइआ मोहु सभु कूड़ु है कूड़ो होइ गइआ।
हउमै झगड़ा पाइओनु झगड़ै जगु मुइआ गुरमुखि झगड़ु चुकाइओनु इको रवि रहिआ ११ सूही म० ३ पृ ७८०।

ब्रह्म का वास्तविक रूप छिपा लेती है और विक्षेप की सहायता से उसमें दूसरी अनेकानेक सजिव वस्तुओं का आरोप करती है। इसी कारण जीव ब्रह्म की यथार्थता को देखने में असमर्थ होता है। वह इसके तीनों गुणों की रंगीनियों में आया भ्रमवश असत्य को सत्य (जैसे जादू का तमाशा देखने वाले समझते हैं) समझता है। ध्यान रहे कि माया सत्य की इच्छा है। वह न अभाव में है और न ही प्रातिभासिक है। उसके द्वारा प्रस्तुत ब्रह्म का विक्षिप्त-रूप संसार भी इसी कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इसमें गुणों का विचरण होता है और विक्षिप्त-रूप को ही जीवों के सम्मुख वास्तविकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इस तरह माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण बनती है। यही अज्ञानावरण है।

(ख) माया अज्ञानावरणके रूप में—स्वयं सिद्ध-सी बात है कि माया के आवरण के कारण जब जीव सत्य को विक्षिप्त रूप में देखता है तो वास्तविक सत्य को भुलाकर उसी विक्षिप्तता को सत्य समझने लगता है। यह उसका अज्ञान या प्रमाद है। इस कारण जीव असत्य को सत्य मानकर उसी में रमण करने लगता है और अनजाने ही उसके वास्तविक सत्य की उपेक्षा होने लगती है। तभी अन्य लोगों पर अपनी गलती का भी औचित्य जमाने के लिए वह वाद-विवाद और तर्क-वितर्क का आश्रय लेता है। इससे उसकी तामसिकता बढ़ने लगती है। और वह अपने प्रियतम को भूलकर विषय विकारों में डूबता उतराता है। यही उसके आवागमन का कारण बनता है। गुरु नानक जीव की इस अज्ञानता पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि मूर्ख प्राणी माया के धोखे में वास्तविक रामरंग से उदासीन हो मिथ्या सांसारिक रंगों में भूला है और मन के संकेतों से कार्यान्वित होने से यथार्थ शब्द ध्वनि से विमुख होकर अपने जन्म मरण का क्षेत्र तैयार कर रहा है। यह उसकी अज्ञानता का द्योतक है।[1] मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि खरे को न पहचान सकने के कारण खोटे को ही खरा कहता है। उसकी आँखों पर माया का पर्दा पड़ा है अतः वह वास्तविकता को सन्देह की दृष्टि से देखता है और अयथार्थता को निश्चयात्मक समझता है।[2] परन्तु दूध के अतिरिक्त क्या कभी जोहड़ के जल मंथन से भी माखन की उपलब्धि हो सकती है? नानक कहते हैं—

---

१ मग सिउ झूठु प्रीति मनु बेधिआ जन सिउ बाद रचाई।
माया मगनु अहिनिसि मगु जोहै नामु न लेवै मरै बिखु खाई।
गगन बैसि एता हितकारी सबदै सुरति न आई।
रंगि न राता रसि नही बेधिआ मनमुखि पति गवाई॥

२ १ सोरठ, पृ० ६६६।

२ गउड़ी बैरागणि पद १-८ २ म० १ पृ० २२८।

घेरी की सेवा करहि ठाकुर नहीं दीसै
पोखरु नीरु विरोलिए माखनु नहीं रीसै ।[1]

अर्थात् ठगिनि-माया मनुष्य का अज्ञान या अविद्या बन कर उससे अपना सत्कार करवाती है। साथ ही ईश्वर और जीव के बीच में भेद डाल देती है।

बाहरी छल-कपट के अतिरिक्त माया मानसपन के भीतर हउमै का रूप बन जाती है और मनुष्य को सर्वत्र अहंभाव में प्रवृत्त रखने का प्रबल प्रयत्न करती है। मनुष्य भी इसी चक्र में फँस कर आजीवन हउमै का क्रीतदास बन जाता है। गुरु नानक लिखते हैं—

हउ विच आया हउ विचु गइआ । हउ विचु जंमिआ हउ विच मरिआ ।
हउ विचु दित्ता हउ विचु लइआ । हउ विच खटिआ, हउ विच गइआ ।
हउ विचु सचिआरु कूड़िआरु । हउ विच पाप पुंन वीचारु ।
हउ विचु नरक सुरगि अवतारु । हउ विचु हसै हउ विचु रोवै ।
हउ विचि भरीऐ, हउ विच धोवै । हउ विच जाती जिनसी खोवै ।
हउ विच मूरखु हउ विच सिआणा । मोख मुकति का सार न जाणा ।
हउ विचु माइआ हउ विच छाइआ । हउमै करि करि जंत उपाइआ ।
हउमै बूझै तो दर सूझै । गिआनु विहूणा कथि कथि लूझै ।
नानक हुकमी लिखीऐ लेखु । जेहा वेखहि तेहा वेखु ।[2]

माया के उक्त आवरण (हउमै) में मनुष्य अज्ञान से बंधा हो पाश बंधन से तत्व को प्राप्त करना चाहता है। परन्तु मनमुख (हउमै आच्छादित) होने के नाते उसे लक्ष्योपलब्धि नहीं होती। उसका परिश्रम ही उसे धक्के चलता है। उलझनें सुलझाने के प्रयत्न में वह और भी उलझ जाता है।[3] माया के धोखे में उसकी अज्ञानता बढ़ती है। वह दुष्कर्मों और विषम-वासनाओं में प्रवृत्त होता है। गुरु नानक फरमाते हैं "इस अविद्या के कारण मनुष्य बुराई के जाल में फँस जाता है, तो भी अपने आपको संतुष्ट-सा अनुभव करता है। वह चोरों कुटिलों, व्यभिचारियों कुपथगामियों की संगति में अपना हित समझता है। पापियों से मित्रता रखता एवं अधर्मियों के साथ भोजन पान करता है। ईश्वर स्तुति का तत्व उसके लिए महत्व-हीन हो जाता है। सदैव उसके अन्तर में काम वासना ही भरी रहती है। उसको कुछ समझाना

१ गउड़ी बैरागणि पद १-६ २, पृ० २२६ ।
२ श्लोक १ आसा म० १ पृ० ४६६ ।
३ जलु बिलोवै जलु मथै ततु लोड़ै अंधु अगिआना
मनमुख तत न जाणनी पसु माहि समाना ।
१ १ मारू असटपदी म० १ पृ० १००६ ।

उसकी अविद्या के कारण चिकने घड़े पर जल-बूँद की भाँति अप्रतिम होता है। जैसे गधे को चन्दन का लेप ही क्यों न लगाया जाय फिर भी वह राख में तो लोटेगा ही। अज्ञानांधता के कारण जीव का कर्म-धर्म, (कातना) मनन या उपासना (तनना), निदिध्यासन (बिनना) तथा धारणा (पहिनना) का सम्पूर्ण मान कूड़ (मिथ्या) है"[1]—जब तक जीव वास्तविकता को नहीं पहचानता तब तक माया द्वारा वह ऐसे ही ठगा जाता है। माया अविद्या या अज्ञान के रूप में जीव और ब्रह्म की पृथक्ता का एकमात्र कारण है।

(ग) मिथ्याडम्बर और मिथ्या-तथ्य—माया का अविद्या रूप ही मायें बनकर जीव को सत्य से अनासक्त करता और मिथ्याडंबर की ओर प्रवृत्त करता है। प्राणी सत्पुरुष की यथार्थता को जानने की अपेक्षा बाहरी कर्म-काण्ड में अधिक रुचि लेने लगता है।[2] अज्ञानांध होने के कारण वह इन त्रुटिपूर्ण आचारों में भी मुक्ति-रत्न की खोज करता है। परन्तु जिस प्रकार घर में अन्धकार होने के कारण वहाँ खोई हुई वस्तु बाजार

---

१ १ सूही पृ० ७९०।

२ रामनाम बिनु बिरथे जगि जनमा। बिखु खावै बिखु बोली बोलै बिनु नावै निहफलु मरि भ्रमना।१।
पुस्तक पाठ बिआकरण वखाणै संधिआ करम तिकाल करै बिनु गुर सबद मुकति कहा प्राणी डंड कमंडल सिखा सूतु धोती तीरथि गवनु अति भ्रमनु करै।
रामनामु बिनु उरझि मरै।२।
रामनाम बिनु साति न आवै जपि हरि हरि नामु सु पारि परै।३।
जटा मुकटु तनि भसम लगाई बसत्र छोडि तनि नगनु भइआ।
रामनाम बिनु त्रिपति न आवै किरत कै बांधै भेखु भइआ।
४ ७ ८ राग भैरउ म० १ पृ० ११२७।

तथा—

जोगी भेख रंगु चढाइआ बसत्र भेख भिखारी।
कापड़ फारि बनाई खिंथा झोली माइआ धारी।
घरि घरि मांगै जगु परबोधै मनि अंधै पति हारी।
भरमि भुलाणा सबदु न चीनै जूए बाजी हारी।
मूंड मुडाई जटा सिख बांधी मोनि रहै अभिमानी।
मनूआ डोलै दहदिसि धावै बिनु रत आतम गिआनी।
अमृतु छोड महाबिखु पीवै माइआ का देवाना।
किरतु न मिटई हुकमु न बूझै पसूआ माहि समाना।
हाथ कमंडलु कापड़ीआ मनि तृसना उपजी भारी।
इसत्री तजि करि कामि बिआपिआ चितु लाइआ पर नारी।
सिख करै करि सबदु न चीनै लंपटु है बाजारी।
अंतरि बिख बाहरि निभराती ता जमु करे खुआरी।
१ ६-७ मारू असटपदी पृ० १०१२ ११।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

के प्रकाश में खोजने पर भी नहीं मिलती वैसे ही ऐसे जीव को तथ्योपलब्धि में निराश ही होना पड़ता है। माया-ग्रस्त समस्त प्रवृत्तियाँ निश्चय ही जीव को बन्धन बन जाती हैं। तभी तो इस मिथ्या क्रम को संकेत कर गुरु नानक फरमाते हैं कि इस जीव ने मायावी कर्मों के विष से अपना जीवन-पोत भर रखा है। और संसार सागर में आरपार के ज्ञान के बिना ही नाविक और पतवार की अनुपस्थिति में इसे चलाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु वह माया-जाल रूपी भँवर में फँसा है और अब निकलने की कोई सूरत नहीं दिखाई पड़ती।[1]

इसीका दूसरा पहलू अस्तित्वयुक्त संसार का मिथ्यापन है। प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाली प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील और नश्वर होने के नाते माया के घेरे में आती है। इस कारण सत्य नहीं हो सकती। आसा दी वार' में गुरु नानक ने इस सांसारिक मिथ्या का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा है यह संसार उसके शक्तिशाली राजा और अधीनस्थ प्रजा सब मिथ्या है। बड़े-बड़े भव्य भवन ऊँची अट्टालिकाएँ एवं उनके निवासी भी सब झूठे प्रसार के प्रतीक हैं। सोना चाँदी और पहनने वाले प्राणी गठित शरीर, आकर्षक वेष तथा अद्वितीय सौन्दर्य सब नश्वर है, परिवर्तनशील है। पति पत्नी का सम्बन्ध और उनमें चलने वाली तू-तू मैं-मैं इस अनिश्चित विश्व का स्वरूप है। सच तो यह है कि यहाँ पर नश्वर जीव प्रभु की अनश्वरता से बेखबर नाशवान वस्तुओं के आकर्षण में बँधा पड़ा है। आवागमन का अटूट चक्र चल रहा है। कोई स्थिर नहीं एक ही परम-सत्य है। मित्रता किससे की जाए ? एक ही परम-सत्य है। उसके अतिरिक्त शेष संसार के सब मानव भोग विलास आकर्षण-विकर्षण अस्तित्व होते हुए भी मिथ्या है।[2]

(शेष पिछले पृष्ठ का)

और भी—
पड़ि पुस्तक संधिआ बादं। सिल पूजसि बगुल समाधं।
मुखि झूठी बिभूखण सारं। त्रैपाल तिहाल बिचारं।
गलि माला तिलक लिलाटं। दोइ धोती बसत्र कपाटं।
जो जानसि ब्रहमं करमं। सभ फोकट निसचै करमं।
कहु नानक निसचौ धिआवै। बिनु सतिगुर बाट न पावै।
[illegible] सलोक सहस कृति म० १ पृ० १३५३।

१ बिखु बोहिथा लादिआ दीआ समुंद मंझारि।
कंधी दिसि न आवई ना उरवारि न पारि।
वंझी हाथि न खेवटू जलु सागरु असरालु।
बाबा जगु फाथा महा जालि।१ २ मारू अष्टपदी पृ० १००९।

२ कूड़ु राजा कूड़ु परजा कूड़ु सभु संसारु। कूड़ु मंडप कूड़ु माड़ी कूड़ु बैसणहारु।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

रूपकों द्वारा माया का स्वरूप चित्रण—ब्रह्म शक्ति अज्ञानावरण तथा मिथ्या तत्त्वों के अन्तर्गत माया का रूप-चित्रण ऊपर किया जा चुका है। किन्तु गुरु-वाणी में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है जहाँ पर माया का स्पष्ट वर्णन कर संकेतों प्रतीकों और रूपकों से काम चलाया गया हो। भावी नारी की तरह माया का रूपकमय चित्रण प्रस्तुत है—

माथै त्रिकुटी द्रिसटि करूरी। बोलै कउड़ा जिहबा की फूड़ी।
सदा भूखी पिरु जाणै दूरि ॥१॥ ऐसी इसत्री इक रामि उपाई।
उनि सभु जगु खाइआ हम गुरि राखे मेरे भाई।
पाइ ठगउली सभु जगु जोहिआ। ब्रहमा बिसनु महादेउ मोहिआ।
गुरमुखि नामि लगे से सोहिआ ॥२॥ वरत नेम करि थाके पुनह चरना।
तट तीरथ भवे सभ धरना। से उबरे जि सतिगुर की सरना।
माइआ मोहि सभो जगु बाधा। हउमै पचै मनमुख मूराखा।
गुर नानक बाह पकरि हम राखा।[1]

अर्थात् प्रभु ने माया के नाम से एक ऐसी स्त्री बनाई है जिसके नेत्रों में रौद्र और माथे पर त्यौरियाँ रहती हैं। जो पति की (मनुष्य की) उपेक्षा कर कटु वचन उगलती है और फूहड़ की भाँति विचरण करती है। इस भयानक नारी ने ठगिनी सा सबको ताड़ रखा है। ब्रह्मा विष्णु और महेश सरीखे देवता भी लट्टू किए हैं। समस्त संसार को मोह बन्धन में बाँध रखा है। जप तप नियम आदि प्रायश्चित इसी के सीमांतरित पथ हैं। केवल प्रभु का स्मरण करने वाला सद्गुरु पर अवलंबित जीव ही इससे त्राण पाता है।

माया को एक ऐसी सर्पिणी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है जिसने जीव को जकड़ लिया है। उसके बचने के प्रयत्नों पर काटने की धमकी दी जाती है। और इसका काटा तो पानी भी नहीं माँगता। अभिप्राय यह है कि माया छल करने वाली है और सबको अपनी ही सीमाओं में घूमता हुआ देखना चाहती है। वास्तविकता का स्मरण करने वाले के मार्ग की यह भयंकर बाधा है। नानक लिखते हैं—

(शेष पिछले पृष्ठ का)

कूड़ु सुइना कूड़ु रुपा कूड़ु पैनहणहारु। कूड़ु काइआ कूड़ु कपड़ु कूड़ु रूपु अपारु।
कूड़ु मीआ कूड़ु बीबी खपि होइ खारु। कूड़ि कूड़ै नेहु लगा विसरिआ करतारु।
किसु नालि कीचै दोसती सभु जगु चलणहारु।
कूड़ु मीठा कूड़ु माखिउ कूड़ु डोबे पूरु नानकु वखाणै बेनती तुधु बाझु कूड़ो कूड़ु।
आसा दी वार, पृ० ४६८।

१ पद ४ २ ६६, आसा म० ५, पृ ३९४।

बहु सरपनि के वस बीउड़ा[1]

घरेलू जीवन में जैसे सास बहू के मार्ग का कांटा बन जाती है। उस तक पहुँचाती है तथा बहू को प्रियतम से मिलने का अवसर नहीं प्राप्त हो पाता। उसी तरह माया जीवात्मा के ईश्वर से मिलने में बाधा उपस्थित करती है। गुरु साहिब लिखते हैं—

सासु बुरी घर वासु न देवै पिर सिउ मिलण न देइ बुरी।[2]

कई अन्य स्थानों पर माया को भ्रम की दीवार अज्ञानान्धकार या दीर्घ बंधन अथवा जाल आदि कहकर भी संबोधित किया गया है।

२ मन और माया

मानव-मन वृत्तियों और संवेदनाओं का पुंज है। हर घड़ी और हर पल इसमें कितने ही भले-बुरे विचार जागृत होते, पनपते एवं मनुष्य को सक्रियता दान देते हुए नष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार एक चेतना प्रवाह बहता है। यही मनुष्य को कर्मानुप्रवृत्त रखता है। प्रवृत्ति की यह भावना जो मन के संस्कारों और अरमानों से पैदा होती है संसार में जीव की मायावी पृष्ठभूमि की द्योतक है। यदि मन निवृत्ति अपनाले तो माया हतप्रभ हो मनुष्य को अपने बंधन में रखने में असमर्थ हो जाती है। अतः यद्यपि मन की वृत्तियाँ ही वास्तव में माया-जाल में फँसने का कारण बनती हैं तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि त्रिगुणात्मक माया (बाह्य-प्रकृति) अपने में मानव-मन की उक्त वृत्तियों को प्रेरित उद्वेलित और सजीव बनाए रखने में सक्षम है। इस प्रकार मन और माया दोनों अन्योन्याश्रित ठहरते हैं। ऐसे में जीव का मन के वश होना या माया के दोनों पर्यायवाची भी कहे जायें तो कोई अत्युक्ति न होगी। महात्माओं संत-फकीरों ने संभवतः इसीलिए 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत' या 'मन जीते जगु जीतु'[3] एवम् 'मनुआ जीतैं मिलै सिंह सुरतनबेस'[4] आदि कथनों से सांसारिकों को सचेत किया है। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है कि इसमें ही मनुष्य के उद्धार की औषधि भी मौजूद है उसी प्रकार मानसिक वृत्तियाँ बाहरी प्रकृति से उत्प्रेरित होकर जहाँ मनुष्य को माया फंदे में फँसाने का कृत्य करती हैं, वहीं अन्तरात्मा की आवाज को सुन गुरु आज्ञानुसार नाम का अभ्यास कर, माया-

---

१ प० ७ १५ सिरी अष्टपदी आ म० १ पृ० ६१।
२ पद २ २२ आसा म० १ पृ० ३५५।
३ जपुजी।
४ गउड़ी बावन अखरी म० ५।

मार्ग में मुक्ति का कारण भी बनती है। केवल दृष्टि बदलने की आवश्यकता है। तभी तो कहा है कि मानव मन अग्नि की तरह दुष्ट स्वामी किन्तु भला सेवक है।[1] अत: मनोवृत्तियों एवं चेतन भावों को विशुद्ध रखने की अपेक्षा है माया से तो स्वयं ही निस्तार मिल जाएगा।

गुरु नानक फरमाते हैं कि मन की शुद्धि के बिना तीर्थ-यात्रा पुण्य-कर्म दान पूजा-भक्ति व्रत नियम आदि सब निरर्थक हैं। मन में खुटाई हो शरीर में वासना भरी हो तो चाहे ६८ तीर्थों का स्नान वर्षों न कर लिया जाये माया से मुक्ति नहीं मिल सकती। पावन जल-मज्जन से यदि एक पाप उतरेगा तो चित्त की दुष्टता से न जाने कितने और पाप चढ़ते जायेंगे। बाहरी उज्ज्वलता मनुष्य को तब तक माया निर्लिप्त नहीं बना सकती जब तक कि वह अन्दर से मानसिक विष अर्थात् दूसरों के अशुभचिन्तन की भावनाओं को दूर नहीं कर देता। अन्ततः भले व्यक्ति तो बिना तीर्थ-यात्रा किये भी भले ही होते हैं—उन्होंने मन की बुराइयों पर विजय पायी होती है, और उसके विपरीत दुष्ट तथा कुटिल-जन जब तक अपने मन को सद्भावनाओं से प्रेरित नहीं करते बाहर से कितने भी श्वेताम्बरी बनें सदैव दुष्ट और कुटिल ही रहते हैं।[2] अभिप्राय यह कि मन के भ्रम ही मनुष्य को ऐसे कर्मों में लीन करते हैं जिनके फल भोग के लिये वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ने को बाधित होता है। यदि मन को संयत कर उससे निवृत्त हो लिया जाये तो हमारा विश्वास है कि माया (बाह्य प्रकृति) द्वारा फँसाने की बात तो दूर रही वह उसे प्रभावित भी नहीं कर सकती। वस्तु मन और माया दोनों जीव को फँसाने का कार्य करते हैं—माया बाहरी मिथ्या और अस्थायी आकर्षणों से तथा मन आन्तरिक-दुश्चेतनाओं से। मन की ये दुश्चेतनायें क्योंकि बाहरी आकर्षणों की प्रेरणा से ही जागृत और विकसित होती हैं, इसलिये बचाव का एकमात्र साधन मन का संयम ही हो सकता है बाहरी मिथ्या-आकर्षणों के प्रति उक्त संयम की प्राप्ति ज्ञान द्वारा एवं आन्तरिक दुश्चिन्ताओं तथा वासनाओं के प्रति इसकी प्राप्ति अभ्यास द्वारा सम्भव है और इन दोनों ज्ञान और अभ्यास की उपलब्धि किसी अनुभवी पुरुष द्वारा सम्भव है। अत: मन को संयमित करना ही माया से निस्तार का वास्तविक रूप कहा जा सकता है।

जो लोग केवल बाहरी सदाचार में ही विश्वास रखते हैं कृत्रिम सद्भावना को अपनाते हैं या केवल आडम्बर करते हैं मुक्ति का मार्ग उनसे कोसों दूर है। गुरु नानक लिखते हैं जैसे सफेद-पोश जिनका मन शुद्ध नहीं (भेड़ की खाल में भेड़िये) सदैव

---

1 Like fire mind is a good servant, but a bad master Unknown.

२ नावण चले तीरथी मनि खोटै तनि चोर।
इकु भाउ लथी नातिआ दुइ भा चड़ीअसु होर।
बाहरि धोती तूमड़ी अंदरि विसु निकोर।
साध भले अणनातिआ चोर सि चोरा चोर। २। सलोक मूहो म० १ पृ० ७८९

ईश्वरोपेक्षा करते हैं और कुटिल होते हैं। क्योंकि वे कृत्रिम सौम्यता धारण करते हैं और निरंजन पहचानने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं करते अतः पशु के समान हैं। निस्सन्देह मानव मन नित्य नवीन हर्षोल्लास एवं सुख-शान्ति की इच्छा करता है परन्तु प्रभु-भजन के बिना उसे सर्वत्र दुःख का सामना ही करना पड़ता है। यदि स्वयं सुख दुख-दाता—सतपुरुष—मन में आ बसे तो कामना मात्र का ही अन्त हो जाये मोह माया आतंकित हो भाग खड़ी हो और मन मदारी के बन्दर की तरह आपके इशारों पर नाचने लगे।[1] अतः हम इस निर्णय तक पहुँचते हैं कि मन और माया इन दोनों से मुक्ति पाना जीव के लिए आवश्यक है। परन्तु यदि जीव आवश्यकता का अनुभव किए बिना विषय-विकारों में ही डूबा रहे तो वह जन्म-मरण के चक्र से कभी नहीं छूट सकता। वास्तविक सत्योपलब्धि मन-माया को संयमित करने में है जिसका सहज मार्ग हृदय में प्रभु का नाम धारण कर तत्पर होने में है। गुरु नानक के शब्दों में—

मनु-माइआ बंधियो सर जालि।[2]
घटि घटि बिआपि रहिओ बिखु।[3]
नालि जो आंजै[4] सो दीसै कालि।
कारजि सीधो[5] रिद सम्हालि।

आधुनिक मनोविज्ञान गुरु नानक के उपर्युक्त विचारों से बहुत कुछ मेल खाता है। यह स्वीकार करता है कि मनुष्य के मन में अच्छी और बुरी जन्म-जात वृत्तियाँ (इन्स्टिंक्ट्स) सर्वत्र विद्यमान रहती हैं। ये वृत्तियाँ समय-समय पर बाहरी वातावरण की सुविधा प्राप्त कर भड़क उठती हैं जिनसे संवेदनाओं और संवेगों का जन्म होता है तथा मनुष्य की क्रियायें प्रकट होती हैं। क्रियाओं से मनुष्य का व्यक्तित्व तथा चरित्र बनता है। बाहरी वातावरण में देश और काल की सीमाओं में आने वाली प्रत्येक वस्तु जो परिवर्तनशील है अर्थात् माया है आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा में प्रकृति कहलाती है।

---

१ चिटे जिनके कपड़े मैले चित कठोर जीउ। तिन मुखि नामु न ऊपजै दूजै विआपे
चोर जीउ मूलु न बूझहि आपणा से पसूआ से ढोर जीउ।
नित-नित खुसीआ मनु करे नित-नित मंगै सुख जीउ।
करता चिति न आवई फिरि-फिरि लगहि दुख जीउ।
सुख दुख दाता मनि वसै तितु तनि कैसी भुख जीउ।
१४ १ २ सूही म० १ पृ० ७५१।

२ सर-जालि = जाल की तरह।
३ बिखु-नालि = विषय-विकार रूपी विष।
४ आंजै = आया है जन्मा है।
५ सीधो = सिद्ध होना है—नाम रूप।
६ पद ४१ बिलावल अष्टपदी म० १ पृ० ८३१।

मानव-अंतःकरण पर (मन बुद्धि चित्त तथा अहंकार) प्रकृति के अस्थायी एवं क्षणिक आकर्षणों का बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ता है। परिणाम-स्वरूप आदमी की क्रियाओं विचारों भावों एवं संवेदना में क्षोभ परिवर्तन होने से उसके राग विराग आकर्षण विकर्षण तथा आचरण विषयक में बहिर्मुखी प्रधानता होने लगती है और मनुष्य अन्तर की दैविक (एथिकल) शक्तियों से धीरे-धीरे दूर हटता चलता है। यह अन्तमुखी अभाव ही महात्मा-जनों के द्वारा माया के नाम से पुकारा गया है। पुनः मन और माया की कठोरता के कारण योनि-बन्धन की जो बात गुरु नानक स्वीकार करते हैं उससे भारत पाश्चात्य चिन्तन दूर नहीं। प्रवृत्ति एवं उत्पत्ति का आधार कारण कार्य भाव ही माना जा रहा है। प्रत्येक घटना वार्ता या परिवर्तन के घटित होने के पूर्व उसका कारण अस्तित्व में आता है और तत्पश्चात् स्थिति के अनुकूल वातावरण के योगों में उस कारण से कार्य का जन्म होता है। आगे चलकर बहुत सम्भव है कि वही कार्य किसी अन्य कार्य का कारण बन जाय। इसी प्रकार चेतना के उपर्युक्त अंगों, मन बुद्धि चित्त आदि की जो अभिव्यक्ति भावना भले या बुरे कर्मों की वृत्तियाँ आदि होती हैं वे ही जीव के भविष्य का कारण बनती हैं। कर्मों के निवृत्ति प्रधान होने पर योनि-बन्धन के टूटने की आशा की जा सकती है। अतः मन-माया के फंदे में पड़कर किये गये हमारे कर्म कारण हैं और उनसे जीवनोपलब्धि एवं फल भोग कार्य—नये जीवन के कर्म आगामी-जीवन के लिए कारण बन सकते हैं। इस दृष्टिकोण से मुक्ति केवल निष्काम प्रवृत्ति में ही सम्भव होगी अन्यथा कामना चिन्तन क्रिया और कल्पना एवं उसके बाद नया जीवन अतः यह आवागमन।

३ माया की वास्तविकता की पहचान और गुरु का सहयोग

जादूगर का तमाशा देखकर ज्यों वास्तविकता से अनभिज्ञ लोग उससे प्रभावित होते हैं वैसे ही माया (प्रकृति) का प्रसार केवल अपनी चमक-दमक के कारण जीव उसकी ओर आकृष्ट होता है। वह माया की भीतरी कुटिलता से परिचित नहीं होता—केवल बाहरी सौंदर्य और अस्थायी हर्षोल्लास को ही यथार्थ स्वीकार कर लेता है। एक समय ऐसा आता है कि वह उक्त अस्थायी और मिथ्या में ही स्थायी और सत्य का आरोप करता है एवं कामनाओं विषय-विकारों में गहरा डूब जाता है। वह भूल जाता है कि माया से ऊपर भी कुछ है। जीव की यह स्थिति अत्यन्त दुःखद और निराशामय है। उसकी भीतरी प्रेरक-शक्तियाँ सोई रहती हैं और बाहरी माया के प्रसार तथा अन्ध-प्रभाव के कारण उसे ईश्वरीय-सत्ता का भी भास नहीं होता। जीव विषय-विकारों के नशे में अपनी चेतना-खोया-सा रहता है। अपने को ज्ञानी समझता है परन्तु हृदय में बसे ब्रह्म से भी अपरिचित होता है। जीव की यह मोह-निद्रा केवल सद्गुरु के सद्ज्ञान से

४ माया से छुटकारा

माया विश्व-बन्धन का प्रतीक है। आवागमन से मुक्ति एवं सत्पुरुष-मिलन के लक्ष्यों की प्राप्ति इसके आवरण को विदीर्ण किए बिना सम्भव नहीं। यह त्रिगुणात्मक-आवरण समष्टि-चेतन में एकभाव होने से ही हटाया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने गुणों की व्याख्या के बाद आत्मा के परमात्मा रूप की प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस काल में द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप परमात्मा को तत्त्व से जानता है उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।[1] तथा वह पुरुष इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म मृत्यु वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है।[2] प्रश्न उठता है कि इन तीनों से परे क्योंकर चला जाय ?

गुरु नानक दृष्टिकोण से यहाँ माया-मुक्ति के साधनों पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। गुरु साहिब का विश्वास था कि जीव इतना असक्त है कि बिना योग्य सहायता के वह माया-बन्धनों को काटने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसकी सम्भावना किसी सद्गुरु की शरण में आने, नाम का जाप करने अथवा पूर्व-कर्मों की सात्विकता हेतु प्रभु-कृपा हो जाने में ही अनुभव की जा सकती है।

(क) प्रभु-कृपा—माया-बन्धनों से मुक्ति का मुख्य आधार स्वयं प्रभु निरंकार की कृपा है। जिसके सत्कर्मों पर सत्पुरुष का वरद्-हस्त उठ गया वही माया की सीमाओं के पार स्वयं सत्पुरुष का ही हो गया। प्रभु के सम्मुख माया नि:सत्व है; चाहते हुए भी वह उस जीव को पथ भ्रष्ट नहीं कर सकती जिस पर प्रभु की कृपा से मायावी रहस्यों का उद्घाटन हो चुका हो। कहा गया है कि गुरु दीक्षा मिलने के बाद भी यदि ईश्वर-कृपा न हो तो मनुष्य का जप-तप अकार्थ हो जाता है। उसके लिए सत्लोक में स्थान पाना तो दूर की बात है वह मोह जाल को काटने में भी असमर्थ रहता है। गुरु नानक फरमाते हैं कि यहाँ भी कृपा-दृष्टि की अपेक्षा रहती है

(शेष पिछले पृष्ठ का)

जंमण मरणु विसारिआ मनमुख मुगधु गवारि ।
गुरि राखे से उबरे सचा सबदु वीचारि । म० ३ माझ पृ० १०१० ।

1 नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।
अध्याय १४ श्लोक १९ गीता ।

2 गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्म मृत्यु जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते । श्लोक २० अध्याय १४ ।

ही दूर हो सकती है। माया-बन्धनों में पड़े जीव को अपनी स्थिति को पहचानने माया की कुटिलता से परिचित होने तथा उससे बचने और सद्ज्ञान प्राप्त कर मायालोक को छोड़ सत्यलोक की ओर प्रयाण करने में कोई सच्चा महापुरुष ही सहायक हो सकता है। गुरु नानक साहिब ने इस भाव को यों प्रकट किया है—

बिनु माइआ बिनु मोहिआ भाई चतुराई पति खोई।
चित महि ठाकुर सचि वसै भाई जे गुर गिआन समोई।[1]

आगे लिखते हैं कि विश्व में रहते हुए जीव को राज्य सम्पत्ति रूप जाति या यौवन का बहुत मान होता है। परन्तु ये सब मायावी आकर्षण हैं (ठग) इनके द्वारा समस्त जगत ठगा जा रहा है। केवल वही सौभाग्यशाली जीव जिसे गुरु-चरणों में मान मिला है, इनकी ठगाई से बच पाता है। बाकी सब सत्कर्म-विहीन होने के कारण उक्त ठगों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं।[2] काम क्रोधादि उन्हें त्रास पहुँचाते हैं अति कष्ट का सामना करना पड़ता है—

अवरि पंच हम एक जना। किउ राखउ घर बारु मना।
मारहि लूटहि नीत नीत। किसु आगै करी पुकार जना।[3]

बड़ा कठिन प्रश्न है माया के गुण्डों से क्योंकर बचा जाय? पुनः स्वयं ही गुरु नानक सुझाव पेश करते हैं—

गुर परसादी उबरे सचा नामु समालि[4]

गुरु की शरण में जाना और नाम-जाप करना ये ही माया की दुष्टता को पहचानने के मुख्य साधन हैं। मनमुखी बना यह जीव दुनिया धंधों में फँसा है यह नहीं विचारता कि प्रस्तुत स्थिति माया है और इससे बचना श्रेयस्कर। वह तो जन्म-मरण के चक्र में पड़ा परिवर्तनशील विश्व के तथाकथित आकर्षणों में मुग्ध हुआ है। किसी सद्गुरु की प्राप्ति और उसके शब्दों-उपदेशों का विश्वास और व्यवहारादि ही जीव द्वारा माया की वास्तविक पहचान के आधार बन सकते हैं।[5]

---

१ पद २ ४ सोरठ अष्टपदी म० १ पृ० ६३७।

२ राजु मालु रूपु जाति जोबनु पंजे ठग। एनी ठगीं जगु ठगिआ किनै न रखी लज। एना ठगन्हि ठग से जि गुर की पैरी पाहि। नानक करमा बाहरे होरि केते मुठे जाहि। पद २। मलार की वार, म० १ पृ० १२८८।

३ पद १ २ १४ गउड़ी म० १ पृ० १५५।

४ १ ६ मारू अष्टपदी म० १ पृ० १००९।

५ पंथे घावल जमु जोहिआ ना सूझै बीचारि।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

४ माया से छुटकारा

माया विश्व-बन्धन का प्रतीक है। आवागमन से मुक्ति एवं सत्पुरुष-मिलन के लक्ष्यों की प्राप्ति इसके आवरण को विदीर्ण किये बिना सम्भव नहीं। यह त्रिगुणात्मक-आवरण समष्टि-चेतन में एकभाव होने से ही हटाया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने गुणों की व्याख्या के बाद आत्मा के परमात्मा रूप की प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस काल में द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप परमात्मा को तत्त्व से जानता है उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।[1] तथा वह पुरुष इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म मृत्यु वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है।[2] प्रश्न उठता है कि इन तीनों से परे क्योंकर बसा जाय ?

गुरु नानक दृष्टिकोण से यहाँ माया-मुक्ति के साधनों पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। गुरु साहिब का विश्वास था कि जीव इतना अशक्त है कि बिना योग्य सहायता के वह माया-बन्धनों को काटने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसकी सम्भावना किसी सद्गुरु की शरण में आने नाम का जाप करने अथवा पूर्व-कर्मों की सात्त्विकता हेतु प्रभु-कृपा हो जाने में ही अनुभव की जा सकती है।

(क) प्रभु-कृपा—माया-बन्धनों से मुक्ति का मुख्य आधार स्वयं प्रभु निरंकार की कृपा है। जिसके मस्तक पर सत्पुरुष का वरद् हस्त लग गया वही माया की सीमाओं के पार स्वयं सत्पुरुष का ही हो गया। प्रभु के सम्मुख माया निःशक्त है चाहते हुए भी वह उस जीव को पथ भ्रष्ट नहीं कर सकती जिस पर प्रभु की कृपा से मायावी रहस्य का उद्घाटन हो चुका हो। कहा गया है कि गुरु दीक्षा मिलने के बाद भी यदि ईश्वर-कृपा न हो तो मनुष्य का जप-तप अकारथ हो जाता है। उसके लिये सतलोक में स्थान पाना तो दूर की बात है वह मोह जाल को काटने में भी असमर्थ रहता है। गुरु नानक फरमाते हैं कि यहाँ भी कृपा-दृष्टि की अपेक्षा रहती है

(शेष पिछले पृष्ठ का)

संगत करतु विकारिआ अवगुण सुगधु गवारि।
पुरि दाम्र से ऊबरे तजा मब्दु बीचारि। ७ २ माफ पृ० १०१०।

१ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।
अध्याय १४ श्लोक १९ गीता।

२ गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्म मृत्यु जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते। श्लोक २० अध्याय १४।

ही दूर हो सकती है। माया-बन्धनों में पड़े जीव को अपनी स्थिति को पहचानने माया की कुटिलता से परिचित होने तथा उससे बचने और सद्ज्ञान प्राप्त कर मायालोक को छोड़ सतलोक की ओर प्रयाण करने में कोई सच्चा महापुरुष ही सहायक हो सकता है। गुरु नानक साहिब ने इस भाव को यों प्रकट किया है—

विणु माइआ जितु मोहिआ भाई चतुराई पति खोई ।
चित महि ठाकुर सचि वसै भाई जे गुर गिआन समोई ।[1]

आगे लिखते हैं कि विश्व में रहते हुए जीव को राज्य सम्पत्ति रूप, जाति या यौवन का बहुत मान होता है। परन्तु ये सब मायावी आकर्षण हैं (ठग) इनके द्वारा समस्त जगत ठगा जा रहा है। केवल वही सौभाग्यशाली जीव जिसे गुरु-चरणों में मान मिला है इनकी ठगाई से बच पाता है। बाकी सब सत्कर्म-विहीन होने के कारण उक्त ठगों द्वारा उत्पीड़ित होते हैं।[2] काम-क्रोधादि उन्हें त्रास पहुँचाते हैं अति कष्ट का सामना करना पड़ता है—

मचहि पंच हम एक जना । किउ राखउ घर बारु मना ।
मारहि लूटहि नीत नीत । किसु आगै करी पुकार जना ।[3]

बड़ा कठिन प्रश्न है माया के गुणों से क्योंकर बचा जाय? पुनः स्वयं ही गुरु नानक सुझाव पेश करते हैं—

गुर परसादी उबरे सचा नामु समालि[4]

गुरु की शरण में जाना और नाम-जाप करना ये ही माया की दुष्टता की पहचानने के मुख्य साधन हैं। मनमुखी बना यह जीव दुनिया धंधों में फँसा है यह नहीं विचारता कि प्रस्तुत स्थिति माया है और इससे बचना श्रेयस्कर। वह तो जन्म-मरण के चक्र में पड़ा परिवर्तनशील विश्व के तथाकथित आकर्षणों में मुग्ध हुआ है। किसी सद्गुरु की प्राप्ति और उसके वचनों-उपदेशों का विश्वास और व्यवहारादि ही जीव द्वारा माया की वास्तविक पहचान के आधार बन सकते हैं।[5]

---

१ पद २ ४ सोरठ अष्टपदी म० १ पृ० ६३७ ।

२ राजु मालु रूप जाति जोबनु पंजे ठग । एनी ठगी जगु ठगिआ किनै न रखी लज । एना ठगन्हि ठग से जि गुर की पैरी पाहि । नानक करमा बाहरे होरि केते मुठे जाहि । पद २ । मलार की वार, म० १ पृ० १२८८ ।

३ पद १ २ १४ गउड़ी म० १ पृ० १५५ ।

४ १ १ मारू अष्टपदी म० १ पृ० १००६ ।

५. धंधै धावत जगु बाधिआ ना बूझै वीचारि ।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

४ माया से छुटकारा

माया विश्व-बन्धन का प्रतीक है। आवागमन से मुक्ति एवं सतपुरुष-मिलन के सदर्भों की प्राप्ति इसके आवरण को विदीर्ण किये बिना सम्भव नहीं। यह त्रिगुणात्मक-आवरण समष्टि-चेतन में एकभाव होने से ही हटाया जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने गुणों की व्याख्या के बाद आत्मा के परमात्मा रूप की प्राप्ति का कथन करते हुए कहा है कि जिस काल में द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतन में एकीभाव से स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणों से परे सच्चिदानन्दघन स्व रूप परमात्मा को तत्त्व से जानता है उस काल में वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।[1] तथा वह पुरुष इस स्थूल शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप तीनों गुणों को उल्लंघन करके जन्म मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुखों से मुक्त हुआ परमा नन्द को प्राप्त होता है।[2] प्रश्न उठता है कि इन तीनों से परे क्योंकर चला जाय ?

गुरु नानक दृष्टिकोण से यहाँ माया-मुक्ति के साधनों पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। गुरु साहिब का विश्वास था कि जीव इतना अशक्त है कि बिना योग्य सहायता के वह माया-बन्धनों को काटने का सामर्थ्य नहीं रखता। इसकी सम्भावना किसी सद्गुरु की शरण में आने नाम का जाप करने अथवा पूर्व-कर्मों की नास्तिकता हेतु प्रभु-कृपा हो जाने में ही अनुभव की जा सकती है।

(क) प्रभु-कृपा—माया-बन्धनों से मुक्ति का मुख्य आधार स्वयं प्रभु निरंकार की कृपा है। जिसके सम्बन्धों पर सतपुरुष का वरद्-हस्त उठ गया वही माया की सीमाओं के पार स्वयं सतपुरुष का ही हो गया।[3] प्रभु के सम्मुख माया निःशक्त है चाहते हुए भी वह उस जीव को पथ भ्रष्ट नहीं कर सकती जिस पर प्रभु की कृपा से मायावी रहस्यों का रहस्योद्घाटन हो चुका हो। कहा गया है कि गुरु दीक्षा मिलने के बाद भी यदि ईश्वर-कृपा न हो तो मनुष्य का जप-तप अकार्थ हो जाता है। उसके लिये सतलोक में स्थान पाना तो दूर की बात है वह मोह जाल को काटने में भी असमर्थ रहता है। गुरु नानक फरमाते हैं कि यहाँ भी कृपा-दृष्टि की अपेक्षा रहती है

(शेष पिछले पृष्ठ का)

जमण मरणु विसारिआ बनमुख मुगधु गवारि।
गुरि राखे से उबरे सचा सबदु वीचारि। ७ २. माझ पृ० १०१०।

१ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।
अध्याय १४ श्लोक १९ गीता।

२ गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्म मृत्यु जरा दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते। श्लोक २० अध्याय १४।

उसी से मोह बन्धन कटते हैं और यही जीव के हरि-मिलन का आधार बनती है।[१] सच तो यह है कि गुरु की प्राप्ति ही हरि-कृपा का परिणाम है। सद्गुरु की उपलब्धि बड़े उच्च-कर्मों से होती है—अस्तु ये ही प्रभु-कृपा के आधार भी बनते हैं। ईश्वरेच्छा से गुरु मिलता है जीव नाम जपने में समर्थ होता है और यही सब मिलकर माया के अन्त का कारण बनते हैं। गुरु नानक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में इस भाव को प्रस्तुत किया है 'जीव पक्षी की भांति माया-पिंजर में बन्द है और हर समय भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के छेदों से झांकता है। (ऐन्द्रिक विषय-विकारों में पड़ा) परन्तु पिंजरे से (माया से) मुक्त होने का सामर्थ्य नहीं रखता उसकी मुक्ति स्वामी (प्रभु) की इच्छा पर निर्भर है। वह यदि चाहे तो पिंजरे का द्वारा खोल कर पक्षी को स्वतन्त्र कर सकता है' अर्थात् माया-पिंजर से जीव की मुक्ति सत्पुरुष की कृपा से ही सम्भव है।[२]

(ख) *गुरु-शरण महत्ता—मोह-माया में डूबे इस संसार से पार लगाने वाली* आध्यात्मिक शक्ति कोई सत्पुरुष ही हो सकता है। जिज्ञासु जीव जब माया की पहचान करने के उपरान्त इससे मुक्त होने को प्रयत्न शील होता है तो उसे किसी सद्गुरु की शरण में जाना आवश्यक-सा लगता है। गुरु नानक ने लिखा है 'एहु मोहि डूबा संसारु गुरमुखि कोई उतरै पारि'[३] कोई सच्चे गुरु का शिष्य ही माया के बन्धन काटने का सामर्थ्य प्राप्त करता है। पाँचवीं पातशाही गुरु अर्जुनदेव का कथन "उन सङु सन भाइआ हम धुरि राखे मेरे भाई"[४] इस विचार की प्रत्यक्ष पुष्टि का द्योतक हो सकता है। गुरु विहीन जीव सत्पथ का उचित निर्देशन न मिलने के कारण कर्म-काण्ड एवं बाहरी धर्म-पुण्य (आडम्बर) को ही माया से छुटकारे का साधन मान लेता है। परन्तु इससे छुटकारा तो दूर, बन्धन बढ़ते चले जाते हैं। कर्म-काण्ड में फल की चाह आशा बनी रहने के कारण प्रायः पुनः मुक्ति के लिये नया जन्म होता है। यही क्रम यदि चलता रहे तो योनि-भ्रमण का कोई अन्त नहीं। केवल गुरु ही जीव के कर्मों का अन्त कर उसे निष्कामता की ओर प्रेरित करता है। तभी गुरु नानक ने लिखा है 'ऐ भाई, इस विश्व को तो माया ने क्यों रिझाया

---

१ गुर दीखिआ ते मनु तनु समाहि ना मोहु दुखु ना भाउ पाहि।
नदरि करे ता एहु मोहु जाइ नानक हरि सिउ रहै समाइ।
५ ६ २१ आसा म० १ पृ० ३५६।

२ पिंजरि पंखी बंधिआ कोइ। छेरी भरमै मुकति न होइ।
तउ छूटै जा खसमु छुडावै। गुरमति मेले भगति द्रिड़ाए।
७ बिलावल थिती म० १ पृ० ८३६।

३ पद ३ २१ आसा म० १ पृ० ३५६।

४ पद २ २ ६६, आसा म० ५, पृ० ३६४।

से कर्म-सूत की गाँठें लगा-लगा कर बाँध रखा है। कितने भी भले बुरे कर्म कमाते रहो ये गाँठें गुरु की सहायता और कृपा बिना नहीं खुल सकतीं।[1]

(घ) नाम-जाप—नाम-जाप या उस वाहिगुरु का भजन-स्मरण भी उच्च कोटि की मोह भंजक और माया से त्राण-दायक शक्ति है। गुरु द्वारा शब्द-रहस्य जान लेने के बाद यदि जीव भजनोपासना में मन लगाये तो उसके मार्ग के मायावी विघ्न स्वयं ही कटते और हटते चलते हैं। नाम-धन ऐसी आध्यात्मिक दौलत है जो आत्मा का वास्तविक शृंगार बन कर उसकी शोभा-ज्योति से आन्तरिक गहन-मण्डलों के अन्धकार में भी प्रकाश की लहरियाँ दौड़ाया करती है। जहाँ अज्ञानी-मूढ़ उस अन्धकार में ही मार्ग-अप्राप्ति के कारण भटक कर रह जाते हैं वहाँ नाम धन वाली आत्मा निजी-ज्योति के प्रकाश में मार्ग खोज कर सतपुरुष की गोद में पहुँच जाती है। गुरु नानक फरमाते हैं कि सोना-चाँदी आदि धातुएँ (दौलतें) सब मिट्टी में मिल जायेंगी—और केवल सतिगुरु-प्रदत्त नाम की दौलत ही जीव का अन्त तक साथ देगी। जो नाम के रंग में रंगे गये हैं वेही निर्मल हैं और परम-निर्मल 'सत्य' में लीन हो जाने का सच्चा अधिकार रखते हैं।[2] इसीलिये गुरु साहिब विशेष उपदेश देते हुए कहते हैं 'ऐ भाई तू मोह और भ्रम का त्याग करदे तथा सच्चे नाम को अपने हृदय में बसा। यदि तू सच्चे नाम की परम-दौलत को प्राप्त कर लेगा तो तुम्हारे मन और बुद्धि का मिथ्या संशय शान्ति और निश्चिन्तता में बदल जायगा।[3]

सार यह कि माया से छुटकारा पाने के लिये सत्कर्मों के आश्रय क्रमशः हरि कृपा गुरु-मिलन तथा भजन-स्मरण की अपेक्षा है। जो पाले उसका धन्य भाग्य है शेष को गुरु नानक के उपर्युक्त आदेश का अनुसरण करते हुए वास्तविक-सत्ता की खोज में कटिबद्ध होना चाहिये।

---

१ इहु जगु तागो सूत को भाई दह दिस बाधो माइ।
बिनु गुर गाठि न छूटई भाई थाके करम कमाइ।
६ २ सोरठ अष्टपदी म० १, पृ० ६३५।

२ सुइना रुपा सभ धातु है माटी रलि जाई।
बिनु नावै नालि न चलई सतिगुर बूझि बुझाई।
नानक नामि रते से निरमले साचै रहे समाई।
८ ५, मारू अष्टपदी म० १ पृ० १०१२।

३ मोहु अरु भरमु तजहु तुम्ह बीर, साचु नामु रिदै रवै सरीर।
सचु नामु जो नवनिधि पाई रोवै पूतु न कलपै माई।
१-२ २१ आसा म० १ पृ० ३५६।

६

गुरु-नानक का दार्शनिक-लक्ष्य

छोड़हु कामु क्रोधु बुरिआई । हउमै धंधु छोड़हु लंपटाई ।
सतिगुर सरणि परहु ता उबरहु । इउ तरीऐ भवजलु भाई हे ।
(८ : ६ मारू)

१ धर्म और दर्शन

सुन्दर वस्तु का मूल्यांकन करते हुए, केवल उसका भौतिक अस्तित्व ही नहीं देखा जाता। उसके सौंदर्य से एक अज्ञात आत्म-तुष्टि का अनुभव भी होता है। यह अनुभव अतीन्द्रीय-सत्य कहा जा सकता है क्योंकि निश्चय ही सौन्दर्य-मूल्यांकन का वास्तविक आधार है। दैनिक-जीवन में ऐसे अतीन्द्रीय-सत्यों का आभास लगभग प्रत्येक कदम पर पाया जाता है। ऐन्द्रिक-जगत से परे के इन आकर्षक-सत्यों को पहचानने की उत्कट इच्छा हमारे अन्तर को कुरेदती रहती है। और जब-जब मनुष्य की बौद्धिक-साधना, उक्त इच्छा से पराभूत होकर इनमें से किसी सत्य को जानने और भौतिक-जगत से उसका सम्बन्ध जानने का सराहनीय प्रयत्न करती है, तभी दर्शन का जन्म होता है। इसके विपरीत अतीन्द्रीय परम-सत्य की जानकारी के लिए मनुष्य के श्रद्धा-युक्त महान् प्रयत्न तथा उसके साँचे में ढला हुआ जीवन-यापन धर्म के जनक हैं। आशय यह कि परम सत्य के आभास की बौद्धिक और सैद्धान्तिक प्रसापना से दर्शन तथा उसे जीवन के दैनिक-व्यवहार और मानसिक-उद्रेक में बदल लेने से धर्म का उदय हुआ है। इस प्रकार पश्चिमी विचारकों ने धर्म और दर्शन को जुदा जुदा दृष्टिकोणों से देखा है। वे कहीं दार्शनिक के लिए धार्मिक एवं नैतिक जीवन को अनिवार्य रूप में नहीं देखते। पश्चिम में ही एक और विचारधारा उपर्युक्त कथन का विरोध करती हुई दीख पड़ती है। हेगल और कान्ट सरीखे दार्शनिक दर्शन और धर्म को केवल सैद्धान्तिकता और व्यावहारिकता के अन्तर से नहीं देखना चाहते। उनका विश्वास था कि दर्शन की प्रत्येक व्याख्या वास्तव में धर्म का स्वरूप लिये रहती है। और धर्म की प्रत्येक साधना दर्शन के अन्तर्गत अपना निजी स्थान रखती है।[1] इन दोनों विचार-कोणों में उत्तर-कथित विचार अधिक युक्ति-संगत दीख पड़ता है। दर्शन और धर्म को पृथक-पृथक पृष्ठभूमि पर देखने का मतलब होगा दोनों को स्थान च्युत करना। दर्शन वास्तव में ज्ञान का वह मार्ग है, जो अतीन्द्रीय अनुभवों तक पहुँचाने के लिए मनुष्य को अस्थायी रूप से ज्ञातव्य का स्वरूप प्रदान करने का भी सामर्थ्य

---

1 Philosophy only unfolds itself when it unfolds religion and in unfolding itself it unfolds religion—Philosophy of Religion by Hegal Vol. I p. 19

रखता है। इससे ज्ञाता ज्ञातव्य और ज्ञान एक ही सूत्र में बँध जाते हैं और द्वैत का प्रश्न न रहने के कारण अतीन्द्रीय-सत्य जिज्ञासु की अनुभूत वस्तु बन जाती है। ठीक है कि पदार्थवादी दृष्टिकोण से हम वस्तु का ग्रहण वस्तु से भिन्न रह कर करते हैं, परन्तु आध्यात्मिक स्वरूप हमें इसके विपरीत एकीकरण की आधार-भित्ति पर ला खड़ा करता है।

पश्चिमीय विचारकों के इन दो भिन्न मतों में से यदि हम पहला मत स्वीकार कर लें तो हमें कहीं-कहीं धर्म के क्षेत्र में भी आध्यात्मिकता से हाथ धोना पड़ेगा—जिससे अतीन्द्रीय-सत्य के आभास का प्रश्न ही बासातर रह जायगा।

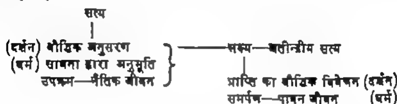
आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत अतीन्द्रीय-सत्य को सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का मधुर समन्वय स्वीकार किया जाता है और ईश्वर की कल्पना संसार के समस्त सौन्दर्य के निर्माता तथा नैतिक-शासक के रूप में की जाती है। पदार्थवादी दार्शनिक जड़ पदार्थ का ही सत्य मानता है। उसके लिए नैतिक अथवा सौन्दर्यादर्श कुछ नहीं।' इसी प्रकार अन्य कोटि के दर्शन भिन्न प्रकार की विचारधाराओं का प्रवाह प्रस्तुत करते हैं। धीरे-धीरे व्यावहारिक जीवन उन्हीं विचार-वीथियों का अनुसरण करने लगता है अतः भिन्न धर्मादर्शों की सम्भावना। आस्तिक विचारधारा से उपजित धर्म अतीन्द्रीय सत्य को व्यक्तित्व विशेष के रूप में देखता है। 'उक्त व्यक्तित्व में वह सत्य शिव और सुन्दर की महान अनुभूतियों का आरोप करता तथा संसार की रचना विकास और विनाश को उसी की इच्छा का परिणाम मानता है। इस व्यक्तित्व में जिसे हम ईश्वर कहते हैं हमारी चेतना एक रहस्य भावना खोज लेती है और हम उससे डरने लगते हैं कभी उसे अपने विश्वास और प्रेम का पात्र भी बना लेते हैं।''[1] पदार्थवादी या नास्तिक विचारधारा से प्रथम तो सही अर्थों में धर्म का उदय ही नहीं होता परन्तु फिर भी जब ऐसी विचारधारा को व्यवहार में रखा जाता है तो अतीन्द्रीय-सत्य को जड़ लेकिन क्रमानुशासित प्रकृति का नाम दिया है। जड़ निर्माता का निर्माण निश्चित ही भौतिक नियमों पर आधारित होगा अतः पदार्थवादियों के मतानुसार जीवन में उन्हीं भौतिक नियमों से अभिप्रता प्राप्त करना महत् धर्म की नींव कहा जायगा। आस्तिक विचारधारा क्योंकि सृष्टि के निर्माण को आध्यात्मिक और नैतिक नियमों से सम्बद्ध मानती है, इसीलिए (आस्तिक) धार्मिक जीवन की आध्यात्मिक और नैतिक नियमों से अभिप्रता को ही मनुष्य का लक्ष्य स्वीकार करती है। एक अनुरक्ति ईश्वर का प्रसार देखता है दूसरा ईश्वर की व्यक्तिगत सत्ता को अमान्य ठहराता है। एक विश्व की एकता को परम-सत्य की महत्तीयता तथा दैविक-घटनाओं को ईश्वर की उपस्थिति का प्रमाण मानता है तो दूसरा भौतिक शक्तियों और निसर्ग-नियमों को ही संसृति की एकता का कारण समझता है। दोनों अपने-अपने स्थान पर चाहे कम ही क्यों न कहे जाएँ

1 Problems of Philosophy by S. C. Chatterjee.

परन्तु उनकी क्रमशः दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पृष्ठभूमि उनके स्तरों में आकाश पाताल का अन्तर प्रस्तुत करती ही रहेगी। परिणाम यह होगा कि दर्शन और धर्म दोनों का लक्ष्य अतीन्द्रीय-सत्य माना जायगा परन्तु उनका स्वरूप क्रमशः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रहेगा।

इन दोनों से इतर भारतीय विचारधारा अधिक मान्य कही जा सकती है। यह दर्शन और धर्म को अन्योन्याश्रित मानने में गौरव का अनुभव करती है। प्रस्तुत विचार-सरणी के अनुसार परम-सत्य की सत्ता अविवाद-अस्तित्व के रूप में स्वीकार की जाती है। दर्शन उस सत्ता के अनुभव और अनुसरण का बौद्धिक उपक्रम पेश करता है। सामान्यतः सत्ता अत्यधिक अनुभव की ही वस्तु होने के कारण बौद्धिक पहुँच से बाहर रहती है और दार्शनिक को लक्ष्य-सिद्धि के लिए श्रद्धा पर आधारित साधना का आश्रय लेना पड़ता है। यह साधना धर्म है परन्तु क्योंकि बौद्धिक-पूर्णता (दर्शन) की उपलब्धि के लिए इसका अवलम्ब लिया जाता है अतः स्वयं दर्शन धर्म आधारित हो जाता है। इस प्रकार धर्म का पूर्व-रूप एवं उत्तर रूप दोनों दर्शन ही ठहरते हैं। क्रम इस प्रकार होगा। मानव-मन में उक्त अतीन्द्रीय-सत्य का आभास तीव्र होता चलता है। वह बुद्धि द्वारा उसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाता। पर्याप्त चिन्तन और मनन करने पर भी सत्याभास के तीव्रतर होने के अतिरिक्त कोई परिणाम उसके हाथ नहीं लगता। इस पर भी जब मनुष्य अतीन्द्रीय-सत्यों की स्वीकृति से विमुख नहीं होता तो मस्तिष्क की मेधा शक्ति से बलवती मनस् की श्रद्धा शक्ति का उदय होता है। अब जिज्ञासु परिणाम विहीन चिन्तन और मनन की सीमाओं का अतिक्रमण कर निदिध्यासन की ओर बढ़ता है। साधना का प्रस्तुत रूप मनुष्य को आध्यात्मिक और नैतिक नियमों से अभिरता प्रदान कर, पृष्ठभूमि के आधार-सत्य की जानकारी का सामर्थ्य देता है। पुनः, साधना द्वारा प्राप्त सत्य के परिचय का बौद्धिक विवेचन किया जाता है। और इस प्रकार साधन-साधना और साध्य का भी सूत्र तैयार होता है उसमें कभी चिन्तन और मनन की ग्रन्थि लगाई जाती है तो कभी विश्वास प्रेम और श्रद्धा की। सच तो यह है कि यदि किसी वस्तु के अस्तित्व पर हमें विश्वास ही न हो हमसे उसका चिन्तन किये ही नहीं बनता। आशय यह कि भारतीय विचारधारा में दर्शन और धर्म दो जुदा पृष्ठभूमियों पर एक लक्ष्य के राही नहीं बल्कि वे एक ही आधार पर एक ही सत्य की खोज में परस्पर सहयोगी बन आगे बढ़ते हैं। पश्चिमी विचारानुसार उन दोनों का लक्ष्य तो अतीन्द्रीय-सत्य को पहचानना है परन्तु आधार क्रमशः सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जुदा जुदा है। भारतीय चिन्तन इन दोनों के आधार रूप में बौद्धिकता और व्यावहारिकता (चिन्तन और साधना) को पृथक-पृथक नहीं मानता। यहाँ बर्ट्रेन्ड रसेल की मान्यता की तरह धर्म कोई विकल्पित खेल नहीं है कि दार्शनिक उसे खेले या न खेले यहाँ तो सत्य-सिद्धि के लिए दर्शन और धर्म दोनों सहयोगी वस्तुएँ हैं, जो मिलकर कार्य

पूर्ति का श्रेय प्राप्त करती है। यदि धर्म से दर्शन का उदय होता है तो दर्शन की सीमाओं का अन्त धर्म के प्रवेश का आरम्भ माना जाता है। सार रूप में स्थिति इस प्रकार रहती है—



अर्थात् दर्शन और धर्म दोनों का आदि और अन्त एक ही है। जिस जिज्ञासा के कारण दर्शन का उदय होता है वही धर्म की जन्मदात्री बनती है। भारतीय पद्धति के अनुसार हमारा बौद्धिक और मानसिक स्तर बराबर साथ-साथ चलता है। इसीलिए, यथा सिक्के के गुण-मूल्यांकन में दोनों पार्श्वों का सुघड़ होना अनिवार्य है वैसे ही सत्य (परम-सत्य) के मूल्यांकन में दर्शन और धर्म कन्धे से कन्धा मिलाकर चलते हैं—एक की अनुपस्थिति में दूसरा अधूरा रह जाता है। परन्तु यह सब वहीं तक सत्य है जहाँ तक दर्शन को केवल पराभौतिक चिन्तन (Metaphysics) के रूप में देखा जाय। इसके परे क्रमानुगत-तर्कशील-विचारधारा (Logical Process) दर्शन को अविकल्पित रूप से सत्य का बौद्धिक-अनुसरण तथा धर्म को सत्य प्राप्ति की वांछा में जीवन-यापन की विशेष प्रविधि मात्र बना देती है। विश्व के अनेक धर्म (मुस्लिम सिक्ख आदि) उक्त तर्कशील विचारधारा से अछूते रहे हैं। इसीलिए यद्यपि उन्होंने पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार किसी धाराप्रवाहिक विचार प्रणाली को जन्म नहीं दिया तो भी पराभौतिक-सत्यों का साधना-युक्त बौद्धिक-विवेचन करने से वे प्रसिद्ध धर्मों की श्रेणी में रखे गए। सिक्ख-धर्म की कोई निजी विचार प्रणाली स्वीकार नहीं की जाती। धर्म प्रवर्तक गुरु नानक शब्द के सीमित अर्थ में दार्शनिक न होकर अनुभवी साधक थे। उन्होंने पराभौतिक-सत्यों का चिन्तन साधना के माध्यम से किया। इसकी पृष्ठ भूमि में विश्वास और प्रेम तो था ही साथ में आस्तिकता का समावेश हो जाने से जीवन की नैतिकता पराकाष्ठा तक पहुँच गई। अब अतीन्द्रीय-सत्य की प्राप्ति का आभास बौद्धिक-विवेचन का विषय बना जिससे दर्शन से दूर हट कर भी धर्म दर्शन का साथ न छोड़ सका।

२ धर्म-दर्शन (Philosophy of Religion)—समस्या का उदय

मानव-जीवन अनेक प्रकार की समस्याओं और उलझनों से संघर्ष करता हुआ प्रतिपद अग्रसर हो रहा है। मार्ग में उसे ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से भौतिक अनुभूतियों की प्राप्ति होती है। आन्तरिक संवेदनाएँ उसकी मानसिक-अनुभूतियों का आधार बनती हैं। यहाँ विवेक की सहायता से मनुष्य अच्छाई और बुराई का विश्लेषण करता हुआ

सात्विक-अनुभूतियों का अधिकारी भी बनाता है। जीवन की नैतिकता इसी पर आश्रित है। ये तीनों स्थितियाँ जीवन के भौतिक या/और नैतिक निर्वाह का कार्य-क्षेत्र हैं जिससे मनुष्य को बाहरी-अनुभव का स्थायी कोष मिल जाता है। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी मनुष्य को आत्म-तुष्टि नहीं होती। उसके अन्तर में एक जन्म-जात प्रवृत्ति पराभौतिक-क्षेत्र की किसी सच्चाई के प्रति उसे सदैव प्रेरित करती रहती है। उक्त सच्चाई के परिचय-प्राप्ति की सद्भावना इतनी तीव्र होती है कि उसका कुछ भी ज्ञान न होने पर भी मनुष्य उसके प्रति विश्वास नहीं खोता। इसी से धार्मिक चेतना का जन्म होता है। साधना रूप में चौथी प्रकार की (पहली तीन—भौतिक मानसिक और सात्विक अनुभूतियाँ) आध्यात्मिक-अनुभूति की उपलब्धि के लिए उपक्रम जुटाए जाते हैं। स्पष्ट ही यहाँ धर्म मानव-जीवन और विकास का मुख्य तत्त्व दीख पड़ता है। बौद्धिक-क्षेत्र में इसी तत्त्व की विवेचना या उसकी सार्थकता-सिद्धि की अपेक्षा ही धर्म-दर्शन की समस्या को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में मानवीय-अनुभवों के अन्तर्गत धर्म के सार्वलौकिक स्वरूप का विवेचन प्रतिपादन ही धर्म-दर्शन का मुख्य विषय है।

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो धार्मिक-चेतना की पृष्ठभूमि में भय और स्वीकृति की वृत्तियों का विवर्धन होता है। 'कुछ और की इच्छा' भी इसमें सहायक है। विचार अनुभूति एवं इच्छा वास्तव में ये तीनों मनोवैज्ञानिक तत्त्व मनुष्य में धर्म-प्रवृत्ति की नींव हैं। जब मनुष्य अतीन्द्रीय-सत्य के प्रति सोच-विचार करता है उसकी अनुभूति के लिए साधना का दामन थामता है और उस तक पहुँचने की उत्कट इच्छा को धारण करता है तो स्वाभावतः ही धर्म का जन्म होता है। इसी का तात्त्विक-विवेचना धर्म-दर्शन का क्षेत्र है। लेकिन ध्यान रहे कि धर्म भावना को दुर्बल और अन्धत्व भावुकता का पर्यायवाची न समझ लिया जाए। धर्म-भावना इससे बहुत ऊँची स्थिति है। उसके लिए इच्छा की सबलता अनिवार्य है। प्रस्तुत धार्मिक क्रम में तर्क और चिन्तन का अपना स्थान है। धार्मिक ज्ञान-रूप की उपलब्धि इसीसे होती है। अन्यथा धर्म मूढ़ विश्वास के अतिरिक्त कुछ न रह जाएगा।

१ धर्म-दर्शन का कार्य-क्षेत्र

धार्मिक-चेतना मूलतः आध्यात्मिक प्रेरणा ही है। धारणा का शक्तिशाली आधार स्वयं मन या आत्मा है। प्रायः हम लोग केवल भगवान् को जान लेने को ही आतुर नहीं होते बल्कि उसका अनुभव करते हैं और उससे मिलना चाहते हैं। अतः धर्म-दर्शन को मनोवैज्ञानिक आधार पर हमारी उपर्युक्त धार्मिक-जागृति का विवेचन करना होता है। धर्माधारित मनुष्य किसी व्यक्तिगत प्राप्ति तक ही सीमित नहीं होता। वह प्रायः एक अलौकिक विश्वास की ओर बढ़ता है और इस भौतिक-जगत से परे के महनीय-विश्व की कल्पना करने लगता है। वह अपने से बाहर परमात्मन् को जानने

और उससे अपना सम्बन्ध जोड़ने का यत्न भी करता है। तब प्रश्न पैदा होता है क्या उसका यह कथन नीति-संगत है? क्या मानव-मन की प्रकृति और प्रशक्ति में यह सामर्थ्य है? अतः धर्म-दर्शन को धार्मिक-धारणाओं सम्बन्धी (Epistemological Discussion) शास्त्रीय-चर्चा भी अपनाना होगी। विशेषकर विश्वास के स्वरूप का परीक्षण मूल्यांकन और चिंतन के साथ उसके सम्बन्ध की विवेचना धर्म-दर्शन के मुख्य कार्य हैं।[1]

सामान्यतः धर्म के छः मुख्य अंग माने जाते हैं जिनमें विश्वास लाना अनिवार्य है (१) शब्द जो संत-महात्माओं द्वारा अनुभव किया गया और जन-साधारण को उसके प्रति प्रेरित करने के लिए भाषा-बद्ध करके धर्म-ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत किया गया। (२) परालौकिक-शक्ति का अस्तित्व। (३) उस शक्ति-द्वारा प्रकृति पर अनुशासन और कर्मानुसार दण्ड-पुरस्कार का आयोजन। (४) आत्मा का अस्तित्व। (५) साधना। (६) मुक्ति।[2] इन छः अंगों में से किसी भी एक के प्रति विश्वास का विचलित होना धर्म की डाँवाडोल स्थिति का कारण बन सकता है। धर्म-दर्शन इन में से प्रत्येक की प्रयोजन युक्त व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह सिद्ध करता है कि शब्द का निमित्त क्या है वह किन मंजिलों से होता हुआ धर्म-ग्रंथों के रूप में उपलब्ध हुआ है। परालौकिक-शक्ति क्या है? उसकी सत्ता की अनन्तता का अभिप्राय तथा उसका सविशेष और निर्विशेष रूप क्या है? विश्व-क्रम में कर्म का प्राथमिक रूप और उत्तरोत्तर उसके प्रभावानुसार मनुष्यों द्वारा दण्ड-पुरस्कार का भोग? इन सब प्रश्नों की विवेचना धर्म-दर्शन का विषय है। आत्मा का अस्तित्व भौतिक बन्धन छुटकारे के लिए साधना एवं स्वयं मुक्ति—सब धर्म-दर्शन के माध्यम से बौद्धिक-अनुशीलन का क्षेत्र है। अतः कहना न होगा कि धर्म की सम्पूर्ण परालौकिक-स्थिति जब अनुभूति के क्षेत्र से तर्क के क्षेत्र में अवतरित होती है तो वही विशिष्ट-दर्शन बन जाती है। इस प्रकार धर्म-दर्शन का क्षेत्र 'धर्म' से विस्तृत एवं 'दर्शन' से संकरा ठहरता है।

गुरु मानक विचारधारा में उपर्युक्त छहों अंगों का स्पष्ट स्वरूप उपलब्ध है। वाणी में प्रत्येक अंग पर पर्याप्त बलाव डाला गया है। सिख-धर्म का भव्य प्रासाद इसी नींव पर सुनिर्मित दीख पड़ता है। गुरुवाणी इन अंगों का व्याख्यात्मक या विश्लेषणात्मक चिंतन कहीं प्रस्तुत नहीं करती—केवल विश्वास रूप में इन्हें स्वीकार किया गया है। इसलिये कहा जा सकता है कि गुरुओं की अमूल्य वाणी सिख-धर्म है जीवन-यापन का एक सुढंग है सिख-दर्शन नहीं। हाँ यदि सिख-गुरुओं के इन विश्वासों और नियमों का विवेचन किया जाए, उनकी सार्थकता या निरर्थकता पर तर्क जुटाए जाएँ या बौद्धिक-

1 Philosophy of Religion by Prof. Galloway
2 A critical Examination of the Philosophy of Religion Vol. I by Sadhu Santinath

विश्लेषण प्रस्तुत हो (जो कि इस प्रबन्ध का मुख्य विषय है) तो वह स्वरूप सिक्खों का धर्म-दर्शन कहलाएगा।

४ गुरु नानक का दार्शनिक लक्ष्य[1] और उसकी सिद्धि

गुरु नानक के मतानुसार मानव-जीवन का महनीय प्रयोजन है अपने अन्तर की चिरज्योति को साक्षात् करना और उसके साथ एकमेव-भाव उत्पन्न कर उसी में लीन हो जाना। सीधे शब्दों में गुरु नानक का लक्ष्य आत्मा-परमात्मा के मिलन से कुछ भी कम नहीं। भारतीय-विचारधारा में इससे पूर्व कई प्रकार के लक्ष्यों और साधनों के संकेत उपलब्ध हैं। विश्लेषणात्मक-दृष्टिकोण से देखने पर उनमें से अधिकतर या केवल भौतिकवादी होने के कारण शारीरिक-स्वास्थ्य और सांसारिक-सम्पदा तक ही सीमित मिलते हैं। उन आदर्शों में आध्यात्मिकता का किंचित-स्पर्श भी सुझाई नहीं देता। वैदिक-काल में ऐसे सिद्धान्त भी प्रस्तुत हैं जिन्होंने सांसारिक-कष्टों से तंग आकर किसी अत्यंत रमणीक व सुखदायी स्थान की कल्पना करली है और उसकी प्राप्ति (स्वर्ग प्राप्ति) के लिए जप-तप-यज्ञादि का आश्रय लिया है। कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्ग में पहुँच जाना ही उनका विशेष प्रयोजन था। इसके विरुद्ध अविश्वासियों को डराने और उन्हें भी धर्म की ओर प्रेरित करने के लिए उन्होंने अनिष्ट-प्रद स्थान (नरक) की भी कल्पना कर रखी थी।

कुछ दूसरे चिर-सुखी होना ही अपना लक्ष्य मानते थे। उनका विश्वास था कि सुख वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। वह सत्, चित्, तथा आनन्द का रूप है। अतः उसके सही-रूप को पहचान लेने मात्र से ही सुख-प्राप्ति सम्भव है। योगी समाज ने तो दुःख का कारण प्रकृति को माना था और प्रकृति अथवा माया को प्रवृत्ति (संसार) का कारण। अतः वे लोग बाहर से अपने ध्यान को हटा लेने मात्र को ही अपना लक्ष्य समझ रहे थे। अन्तर्मुखी होने के लिए वे लोग योग-साधना में प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों को शिथिल कर मनको एकाग्र करते थे। उनका विश्वास था कि इस प्रकार समाधि में लीन होकर सत्ता के स्वरूप का आनन्द लिया जा सकता है। महात्मा-बुद्ध ने संसार के दुःखों पर विजय पाना ही महत्-आस्था स्वीकार किया था और उसके लिये निवृत्ति तथा शुद्ध-जीवन-यापन (अष्टमार्ग) का उपदेश दिया था। सद्गुणों की वृद्धि उनका आधार बनाया गया था। वेदान्तियों ने अज्ञान को ही कष्ट का सबसे बड़ा कारण माना था। माया से ऊपर सत्य-ज्ञान की प्राप्ति और

---

१ ऊपर 'धर्म-दर्शन' में यह बताया जा चुका है कि गुरु नानक दार्शनिक न होकर अनुभवी साधक थे। यह भी सिद्ध किया गया है कि भारतीय विचारधारा में आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता एक ही मूल की दो शाखाएँ रही हैं और उन पर एक ही जैसे फल लगते रहे हैं। इसलिये गुरु नानक के आध्यात्मिक-लक्ष्य को ही उनका दार्शनिक-लक्ष्य स्वीकार करने में कोई अत्युक्ति न होगी।

उसके माध्यम से ईश्वरैक्य उनका लक्ष्य था। इस प्रकार गुरु नानक से पूर्व अनेक धार्मिक-सिद्धान्त अपने-अपने आदर्शों की ओर संकेत करते हुए दर्शन का विषय बने। सबमें अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं और कमियाँ भी। गुरु नानक का लक्ष्य सबसे अमर और सर्वतोपूर्ण कहा जा सकता है। स्पष्टता के लिए हम उपरिसांकेतित आदर्शों का विश्लेषण करते हुए गुरु नानक के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करेंगे।

आध्यात्मिकता के प्रस्तुत विषय का विवेचन करते हुए भौतिकवाद से उसका कुछ भी तुलनात्मक अन्तर दिखाने का प्रयत्न करना व्यर्थ में समय का अपव्यय होगा। अतः पदार्थ-जगत के इस अनावश्यक विश्लेषण को यों ही छोड़ हम सीधे कर्म काण्ड द्वारा स्वर्ग प्राप्ति के स्वप्नों के आदर्श की ओर बढ़ते हैं। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। परन्तु आध्यात्मिक-क्षेत्र में जब मनुष्य जप-तप यज्ञ बलिदान आदि कर्म करने लगता है और उसे कुछ सिद्धि का आभास होता है तो उसके अन्तर की पूर्व स्थित अभिमान-वृत्ति सजग हो उठती है। धीरे-धीरे उसमें अभिमान (हउमैं) बढ़ने लगता है और प्रायः साधक अपने वास्तविक मार्ग से विचलित हो बन्धन-मुक्त होने की अपेक्षा अधिक बन्धनों में फँस जाता है। जिस प्रकार एक साफ वस्तु को धोकर यदि मैले कपड़े से पोंछा जाए तो वह पुनः मैली हो जाती है वैसे ही हउमैं की मैल के रहते हुए सच्चाई की ओर किए गए कर्म भी मैले हो जाते हैं। फल यह होता है कि स्वर्ग-प्राप्ति की आशा क्षीण होती जाती है और विश्व-बंधन सुदृढ़ होने से आवागमन का चक्र अखण्डित गति से चलता रहता है। अतः सिद्ध है कि वैदिक-काल का उक्त आदर्श जिसमें स्पष्ट ही कहीं न कहीं भौतिक-इच्छा छिपी रहती है अपने में सम्पूर्ण नहीं। साधन भी आडम्बर-युक्त अधिक हैं साधना-युक्त कम। गुरु साहिब कर्म के विरुद्ध नहीं लेकिन वे जीव को ऐसे कर्म की ओर प्रवृत्त देखना चाहते हैं जो हउमैं की दीवार को तोड़ सके। जप-तपादि से तो कभी-कभी अभिमान बढ़ने लगता है जैसा कि पौराणिक ऋषियों-मुनियों की गाथाओं से प्रकट है। गुरु साहिब ने भी लिखा है —

> जापु तापु गिआन सभ धिआन। खट सासत्र सिम्रिति बखिआन।
> जोग अभिआस करम धरम किरिआ, सगल तिआगि बन मधे फिरिआ।
> × × ×
> नहीं तुलि राम नाम बीचार। नानक गुरमुखि नाम जपीऐ इक बार।
>
> १ १ गउड़ी सुखमनी म० ५ पृष्ठ २६५।

हउमैं तोड़क कर्म 'रहित-कर्म' कहलाते हैं। इनके द्वारा मनुष्य की अन्तरात्मा को विवेक-मार्ग पर लगाया जाता है। भाई साहिब जोधसिंह जी का विश्वास है कि ये कर्म मनुष्य की अपनी बुद्धि की उपज नहीं होते बल्कि वे गुरु-शब्दों और उपदेशों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हैं। इनकी कमाई गुरु के हुकम में चलते हुए की

जाती है। ये वर्जित नहीं। इनसे सुख की उपलब्धि होती है। ऐसे कर्म बन्धन का कारण भी नहीं बनते क्योंकि इनमें मनुष्य की निजी भौतिक-इच्छा कुछ नहीं होती। गीता में श्रीकृष्ण ने जिसे निष्काम-कर्म कहा है उसी के पर्याय हैं ये। आगे चलकर इनसे कुछ सहज-कर्म उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य को स्वभावतः सत्क्रियाओं की ओर लगाते हैं। अस्तु यदि जीव गुरु-आज्ञा में चलता हुआ ऐसे कर्मों का आश्रय ले तो वह प्रभावहीन कर्मकाण्ड तथा हुउमै के बन्धनों से पूरी तरह बच सकेगा और पृथ्वी पर ही स्वर्ग-सरीखे कल्पित सुख का भोग करता हुआ पूर्णता के लक्ष्य को समझे और अपनाएगा। यही उसको कर्मानुसार विजय होगी।

जो विचारक आत्मा को सत् चित् तथा आनन्द रूप मानकर उसकी वास्तविक पहचान को ही जीवन-लक्ष्य मानते थे वे भी गुरुमत में अधूरे-लक्ष्यी ही कहे जायेंगे। निस्सन्देह निजत्व की पहचान अनिवार्य है इसके बिना जीव अपनी सार्थकता को ही समझ नहीं पाता लक्ष्य-सिद्ध की ओर क्योंकर अग्रसर होगा? परन्तु सिख विचार धारा लक्ष्य को इतना सीमित एवं निकट नहीं देखती। गुरु नानक आत्म ज्ञान को आवश्यक मानते हैं परन्तु यह उनकी लक्ष्य-सिद्धि नहीं। उनका विश्वास है, अपने को पहचानने के बाद निरंकार की पहचान करना वास्तव में परम-पद की प्राप्ति का आधार बन सकता है। प्रश्न उठता है निरंकार का ज्ञान क्या है? इस पर भाई जोध सिंह जी उत्तर देते हुए लिखते हैं[1]— 'निरंकार की न तो कोई शक्ल है और न ही उसका अस्तित्व विचार का विषय बन सकता है। उसके अस्तित्व में निश्चित विश्वास लाना तथा अन्तरात्मा में सर्वव उसका अनुभव करना ही वास्तव में उसका ज्ञान है।

> जाके रिदै बिस्वासु प्रभु आइआ। ततु गिआनु तिसु मनि प्रगटाइआ।
>
> २ १७ गउड़ी सुखमनी म० ५, पृ २८५।

तथा इस ज्ञान की प्राप्ति का तरीका नाम है—

> नाम संग जिसका मनु मानिआ। नानक तिनहि निरंजन जानिआ।
>
> ३ १४ गउड़ी सुखमनी म० ५, पृ २८१।

इसलिये निजत्व की पहचान के बाद नाम में मन रमाना वास्तविक लक्ष्य सिद्धि का साधन बन सकेगा—

> आपि पछाणै रहै लिव लागा। जनमु जीति गुरमति दुखु भागा।
>
> ६ ४ बसंत अष्टपदीआ म० १ पृ० ११८६।

योगी लोग बाहरी प्रवृत्ति (माया एवं प्रकृति) को ही दुःख का कारण मानते

---

१ गुरु मत निर्णय पृ० ६०।

है इसलिए वे अपने ध्यान को ऊपर से हटा लेने मात्र को अपना लक्ष्य समझते हैं। उनके लिए माया संसार का कारण है। अतः तर्क स्पष्ट ही यह कहेगा कि कारण (माया) से छुटकारा पाने की इच्छा रखने वाले को कार्य (संसार) से भी छुटकारा पाना आवश्यक हो जाएगा। दूसरे-लोग हठयोग एवं प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों का निरोध कर अन्तर्मुख होने का जो प्रयत्न करते हैं वह भी कर्म-काण्डियों की भाँति फलोत्पादक नहीं होता। कारण स्पष्ट है—इन क्रियाओं से अन्तर का मैल साफ नहीं होता। गुरु साहिब ने लिखा भी है—

> बाहरु धोवै अंतरु मनु मैला दोइ ठउर अपुने खोये।
> ईहा कामि क्रोधि मोहि विआपिआ आगै मुसि-मुसि रोये।
>
> १ ३ ४२, आसा म० ५, पृ ३८१।

योगियों का यह विश्वास कि समाधि में लीन होकर सत्ता के स्वरूप का आनन्द लिया जा सकता है बहुत दूर तक ठीक है। परन्तु गुरुमत प्रस्तुत समाधि के लिए इन्द्रिय-निरोध की कोई आवश्यकता नहीं मानता बल्कि प्रेम और श्रद्धा का आश्रय से गृहस्थ के सुखों के साथ-साथ परम-पद की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। गुरु नानक जोगी और सिद्धों के इस प्रकार के निवृत्ति-मार्ग के विरुद्ध रहे हैं। परम-पद की प्राप्ति के लिए घर-बार का कार्य-व्यापार करते हुए गुरु की शिक्षा को दृढ़ करो और सांसारिक कष्टों पर विजय पाओ। 'गुरुमत-निर्णय' में प्रसंग से सम्बन्धित 'सिद्ध गोष्ठी' से एक उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। सिद्ध प्रश्न करते हैं—

> दुनिआ सागरु दुतरु कहीऐ किउ करि पाईऐ पारो।
> चरपटु बोलै अउधू नानक देहु सचा बीचारो।
>
> ४ रामकली सिध गोसटी म० १ पृ० ९३८।

इस पर गुरु नानक उत्तर देते हैं—

> जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणे।
> सुरति सबदि भव सागरु तरीऐ नानक नामु वखाणे।
> रहहि इकांति एको मनि वसिआ आसा माहि निरासो।
> अगमु अगोचरु देखि दिखाए नानकु ताका दासो।
>
> ५ रामकली सिध गोसटी पृ० ९३८।

अतः गुरु नानक के मतानुसार यदि जीव भिक्षु बन जंगलों में भटकने अथवा योगी बन इन्द्रिय-निरोध करने की अपेक्षा गृहस्थ में रहते हुए जीवन में सत्य-संयम की वृद्धि करे, गुरु के उपदेशों को व्यवहार में लाए और चित्त को एकाग्र कर नाम-जाप करे तो वह परम पद को पा सकता है। घर-परिवार त्यागने के बजाय,

काम क्रोध बुराइयाँ लम्पटता आदि छोड़कर सतगुरु की शरण ग्रहणी चाहिए—
ी में लक्ष्य सिद्धि है।[1]

माया को संसार का कारण मानने वालों में वेदान्तियों का नाम भी ग्राह्य है।
सत्य ज्ञान को लक्ष्य बना माया की उपेक्षा कर इस झूठे संसार से भागते हैं। उनका
लक्ष्य संसारेतर है संसार-सम्बन्धित नहीं। विश्व उनके लिए बिल्कुल महत्त्वहीन
तु हो जाता है परन्तु गुरु नानक इसे यथातथ्य स्वीकार नहीं करते। वे संसार को
या का खेल तो मानते हैं परन्तु खेल से कतराने की अपेक्षा वे उसमें रुचि रखते
। उनके मतानुसार संसार के मायावी-खेलों के पीछे निरंकार ब्रह्म का हुक्म कार्य
ता है अत वे उपेक्षणीय कदापि नहीं। भाई जोधसिंह जी लिखते हैं 'वे कुदरत
कसौटी जानकर इससे भागते नहीं। वे कुदरत में कादर का जलवा देखकर प्रसन्न
ते हैं—'बलिहारी कुदरति वसिआ'—(१ १२ श्लोक म० १ आसादीवार,) वे
ससे प्यार करते हैं। इसीलिए गुरु साहिब ने गृहस्थ या कार-व्यवहार का त्याग नहीं
ाया बल्कि घर में रहकर नाम-जाप और सच कमाने से परम-पद की प्राप्ति
ाई है।[2] प्रस्तुत पथ पर चलना कर्म जीव सांसारिक सम्पदा को अमानत समझते
और हुक्म में विचरते हैं यही उनका त्याग है।[3]

हमने देखा कि भिन्न साम्प्रदायिक विचारकों ने समय-समय पर अनेक प्रकार
जीवन-लक्ष्यों की कल्पनाएँ की और उनकी सिद्धि के मार्ग सुझाए। परन्तु सिख
विचारधारा उन्हें आंशिक रूप में स्वीकार करती है भी किसी एक से पूर्णत सहमत नहीं
पाई। कारण है सिख-धर्म की सहज-वृत्ति तथा उच्चतम लक्ष्य। आरम्भ में जिस
क्ष्य का संकेत किया गया है यह आदर्श सिख-धर्म की नवीनता न होकर भारतीय
विचार-सरणी की पुरानी महक है। परन्तु फिर भी उसके प्रस्तुतीकरण का रूप गुरु
नानक की साधना और निजी अनुभव की वस्तु बन चुका है। नानक का यह आध्या
त्म-लक्ष्य दो भागों में बँटा हुआ है—(१) आत्मोपलब्धि (२) वाहिगुरु में लीनता।
क्ष्य की वास्तविक सिद्धि लीनता में ही विद्यमान है आत्मोपलब्धि तो लीनता की ओर
अग्रसर होने का प्रथम सोपान है। अतः आदर्श की खोज करने वाले सब जिज्ञासुओं को सीधे
अपरिचित निरंकार का पीछा करने के लिए प्रेरित नहीं किया जाता न ही स्वर्ग और
नरक का लोभ या भय दिखाया जाता है। गुरमत निराकार तक पहुँचने से पहले

---

१ छोडहु काम क्रोधु बुरिआई। हउमै धंधु छोडहु लंपटाई ॥
सतिगुर सरणि परहु ता उबरहु इउ तरीऐ भवजल भाई हे ॥
८ ९, मारू सोलहे पृ० १०२६।

२ गुरमत निर्णय पृ० ६१ ६२।

३ साचि सिमरिऐ होवै परगासु। ताते बिखिआ महि रहै उदासु ॥
सतिगुर की ऐसी वडिआई। पुत्र कलत्र विचे गति पाई।
२ २ ४, धनासरी म० १ पृ० ६६१।

उसकी वास्तविक-सत्ता आत्मा से परिचय करवाता है। प्रस्तुत परिचय जीव द्वारा निरंकार को पहचानने में सहायक होता है। जिस प्रकार बड़ी परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए उससे पूर्व की छोटी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना अनिवार्य है वैसे ही ब्रह्म मिलन से पूर्व आत्मोपलब्धि आवश्यक है। सिद्धि हेतु गुरु नानक कर्म ज्ञान साधना आदि किसी एक साधन को यन्त्रवत् अपनाने के समर्थक नहीं। उनके मतानुसार-मनुष्य के अन्तर से जब तक अहं का भाव नष्ट नहीं हो जाता तब तक उसे किसी भी साधन को अपनाने से सफलता नहीं मिल सकती। कर्म मनुष्य का स्वभाव है और उसकी रचना हुई है मन के आश्रय। अतः जब तक मनोमारण से स्वभाव न बदले तब तक वह उचित कर्म अपना ही नहीं सकता। ज्ञान बढ़ा लेने से तो मन के आश्रय वह और भी बहुत पापों में प्रवृत्त होगा। इसलिए गुरु नानक पथ पर अग्रसर होने के लिए जीव को सबसे पहले मन मारना या हउमै का नाश करना होगा। वास्तव में हउमै माया के प्रभाव का दूसरा नाम है और निश्चय ही अपने को पहचानने के लिए सर्वप्रथम माया के आवरण को हटाना होगा। सच तो यह है कि निरंजन को पहचानने से पूर्व हमें जो भी पहचानना है वह उसी का प्रकाशित रूप है। है भी वह हमारे ही अन्दर[1] परन्तु हउमै ने इस पर पर्दा डाल रखा है।[2] मन व्यक्तित्व विचार से एकरूप हुआ है अतः इस विचार (अहंभाव) को त्याग देने से मन संयत हो जाता है। गुरु नानक हउमै के नाश या मन को संयत करने का एक रामबाण इलाज पेश करते हैं—गुरु के हुक्म में चलना।

बिनु गुर सबदै मनु नही ठउरा। सिमरहु राम नामु अति निरमलु।
अवर तिआगहु हउमै कउरा।

१ रहाउ १ व आसा म० १ पृ० ४१२।

भाई साहिब जोधसिंह लिखते हैं कि हउमै के नाश के लिए गुरु के हुक्म में चलना और निरंकार के गुण-गाना ही मुख्य साधन है। इस पर हउमै का पर्दा दूर हो जाता है और अन्तर के प्रकाश को देख जीव अपनी वास्तविकता को पहचान लेता है। उसे ज्ञान होता है कि वह क्या है।

पहली मंजिल तै करने पर अब दूसरी मंजिल का सफर आरम्भ होता है। हउमै के त्याग के बाद की साधना संयत हुए मन को 'नाम'[3] की ओर प्रेरित करता है। गुरु शब्दों के आश्रय जीव का मन संयत होता और अवगुणों की ओर से हटता है। ऐसे निर्मल-मन से यदि जीव वाहिगुरु का गुणगान करे, उसका स्मरण करे,

---

१ जै कारणि तटि तीरथ जाही। रतन पदारथ घट ही माही।

१ ४ गउड़ी म० पृ० १५२।

२ घर ही माहि दूजै भाइ अनेरा। चानणु होवै छोडै हउमै मेरा।
परगटु सबदु है सुखदाता। अनदिनु नाम धिआइदिआ।

५ २७ २८ माझ म० ३ पृ० १२६।

३ 'नाम' के स्वरूप और महत्त्व के लिए आगामी अध्याय देखिए।

तो चित्त जमता है और नाम की अमूल्य-सम्पदा उसके करतल होती है । स्पष्ट ही जब 'नाम' में मन लगेगा तो फल होगा 'नामी' से अभेद । यही परमपद है । यही सच्चा लक्ष्य है ।

मित का चितु अनूपु मरमु न जानीऐ ।
गाहक गुनी अपार सु ततु पछानीऐ ।
चितहि चितु समाइ त होवै रंगु घना ।
हरिहां चंचल चोरहि मारि त पावहि सचु धना ।
१२, फुनहे म० ५ पृ० १३६२ ।

इस अवस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति माया-राज्य (अकाल-पुरुष के हुक्म से विश्व का सम्पूर्ण प्रसार माया के नियन्त्रण में है) की सीमाओं से ऊँचा उठ जाता है । उसके जन्म-मरण पतन या मनमुखी बनने की समस्याएँ नष्ट हो जाती हैं और वह युगों तक वियोग दुःख भोगने के पश्चात् पुनः सत्पुरुष की गोद में विश्राम पाता है । आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है । यही गुरु नानक विचारधारा की लक्ष्य-सिद्धि है ।

५ लक्ष्य सिद्धि के फुटकर साधन विश्वास और प्रेम

गुरु नानक दृष्टिकोण से आत्मा परमात्मा के मिलन के महान लक्ष्य को पाने के लिये (१) हउमै का नाश (२) गुरु के हुकम में चलना (३) निरंकार के गुण गाना तथा (४) नाम में लिव लगाना आदि साधना का वर्णन पीछे किया जा चुका है । इनके साथ कुछ फुटकर भावों को अपनाना तथा उन्हें उप-साधनों के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य-सा दिखता है । सर्वप्रथम अपनी साधना तथा गुरु के सामर्थ्य में अटल विश्वास बनाने की आवश्यकता पड़ती है । इसमें वे भाव के लिए, विश्वास की सहायता से नम्रता मानव-प्रेम और गुरु-आज्ञा-पालन सरीखे सद्गुणों[1] का उदय होता है । अतः जब तक जीव में विश्वास की वृत्ति अगाध न बने तब तक वह आध्यात्मिकता की प्रथम सीढ़ी पर कदम रखने के योग्य भी नहीं माना जा सकता । गुरु नानक अपनी वाणी में विश्वास को पर्याप्त उच्च स्थान देते हैं—

---

१ नम्रता—मैं गोलहु गोला गोल्हगी (दासों का दास) हम छोरू थारे (तेरे बच्चे) जिउ तूं राखहि तिउ रहा मुखि नामु हमारे ।
१ १६ आसा म० १ पृ० ४२१ ।

२ मानव प्रेम—जो रते सहि आपणे तिन भावै सभु कोई । वडहंस म १ ।

३ गुरु-आज्ञा-पालन—नानक करमु होवै जपीऐ करि गुरु पीरु ।
सचु समावै एहु सरीरु ।४ ४ मलार, म० १ पृ० १२५७ ।
या
पगु भूला भरि आवै जाइ । बिनु गुर सबद न सोझी पाइ ।
६ रामकली अष्टपदी म० १ पृ० ६०४ ।

तू ठाकुर तू साहिबो तू है मेरा मीरा। तुधु भावै तेरी बन्दगी तू गुणी गहीरा।
आपे हरि इक रंगु है आपे बहुरंगी। जो तिस भावै नानका सोई गल चंगी।
२१ २२ २ तिलंग म० १ पृ० ७२६।

सच पूछो तो गुरु नानक की सम्पूर्ण विचारधारा ही विश्वास की नींव पर स्थित है। आरम्भ में इसके लिये हम 'हुकम की फिलासफी' का शब्द प्रयोग कर चुके हैं। 'तेरा भाणा मीठा लागे' जो तुध भावे साई भली कार' आदि उक्तियाँ सिद्ध करती हैं कि सिक्ख-धर्म में परम-सत्ता में विश्वास रखने को अपरिमित मान्यता दी गई है। यह मान्यता किसी भी 'धर्म की आधार भित्ति हो सकती है। इससे जिन पूर्व आंकेतित सद्गुणों की उत्पत्ति होती है, उनका अभ्यास प्रायः श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है। श्रद्धा विश्वास की पराकाष्ठा को कहा जाता है जिसमें उच्चकोटि का प्रेम समर्पणयुक्त भक्ति एवं अहं के निपट अभाव का समावेश रहता है। गुरु नानक शब्दावली में यही धारणा 'हुकम मानना कहलाती है। सदम प्राप्ति के पेड़ का बीज यही है

सिक्ख-धर्म प्रकृति-प्रधान धर्म है। इसमें विश्वास की नींव पर सहज-भाव से सद्गुणों का प्रासाद खड़ा किया गया है। सतिगुरु में विश्वास सत्कर्म तथा बाद में प्रेमपूर्वक नाम-स्मरण ही इसमें सर्वोत्तम का आधार माना है। लिखा भी है—

नानक सतिगुरु भेटिऐ पूरी होवै जुगति।
हसंदिआ, खेलंदिआ, पैनंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुकति।
२ १६, वार गूजरी म० ५।

कहीं निवृत्ति गृह-त्याग अथवा तट-तीर्थ का उपदेश नहीं दिया गया। संसार की विचित्रता दुःख सुख की होड़ तथा प्रकृति के अनुशासन का अनुभव कर सबसे ऊपर जिस परम-सत्ता की कल्पना प्रस्तुत धर्म में की गई, उसी का सबका 'निरभौ निरवैर सूत्रधार मानकर, उसकी इच्छा के सम्मुख नत मस्तक होना श्रेयस्कर समझा गया। विश्व की क्षुद्र और महान घटनाओं का उसकी इच्छा का परिणाम जानकर और उसके बड़े नियन्त्रण में हस्तक्षेप करने में अपने को असमर्थ देखकर उसके हुकम में विचरण करने की धारणा सजग हुई होगी। यही कारण है कि गुरु नानक ने केवल हुकम का अस्तित्व ही नहीं स्वीकारा बल्कि उसकी महिमा के स्वरूप को सहज-वृत्ति से देखने के लिए विश्व प्रकृति की प्रत्येक वस्तु को उसके हुकम के अन्तर्गत मानकर[1] उसी में उसका जलवा देखने लगे। यही विश्वास की परम-सीमा

१ सो अंतरि सो बाहरि अनन्त। घटि घटि बिआपि रहिआ भगवन्त।
धरिण माहि आकास पइआल। सरब लोक पूरन प्रतिपाल।
बनि तिनि परबति है पारब्रहमु। जैसी आगिआ तैसा करमु।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

है। इसी से जीव को ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध होता है गुरु अर्जुन लिखते हैं—

जाके रिदै बिस्वासु प्रभु आइआ।
ततु गिआनु तिसु मनि प्रगटाइआ।
२ १७ गउड़ी सुखमनी म० ५ पृ० २८५।

गुरु नानक ने भी कहा है—

हुकम रजाई जो चलै सो पवै खजानै।
खोटे ठवर न पाइनी रले जूठानै।
४ २०, आसा अष्टपदीआ पृ० ४२१।

गुरु नानक की शिक्षा मुख्यतः परम-सत्ता की इच्छा (हुकम) में विश्वास बढ़ाने पर केन्द्रित है। उनके मत में प्रत्येक घटना हुकम के मुताबिक घटती है। वे कहते हैं "यह संसार मिथ्या नहीं यह तो परम-सत्य का निवास-स्थान है। इसमें जो भी होता है, वह उसी के हुकम से होता है। किसी को वह विकास देता है तो किसी को विनाश। किसी को दया कर मुक्ति दान देता है तो किसी को माया-फन्द में स्वयं ही फँसाता है। किसी को पास आता है, किसी के विरुद्ध जाता है। सच तो यह है कि उसकी सीमाओं का पूर्णतः समझ सकने की सामर्थ्य किसी ऐसे गुरमुख में ही हो सकती है जिसे वह स्वयं ज्ञान का प्रकाश-दान दे।[1] इसलिए उसके परम-पद की स्वीकृति में हमें विश्वास कर लेना पड़ता है कि "उसने सब जीवों के जीवन का लेखा पहले से बना रखा है लेखेन-विहीन कोई जीव नहीं। केवल वह स्वयं जीवन-लेखे की सीमाओं से बाहर है और अपनी कुदरत से विश्व का निर्माण करता तथा हुकम से संचालन करता है।"[2] विश्वास से विचलित होने वाले का जीवन-पोत किसी भी पतन की चट्टान से टकरा कर टूट सकता है। सत्य-सिद्धि के स्वप्न भंग हो सकते

(शेष पिछले पृष्ठ का)
पउण पाणी बैसंतर माहि। चारि कुंट दह दिसे समाहि।
तिसते भिनु नही को ठाउ। गुर प्रसादि नानक सुखु पाउ।
२ २१ गउड़ी सुखमनी म० ५।

१ इहु जगु सचै की है कोठड़ी सचे का विचि वासु।
इकन्हा हुकमि समाइ लए इकन्हा हुकमे करे विणासु। १।
इकन्हा भाणै कढि लए, इकन्हा माइआ विचि निवासु।
एव भि आखि न जापई जि किसै आणे रासि। २।
नानक गुरमुखि जाणीऐ जा कउ आपि करे परगासु। ३।
पउड़ी आसा म० १ पृ० ४६३।

२ सरब जीआ सिरि लेखु धुराहू बिनु लेखै नही कोई जीउ।
आपि अलेखु कुदरति करि देखै हुकमि चलाए सोई जीउ।
१ ११ मारू म० १, पृ० ११८ ६६।

है। क्योंकि संसार तो—

> बहु बिधि हुकमु चलै प्रभु तेरा बहु बिधि नाम पसारै।
> सभ महि सबदु वरतै प्रभ साचा करमि मिलै बैआलै ॥८॥१॥
> जो किछु कीनो सु प्रभु रजाइ। जो धुरि लिखिआ सु मेटणा न जाइ।
> हुकमे बाधा कार कमाइ। एक सबदि राचै सचि समाइ।
>
> ७ १, मलार अष्टपदी म० १ पृ० १२७५।

इसीलिए गुरु नानक पुकार-पुकार कर मन को सुनाते हैं कि विश्वास न खोना। हमारा आवागमन सुख दुख या उत्थान-पतन उसकी इच्छा पर निर्भर है। विश्वास पूर्वक उसका हुक्म मान लेना ही श्रेय है। लिखते हैं—

> मनु, हरि के भाणै आवै जाइ। सभ महि एको किछु कहणु न जाइ।
> सभु हुकमो वरतै हुकमि समाइ। दूख सूख सभ तिसु रजाइ।
>
> ७ २, बसंत अष्टपदी म १ पृ० ११८८।

अभिप्राय यह कि विश्वास की अनुपस्थिति में प्रभु-मिलन के प्रथम सोपान हउमै के अन्त की सम्भावना ही नहीं रह जाती। सत्य कोसों दूर होता है। जीव हउमै के कारण बाहरी माया में भटकता हुआ निरंकार की जानकारी तो दूर की बात है अपने को भी पहचानने का सामर्थ्य नहीं पाता। विश्वास का विकसित रूप प्रेम द्वारा उद्दीप्त हो श्रद्धा का नाम धारण करता है। श्रद्धा नाम और नामी की एकता की पृष्ठभूमि कही जा सकती है।

नानक के साधनिक-सत्य के दूसरे भाग—मिलन—की उपलब्धि का साधन नाम में लिव लगाना बताया गया है। इसका सहायक-साधन है प्रेम। सच तो यह है कि विश्वास और प्रेम दोनों मिलकर ही भक्ति (नाम में लिव या साधना) को जन्म देते हैं। पीछे विश्वास को हउमै (मिथ्याभिमान) के उन्मूलन का कारण बताया गया है और इस उन्मूलन की स्थिति से प्रेम का उदय तो सर्वमान्य है ही। गुरु नानक लिखते हैं—

> जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ।
> इतु मारगि पैरु धरीजै। सिरु दीजै काणि न कीजै।
>
> २० सलोक म० १ पृ० १४१२।

प्रेम का भाव उपजते ही नाम में अपने-आप लिव लगती है तीव्रता प्रत्यक्ष होती है। यहाँ स्मरण का प्रश्न अनावश्यक-सा ठहरता है स्पष्ट ही प्रेमी अपने प्रेम पात्र को याद नहीं करता क्योंकि वह उसे कभी भूलता ही नहीं।[1] जीव सदा अपने प्यारे के नाम में लीन रहने लगता है धीरे धीरे उसीके रंग में रंग जाता है। अन्तत

---

१ अज्ञेय—शेखर एक जीवनी।

प्रेमी और प्रेम-पात्र में अभेद साक्षात् हो जाता है और बस यही चरम लक्ष्य है जीव का वांछित गन्तव्य । अस्तु, निश्चय ही प्रेम भी सिक्ख-साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है नींव की वह शिला है जिस पर प्रभु-मिलन का प्रासाद खड़ा किया जाता है। तभी तो गुरु नानक ईश्वर की सत्ता से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

अब तब अवर न मागउ हरि पहि नामि निरंजन दीजै पिआरि ।
नानक चात्रिक अमृत-जलु मागै हरि जसु दीजै किरपा धारि ।
८ २ गूजरी अष्टपदिया म०१ पृ० ५०४ ।

६ लक्ष्य-सिद्धि के अन्य-साधन और उनकी सम्भावना

भारत में लगभग सभी आस्तिक धर्मों व दर्शनों का लक्ष्य ईश्वर-मिलन ही रहा है। इसका मुख्य कारण है, यहाँ की संस्कृति में चौरासी-लाख योनि चक्र के प्रति विश्वास और मनुष्य-जन्म को मुक्ति का द्वार समझने में आस्था। गंतव्य के समान होने पर भी भिन्न परिस्थितियों और विचारधाराओं के अनुसार वहाँ तक पहुँचने के अनेक पथों की कल्पना की गई—(जिनमें से मुख्य-मुख्य की व्याख्या आगामी-अध्याय में की जाएगी)। एक मार्ग कई उपमार्गों में बटा हुआ था। उदाहरणत: भक्ति-मार्ग को ही भी जुदा दृष्टिकोणों से देखा जा रहा था। भक्ति तो सब करते थे परन्तु हर कोई अपने भाव को उत्तम मानता था। इस कारण अहं की आवृत्ति होती रहती थी। अत: पथ भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना थी। तत्कालीन भक्ति-पद्धति में अखण्ड-विश्वास तथा प्रेम की पराकाष्ठा के नियम तो उपलब्ध हैं परन्तु उस सबमें सब-सर्वस्व को एक-रूप देखने की विचार-साधना मध्यकाल से पूर्व कहीं दिखाई नहीं देती। यहाँ तक कि भक्ति के कुछेक क्षेत्रों में सीधे प्रभु से सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा देवताओं को मध्यस्थ बनाना उचित समझा जाता था। एक रूप भाव की अनुपस्थिति का यह भी एक कारण था क्योंकि भक्त-गण अपने इष्टदेव की प्रशंसा में दूसरों के इष्ट पर गाली प्रहार करना भी अनुचित न समझते थे। गुरु नानक भी भक्ति-मार्ग के ही अनुयायी थे परन्तु उनकी मध्यकालीन स्थिति प्राचीनता से बहुत ऊँची और वास्तविकता के महत् दृष्टिकोण को अपनाए थी। उसमें समर्पण के स्वरूप का प्रभाव स्पष्ट है। नाम में चित्त लगाने वाला हरि भक्त गुरु नानक मतानुसार, भौतिक घटनाओं को मायोपचित मानकर उनकी उपेक्षा नहीं करता बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में सर्वशक्तिमान (उसका इष्टदेव) के हुकम (आज्ञा) के शासन का मनोरम दृश्य देखता है। इसीलिए सब से प्यार करता है। हरि के बनाए सब जीवों को वह अपने कृपालु-इष्ट की महिमा का स्वरूप मानता और उनके साथ शुद्ध जीवन बिताने (प्रवृत्ति) में गौरव का अनुभव करता है। अस्तु, कहना न होगा कि प्राचीन कालीन भक्ति और मध्य-कालीन भावना में बहुत अन्तर था। दोनों समय के सांचे में ढली थीं। महत्त्व की दृष्टि से मध्यकालीन-भक्ति उत्तम थी।

साधना रूप में ज्ञान का विचारोदय सातवीं-आठवीं शताब्दी की देन है। इस का निजी महत्त्व है। तथ्य का ज्ञान ही मनुष्य में अनुराग के जागरण का कारण बन सकता है। विश्व में सत् और असत् का अन्तर जानना तथा असत् माया-बन्धनों से छुटकारा पाकर सत्-ब्रह्म में लीन होना सद्ज्ञान का क्षेत्र है। यों तो ज्ञान-मार्ग के बीज वैदिक-युग में ही उपलब्ध हैं परन्तु इसे सही और आकर्षक रूप वेदान्तियों द्वारा ही मिला। गुरु नानक समन्वयवादी होने के नाते ज्ञान को भी महत्त्व देते हैं और इसका स्रोत गुरु को स्वीकार करते हैं। गुरु-कृपा हो जाए तो मनुष्य को ज्ञान ज्योति उपलब्ध होती है जिससे वह सतपुरुष की खोज करता है। वे पठन पाठन कर्म-धर्म को ज्ञान-वृद्धि का कारण नहीं मानते बल्कि ईश्वरीय-इच्छा द्वारा गुरु-प्राप्ति और उसकी कृपा ज्ञानोदय के आधार-स्तम्भ माने गए हैं।

कर्म-मार्ग वैदिक-काल से चला आता एक प्रौढ़ साधन है जिसे श्रीकृष्ण ने भगवद्‌गीता में परिपक्वावस्था तक पहुँचाया है। वैदिक काल का कर्म-काण्ड शुभ और वस्तु (उत्थानमयी प्रवृत्ति) थी जब कि गीता का कर्म ऐसी प्रवृत्ति है, जो निवृत्ति का संदेश सुना रही है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचिन' का महा-वाक्य एक ही समय दोनों ओर—कर्म करना प्रवृत्ति परन्तु फल की आशा न रखना निवृत्ति—संकेत कर रहा है। उक्त 'कर्म' में जीव के भौतिक मानसिक सात्विक तथा आध्यात्मिक सब प्रकार के व्यवहार सन्निहित हैं। गुरु नानक विचारधारा इस से बहुत कुछ मेल खाती है। उनके दृष्टिकोण से जीव को प्रत्येक स्थिति में सतपुरुष के हुकम में रहकर कर्म करते रहना चाहिए। यहाँ कर्म-मसावन कर्तव्य का पर्याय है। अतः अपने कर्तव्य की पूर्ति को शिव-धर्म की धुरी है अत्यावश्यक मानी गई है। फल की कल्पना यहाँ भी वर्जित है। परम-साध्य प्रभु-मिलन है जिसकी सम्भावना जीव के कर्तव्य-पालन (हुकमे के अन्य तथा नाम में लिव लगाने) में निहित है। परन्तु क्योंकि जीव के लिए फलापेक्षा रखना उचित नहीं इसलिए कर्तव्य-पालन करते हुए भी अन्तिम-निर्णय गुरु-कृपा तथा प्रभु-इच्छा (हुकम) पर छोड़ा गया है। यही श्रद्धा गीता के निष्काम-कर्म की नींव है।

भक्ति ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त योग तथा प्रेम भाव के साधनों को भी भारतीय आध्यात्मिकता ने अपनाया है। जन-साधारण की भाषा में योग शारीरिक-तत्पीड़न द्वारा मनोमारण का दूसरा नाम है। परन्तु वैज्ञानिक-दृष्टिकोण से आत्मा के बाहरी प्रसारण को संयत और केन्द्रित कर जीव द्वारा निजी-स्वरूप को पहचानना ही योग है। यह सब अन्तर्मुखी होने और नाम का जाप करने से भी सम्भव है परन्तु भारत के यौगिक सम्प्रदायों (नाथ सिद्ध तान्त्रिक आदि) ने उक्त रूप अपनाने की अपेक्षा निवृत्ति का आश्रय लिया। मन को संयमित करने और दुनिया के आकर्षणों से दूर रहने के लिए उन्होंने सांसारिक-जीवन का त्याग कर जंगलों पर्वतों को साधना क्षेत्र बनाया। मन की दूर-दौड़ फिर भी बन्द न होने पर उन्होंने मानसिक इच्छाओं

का मर्दन आरम्भ किया शरीर को पीड़ा पहुँचाई और तब संयमित मन को ईश्वरोपासना में समाने का प्रयत्न किया। अन्तर में सुषुम्ना पिंगला और कुण्डलिनी नामक नाड़ियों का वैज्ञानिक विकास और अवरोध भी योग-साधना का विषय रहा है। सन्तमत पर यौगिक-दृष्टिकोण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है परन्तु शारीरिक-उत्पीड़न तथा आन्तरिक-नाड़ियों के रहस्यमय विधान में उनका विश्वास कदापि नहीं रहा। संतमत की एक सम्पूर्ण धारा कठोरता की अपेक्षा अभ्यास-मार्ग (सहजयोग) के माध्यम 'शब्द-श्रवण' द्वारा आत्मा का केन्द्रीयकरण करने तथा 'शब्द-तरंगों' के अनुसरण द्वारा सत् में मिलने की साधना को विशेष स्थान देती रही है। सिद्धि के पथ पर गुरु द्वारा शब्द-रहस्य का ज्ञान एवं प्रभु-कृपा को उक्त-धारा में उच्च स्थान दिया गया है। गुरु नानक भी एक सीमा तक इसी धारा से सम्बन्धित थे। अन्तर केवल इतना था कि वे सहज-समाधि में नाम-जाप से पूर्व स्पष्ट शब्दों में दुष्कर्मों के नाश तथा शुभ कर्मों द्वारा अवगुणों के नाश की बात करते हैं। गुरु नानक-मत क्योंकि सद्गुणी जीवनयापन का एक सुमार्ग है इसीलिए वे जीव के लिए योगियों की भाँति उत्पीड़न और निवृत्ति में विश्वास न रखते हुए पारिवारिक क्षेत्र में ही सद्गुणों विकास द्वारा मन के संयम एवं दुष्कर्म के विनाश की शुभकामना करते हैं। यही सहज-मार्ग है। इसमें निवृत्ति नहीं बल्कि निष्काम प्रवृत्ति की प्रधानता है। साधन रूप में योग के प्रस्तुत और पुरातन दोनों रूप किसी न किसी रूप में बने हुए आज भी प्रत्येक आत्मिक-विचारधारा का शृंगार बने हुए हैं।

'प्रेम' भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम निधि है। तो भी आधुनिक दृष्टिकोण से 'प्रेम-मार्ग' मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित माना जाता है। सूफी लोग जब भारत में आए तो उनके द्वारा की गई आत्मा-परमात्मा के प्रेम-सम्बन्धों की व्याख्या ने इस विचारधारा को पुनर्जीवन दिया। उन्होंने इश्क-मिजाजी से इश्क-हकीकी की ओर अग्रसर होना ध्येय समझा और अपने काव्यों में इस भावना को प्रत्यक्ष रूप दिया। आत्मा का परमात्मा के प्रति शुद्ध प्रेम मिलन-लक्ष्य की सिद्धि का कारण बन सकता है। उदाहरण रूप में वे अनेक ऐसी सांसारिक प्रेम-गाथाओं का आश्रय लेते थे जिनमें अनेक कठिनाइयाँ आने पर सच्चे प्रेमियों के मिलन का शोर संकेत किया जाता था। उनका विश्वास था कि इस ही यदि प्रेम सच्चा हो तो जीव और ब्रह्म का मिलाप अवश्यम्भावी है। सन्तमत में प्रेम का चोखा रंग स्वीकार किया गया है। प्रेम को ही प्रेरणा का स्रोत तथा जिज्ञासु की पिपासा का आधार माना गया है। प्रेम के आश्रय ही जीव और ब्रह्म की कल्पित दूरी का ह्रास होता है। प्रेम गुरु नानक द्वारा प्रयुक्त 'भिउ' शब्द का पर्यायवाची है। वे मानते हैं कि मिलन की पूर्ति 'नाम में भिउ समाए बिना कभी सम्भव नहीं। दुष्कर्म-रहित मन नाम में भिउ समाने से नामी-पद की प्राप्ति करता है। स्पष्ट ही 'नाम में भय (भिउ) या प्रेम पूर्वक नाम-जाप जीव मुक्ति का साधन है।

अभिप्राय यह है कि गुरु नानक विचारधारा किसी विशेष मार्ग का अनुकरण नहीं करती बल्कि भक्ति ज्ञान, कर्म योग और प्रेम सब मार्गों के गुणों को समन्वित करती दुर्गुणों का त्याग करती हुई एक नवीन और सहज ग्रहणीय पथ का अवलोकन कर रही है। विशेषता यह है कि इस पर चलने के लिए जीव का किसी विशेष सम्प्रदाय समाज या जाति से सम्बन्धित होना जरूरी नहीं। साथ ही दुनिया के सुखों से भागने परिवार-त्याग करने या देवताओं के माध्यम से सत्पुरुष तक पहुँचने की भी कोई आवश्यकता नहीं। यह जीव और ब्रह्म के प्रत्यक्ष मिलन की कहानी है, जो गुरु की जबानी दोहराई जाती है। परिवार में रहते दुनिया के धन्धे करते हुए भी प्रवृत्ति में निवृत्ति (आस माहि निरासो) रहने की कला गुरु नानक की देन है। सतिगुरु फरमाते हैं—

> जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणे।
> सुरति सबदि भव सागरि तरीऐ नानक नाम वखाणे।
> रहहि इकांति एको मनि वसिआ आसा माहि निरासो।
> अगमु अगोचरु देखि दिखाए नानक ता का दासो।
>
> ६, रामकली म० १ सिध गोष्ठी पृ० ६३८।

अर्थात् दुनिया में रहना सब व्यवहार करना परन्तु कमल की भाँति अपने को विश्व-पंक से ऊँचा रखना हमारा लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में लिव लगाने से 'नाम और नामी' का एकीकरण स्वाभाविक है।

७ वैदिक-सत्य और गुरु नानक

वेद-कालीन सभ्यता के गम्भीर अध्ययन से पता चलता है कि जनता मानव की आनन्दिनी-वृत्ति (Hedonic view) में विश्वास रखती थी। जीवन का उच्चतम और अन्तिम ध्येय था दिव्य-आनन्द और महत्तम सुख की प्राप्ति। आर्य लोग जीवन में अपनी धार्मिक तथा सद्गुणी वृत्तियों के माध्यम से अलौकिक-हर्षोल्लास की उपलब्धि की इच्छा से मृत्यु उपरान्त स्वर्ग की कल्पना करते थे। इसी दिव्य-सुख की आशा से मृत्यु-शय्या में उन्हें शान्ति प्राप्त होती थी।[1] उनका विश्वास था कि संसार में रहते हुए या मृत्यु-पश्चात् सुख-संचयन ही ऐसा आदर्श है जो मानव के लिए दैवी-विभूति कहला सकता है। सांसारिक सुख मानसिक-शान्ति का परिणाम है और सत्-कार्यों

1 The highest aim of life in Vedic Age was to secure an immortal place in the Paradise after death and enjoy celestial happiness as the fruit of sacrificial and virtuous deeds done by thm in life. The hope of enjoyment of eternal happiness in the Paradise cheered the last moments of the Vedic Aryans—M C. Pandya. An Intelligent Man's Guide to Indian Philosophy, p. 48

एवं सद्गुण-वृद्धि से सुख करतल होती है। जीवन के ये भले कार्य ही मरने के बाद जीव के सुकृत-लोक-वास का साधन बनते हैं (ऋग्वेद १० १६ ४)। ऐसा स्वीकार किया जाता था कि जीव जब सुकृत-लोक में पहुँचता है तो वहाँ की आनन्द-दायिनी पवनों तथा शीतल फुहारों से वह अपना जीवन मन और शरीर लेकर पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है (अथर्ववेद १८ २ २४) एवं अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे यम-देवता के दिव्य-दरबार में पहुँचता है। (अथर्ववेद ५ ४ ३)। वहाँ वह देवताओं के साथ मदिरा पान करता है, अप्सराएँ संगीत-नृत्य प्रस्तुत करती हैं तथा उसकी प्रशंसा के गीत गाती हैं (ऋग्वेद १० १३५)। यह विष्णु का उच्चतम धाम है (ऋग्वेद १ १५४) जहाँ बिछुड़ी हुई आत्मा का अपने पूर्वजों से संयोग होता है और वह पिता माता पत्नी और बच्चों आदि से पुनर्सम्मिलित हो अखण्ड तथा स्थायी सुख भोग करता है। (अथर्ववेद ६ १२०) (१२ ३ १७)।[1]

स्पष्ट ही इह-लोक और परलोक दोनों में सत्कर्मों के आश्रय भौतिक मान सिद्ध तथा आध्यात्मिक सुखों की खोज करना ही वैदिक-आदर्श था। इसकी सफल उपलब्धि के लिए जीव देवताओं की सहायता चाहता और उनकी स्तुति एवं उपासना द्वारा 'अभय-ज्योति' के रूप में आत्मन् के वास्तविक-ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न करता था। भौतिक साधना से भौतिक-सुखों की उपलब्धि हो सकती है परन्तु आध्यात्मिक सुखों पर पड़े अन्धकारावरण को हटाने के लिए जीव देवताओं से प्रार्थना करता है—'हे आदित्य मैं दायें बायें कुछ नहीं जानता पूर्व और पश्चिम दिशाओं से भी अनभिज्ञ हूँ। मेरा ज्ञान अपरिपक्व है और मूढ़तावश मैं हतोत्साहित हो रहा हूँ। केवल आपकी कृपा से ही मैं उस अभय-ज्योति को प्राप्त कर सकता हूँ।[2]

जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप-परिचय 'द्वा सुपर्णा[3] सयुजा' नाम प्रसिद्ध मन्त्र में (ऋग्वेद १० १६४ १२०) दिया गया है। वास्तव में इसी परमात्मा का साक्षात्कार वैदिक आदर्शों में मान्य कहलाता है। ठीक है कि वेद काल में प्राकृतिक शक्तियों संबंधी देवताओं को पर्याप्त मान्यता दी गई थी परन्तु वैदिक-दर्शन प्रमाण है कि वे केवल सहायक देवता ही थे। उन से ऊपर आर्य लोगों ने किसी सर्वशक्तिमान का भी आभास पा लिया था अर्थात् वे इन्द्र वरुण अग्नि विष्णु आदित्यादि की पूजा करते हुए भी इस अनेकता में ईश्वरीय एकता के अनुसन्धानु थे। प्रसिद्ध हैमवती-सूक्त में कहा गया

---

1 Quoted by M. C. Pandya in Ibid p. 49

२ न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्।
ऋग्वेद २ २७ ११।

३ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरेक पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।
(दो सुन्दर पक्षी-मित्र साथ-साथ घूमते एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक वृक्ष का फलास्वादन करता है, जब कि दूसरा निश्चल-सा केवल देखता रहता है।)

है, 'प्रकाश के रूप में वह आकाश में चतुर्दिक प्रदीप्त है वायु बनकर वह समस्त शून्य को भरे हुए है, यज्ञशाला में होमाग्नि गृहस्थ में अतिथि मानव में जीवन तथा गीति-रूप में वह सर्व-व्यापक हो गया है। वह परम-सत्ता है। यज्ञों में जल और अग्नि में पर्वतों में और सब से ऊपर सत्य में उसी की ज्योति प्रदीप्त है। (ऋग्वेद IV ४० ५)। इस मन्त्र में ऋषि ने सब देवताओं के गुण का संश्लेषण एक ही सर्वोच्च सत्ता या परमात्मन् में प्रस्तुत किया है।[1] कुछेक मन्त्र ऐसे भी उपलब्ध हैं जो उपरोक्त सत्ता को अनादि और निरंजन सिद्ध करते हैं। लिखा है 'जब मृत्यु या अमरता कुछ न थी रात्रि दिन तथा उनका अन्तर भी अज्ञात था तब भी वह एक' (परम सत्ता) निष्क्रिय और परिवर्तनहीन रूप में मौजूद था। उस 'एक' के अतिरिक्त वहाँ कुछ न था"। (ऋग्वेद X-१२९ २) (और भी लिखा है 'सर्व प्रथम उसके मन में (हिरण्यगर्भ में) इच्छा उत्पन्न हुई (सृष्टि रचने की) और उस से बीज (रचना का) अस्तित्व में आया। तभी ज्ञानी ऋषि-मुनियों ने अवास्तविकता (माया) में से वास्तविकता (विश्व) के निर्माण का साक्षात् अनुभव किया। (ऋग्वेद X १२९ ४)[1-2]

ऊपर वैदिक ऋचाओं के आधार पर तत्कालीन जनता की विकासोन्मुख मान्यताओं तथा विचारों का विश्लेषण किया गया है। इस सब से हम इस निर्णय तक पहुँचते हैं कि वैदिक युग का जीवन-लक्ष्य कोई एक विशिष्ट उपलब्धि तक सीमित न होकर तीन भिन्न भागों में बँटा हुआ था। (१) भौतिक-लक्ष्य (२) मानसिक और सात्विक-लक्ष्य (३) आध्यात्मिक-लक्ष्य। इन्हीं तीनों साध्यों को सम्मुख रखते हुए तत्कालीन संस्कृति चार मुख्य-कर्मों के उपभोग की इच्छा प्रस्तुत करती है—जाकि लक्ष्य-क्षेत्र में भिन्न स्थितियों से इस प्रकार सम्बद्ध है। काम और अर्थ (दोनों कर्म) भौतिक-लक्ष्य से सम्बन्धित हैं। मानसिक और सात्विक लक्ष्य से सम्बद्ध कर्म को 'धर्म' कहा गया है और 'मोक्ष' आध्यात्मिक-साध्य का नाम है। इस प्रकार लोक-जीवन की पूर्वसंकेतित मानसिकी-वृत्ति इहलोक और परलोक में उपयुक्त इन कर्मों द्वारा विश्वसुख का अनुभव करती थी और यही उसकी सम्पूर्ण विकसित-विचारधारा का महत्त्वपूर्ण

---

1 Quoted by Swami Sharvadanand in 'The Vedas and their Religious Teachings. Collected in the Cultural Heritage of India, Vol I p. 15-17

२ (यहाँ गुरु नानक के विचार वैदिक-विचारों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। वे भी वैदिक विचारधारा के इस अन्तिम स्वरूप को महत्त्व देते हुए 'साहिब मेरा एको है भी एको है' पुकारते हैं। सृष्टि-रचना से पूर्व जब सब शून्य था तब भी उसका एक मात्र अस्तित्व गुरु नानक ने भी स्वीकार किया है। साथ ही इच्छा से रचना के बीज का अस्तित्व में आना तथा माया से सत्यवत्-संसार की रचना होना भी उन्हें मान्य है।)

ध्येय था। काम (इच्छा) की पूर्ति तथा अर्थ (धन) की प्राप्ति धर्म-बद्ध रहने में सहायक है। दूसरी ओर, यह भी मान्य है कि धर्माचार के बिना काम और अर्थ का उपभोग असम्भव है। अभिप्राय यह कि उस समय लौकिक तथा अलौकिक महत्वों और फलों का पृथक्-पृथक् महत्व स्वीकार किया गया था। प्रथम और द्वितीय कोटि के लक्ष्य पहले तीन प्रकार के फलों के उपभोग तक ही सीमित हैं। तीसरी कोटि का लक्ष्य मोक्ष-फल की अपेक्षा रखता है जो इस संसार को छोड़ने पर भी परमानन्द की स्थायी उपलब्धि पर आधारित है।

भौतिक-सुखों के लिए भी अत्यधिक-महत्व काम-अर्थ की अपेक्षा धर्म को दिया गया था। महाभारत के 'भारत-सावित्री' नाम के पदों में स्पष्ट कहा गया है कि कामना-पूर्ति तथा सम्पन्नता प्राप्ति का एक मात्र उद्गम सद्गुण ही है। मनुस्मृति में 'आचारः परमो धर्मः' कहकर आचार को ही धर्म माना गया है। क्योंकि उस समय के वर्णाश्रम धर्म एवं सामान्य धर्म दोनों विधि और निषेध की शिक्षा ही देते रहे हैं इसलिए मूलतः नैतिक-पृष्ठभूमि पर निर्मित ही कहे जाएँगे। ध्यान रहे यहाँ धर्म से कोई हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई आदि धर्म नहीं वरन् सद्गुणों की अभिवृद्धि तथा शुद्ध-वृत्ति को ही धर्म कहा गया है। इसे कामना-पूर्ति और धन प्राप्ति का साधन इसीलिए बताया गया है कि भौतिक सुखों की तलाश में भी जीव को सुपथ पर चलना आवश्यक है। किसी के दुर्भाग्य या हानि से अपना काम या अर्थ की सिद्धि सुखदायक नहीं मानी जाती थी। क्योंकि ऐसा करने से जीव को भौतिक सुख तो मिल सकता था परन्तु मानसिक शान्ति न होती। परिणाम स्वरूप मनुष्य ध्येय से विचलित हो जाता। मानसिक-संयम एवं सात्विक-विचारधारा के अतिरिक्त काम और अर्थ की उपलब्धि क्योंकि अहं का कारण बन जाती है इसलिये सद्गुण के प्रति आघातकारी सिद्ध होती है। आचार-निरूपण करते हुए लिखा भी है कि 'बिना पवित्र कर्म (सत्कर्म) के अन्तःकरण के मल दूर नहीं हो सकते और अन्तःकरण के शुद्ध हुए बिना अहंकार दूर नहीं होता और न ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है।'[1] ऐसी स्थिति में यदि भौतिक-मात्र की सिद्धि हो भी जाए तो मानसिक-असंयम के कारण सात्विक लक्ष्य तक जीव की पहुँच कदापि नहीं हो सकती। अस्तु, मोक्ष-फल के आस्वादन एवं आध्यात्मिक-लक्ष्य-सिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। सार यह कि वेद-युगीन विचारकों ने यहाँ-वहाँ सब जगह सुख खोजने के प्रयत्न में मानव-कृत्य कर्मों और फलों का एक क्रमिक-विकास प्रस्तुत किया था जो निश्चय ही पूर्ण था और वास्तविकता के सन्निकट भी।

गुरु नानक युग की परिस्थितियों तथा वातावरण के प्रति वे पूरे एक सजग विचारक थे। वैदिक-संस्कृति से लेकर मुस्लिम-संस्कृति तक के सद्भावों को

---

१ भारतीय-दर्शन उमेश मिश्र पृ० ३६।

समन्वित करना तथा उस पर भी अपेक्षित एवं सम्यक सुधार प्रस्तुत करना उनका दृष्टि-बिन्दु रहा था। यही कारण है कि उनकी विचारधारा में जहाँ वैदिक-सत्यों की झलक मिलती है वहाँ दृष्टिकोण सिद्धि और साधनों में विकास भेद भी स्पष्ट दीख पड़ते हैं। अलौकिक और स्थायी परम-सुख की खोज को गुरु नानक ने भी सत्य रूप में अपनाया है। ईश्वर की अपूर्व-एकता में विश्वास उसके द्वारा इच्छा (माया) के माध्यम सृष्टि रचना और जीव का संसार में रहते हुए सत्कर्मों के माध्यम से मन को संयमित करना और सद्गुण वृद्धि की अपेक्षा रखना आदि बातें गुरु नानक ने सम्भवतः वेद-काल से ही अपनायी थीं। परन्तु उन्होंने वैदिक-युग की भाँति भौतिक या मानसिक सत्यों को इतना महत्त्व न दिया था जितना आध्यात्मिक-सत्यों को। ठीक है कि वे निष्काम-प्रवृत्ति के प्रचारक थे दुनियादारी परिवार-धंधे में रहते मुक्ति का स्वरूप निश्चित करते थे फिर भी काम-अर्थ सरीखे भौतिक फलों के उपभोग को सुख का कारण कदापि न मानते थे। उनका विश्वास था कि आन्तरिक अहंकार का नाश करने के लिए धन-दारा (अर्थ-काम) की ओर निर्लिप्त रहना अनिवार्य है। वैदिक 'धर्म' के क्षेत्र में निश्चय ही वे सद्गुणों शान्त जीवन और ऊँची निगाह का महत्त्व देते हैं। शुद्ध जीवन ही गुरु प्राप्ति का गौरव-ज्ञान देने में समर्थ है और इसी में हउमै का अन्त और आत्म ज्ञान की भावना सदैव छिपी है ऐसा गुरु नानक का मत था। लेकिन उनका लक्ष्य यहीं आत्म ज्ञान तक सीमित न था वे परमात्म ज्ञान तथा उससे भी ऊपर परमात्म मिलन अर्थात् लीनता को ध्येय बनाए थे। वेदों में सत्कर्मों के फल-स्वरूप स्वर्ग में देवताओं के संग आनन्द भोग की कल्पना और किसी सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक का आभास तो उपलब्ध है परन्तु मोक्ष-फल का स्वरूप लीनता न होकर स्वर्ग-वास तथा व्यक्तिगत ईश्वर की सन्निकटता ही है। अतः प्रस्तुत क्षेत्र में गुरु नानक ऊँचे उठ गए हैं यह अभिप्राय है।

दूसरे वेदों में विपरीत ज्ञान का स्वरूप बाह्य है जबकि गुरु नानक इसे आन्तरिक-पृष्ठभूमि की वस्तु मानते हैं। वैदिक-जीव प्रकृति और देवताओं से ऊपर जब किसी बड़ी शक्ति का आभास पाता और उसकी वास्तविक स्थिति को पहचानने के लिए शुद्ध-मन से कर्म करता है तो ज्ञान का उदय स्वीकार किया जाता है। परन्तु गुरु नानक मतानुसार प्रभु में अखण्ड विश्वास और आत्मा में सदैव उसका अनुभव करना ही ज्ञान है। यहाँ परम-पद की प्राप्ति के लिए आत्म-पहचान कर मन के द्वार निरंकार का परिचय प्राप्त कर उसमें लीनता की आकांक्षा प्रस्तुत की जाती है जबकि वैदिक-युग में परम-फल (मोक्ष) का आस्वादन स्वर्ग में अपने इष्ट देवताओं के निकट रहना तथा पूर्व-सम्बन्धियों की संगति का स्थायी आनन्द उठाने में ही निहित है।

वैदिक-विचारधारा तथा गुरु नानक मत के चरम-लक्ष्य का अन्तर ऊपर स्पष्ट है। यहाँ साधनों पर भी एक विहंगम दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। वेद

युगीन धार्मिक-प्रयत्नों में कर्मकाण्ड का सर्वोच्च स्थान था। योग और तप तो केवल निवृत्त-वानप्रस्थी जीवों द्वारा अपनाए जाते थे। गृहस्थ में इनका कोई स्थान न था और ब्रह्मचर्याश्रम में ये दोनों शिक्षण-विधियों का रूप लिये थे। एक गृहस्थी जीव को स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा से शुद्ध-जीवन तथा सदाचार-विचार अपनाने के अतिरिक्त हवन-यज्ञ व्रत-अनुष्ठान बलि-पूजा आदि का आश्रय भी लेना पड़ता था। भिन्न देवी देवताओं को प्रसन्नतार्थ उनके स्तुति-गान किए जाते उनसे वरदान की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ होतीं और यज्ञ अनुष्ठान का अवलम्ब ले देवताओं के नाम पर बलि दी जाती। सच्चे स्वर्गाकांक्षी गृहस्थी को निम्न-स्तर से उच्चतम-स्तर तक पाँच दैनिक यज्ञ करने पड़ते—भूत यज्ञ नर यज्ञ पितृ यज्ञ ब्रह्म यज्ञ तथा देवयज्ञ। उक्त क्रियाओं से अधिकतर जनता के भौतिक-लाभ तथा सदेच्छाओं का आभास ही मिलता है। हवन करने का आशय था वातावरण को सुगन्धित और पावन करना यज्ञ का अभिप्राय गृहस्थी द्वारा भूखों का पेट-पालना दान-पुण्य का तात्पर्य गरीबों की सहायता करना आदि। यह सब सज्जीवों की शुभेच्छाओं का प्रदीप्त स्वरूप है। प्रार्थनाओं और स्तुतिगान द्वारा जिन वरदानों की आशा की जाती वे भी लगभग सब भौतिक होते। १०० वर्ष तक जीने की कामना धन और पुत्रों के जन्म की इच्छा धन-धान्य सम्पन्नता की अभिलाषा घर में दुख-व्यथा का अन्त और सुख की अभिवृद्धि आदि सब भौतिक आकांक्षाएँ हैं। यह भौतिक इच्छाएँ भी भौतिक-पृष्ठभूमि पर व्यक्त की जातीं। स्वर्ग में देवताओं के सह-वास और अमर-ज्योति की माँग के साथ ही वहाँ भी अपने माता-पिता पत्नी-पुत्र संग सुखी जीवन की हविस उन्हें बनी रहती। अतः यह अविवाद है कि वैदिक-युग के अधिकतर साधन और लक्ष्य-सिद्धियाँ भौतिक थीं। भक्ति-क्षेत्र में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का आध्यात्मिक काल अपनी साधना को भौतिक-सीमाओं तक बद्ध रखना दुर्बलता का प्रतीक मानता था। गुरु नानक उसी युग के अग्रगण्य थे इसीलिए उनके साधन कर्म काण्डी और लक्ष्य भौतिकवादी न होकर क्रमशः निष्काम भक्ति एवं आध्यात्मिक हैं। वेदयुग में जो भी किया जाता उसके फल की आशा युक्त रहती परिणाम स्वरूप शुद्ध आचार विचार और सद्गुणों के रहते भी मन का अहं भाव बना रहता और यह सिद्धि-मार्ग में बाधक-विघ्न है। परन्तु गुरु नानक-मार्ग का तो श्रीगणेश ही हउमै के अन्त से होता है। जब तक मन संयमित नहीं और जीव का अहंकार सजग है, तब तक किसी भी सुविधा के अनन्तर सदेच्छा-पूर्ति में गुरु नानक को सन्देह है। उनका विश्वास है कि हउमै का विनाश ही वास्तव में मनुष्य को आत्मानुभूति के बिन्दु तक पहुँचाता है जो उनके मतानुसार परम-पद की प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। गुरु नानक कर्म-काण्ड को बन्धन मानते हैं उससे बचने का आदेश देते हैं। कर्म-काण्ड में फलागम की आशा ही बन्धन का मूल कारण है। इसीलिए गुरु नानक फलोत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठाते। उनके मतानुसार साधक को जो भी करना है वह प्रभु में पूर्ण भरोसे और प्रेम से केवल कर्तव्य-पालन के रूप में करना है परिणाम

की इच्छा से नहीं।[1] तदोपरान्त जीव गुरु की आज्ञा में चलता हुआ अपने दुर्गुणों को दूर करता है। निर्मल-मन नाम में लिव लगाता है। नाम और नामी का पर्याय सम्बन्ध होने से धीरे-धीरे नाम में चित्त लगाने वाला प्राणी स्वयं नामी रूप होकर उसी में लीन हो जाता है।

पुन: प्रवृत्ति को दोनों विचार धाराएँ स्वीकार करती हैं। वैदिक-धारणा प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति को भी महत्त्व देती है और उसके लिए एक विशेष समय नियत करती है। परन्तु गुरु नानक निवृत्ति तथा संसार दोनों को परस्पर विरोधी मानते हैं। संसार में रहकर कर्म करना मानव-स्वभाव है अत: उस कर्म से विचलित होना और हठ द्वारा कर्म-कामना की ओर प्रवृत्त ध्यान को संयमित करने का उपक्रम करना मानव-स्वभाव के विरुद्ध बातें होंगी। इसीलिए गुरु नानक का सुझाव था मनुष्य का स्वाभाविक कर्म करना परन्तु मन द्वारा उसके फल की कामना न करना। अर्थात् वे निष्काम कर्म की महिमा के जबरदस्त वकील थे। जहाँ वेद-युग प्रवृत्ति और निवृत्ति को जुदा-जुदा छोरों से देखता था वहाँ गुरु नानक इन दोनों के बीच मध्य पथगामी बनना अधिक उत्तम मानते थे। अभिप्राय यह कि गुरु नानक संसार में रहते दुनिया-धंधे के सब कार्य निपटाते हुए भी जीव को मानसिक-यती और परम-संयमी बनाकर, गुरु-आज्ञा-पालन और नाम-जाप के द्वारा परम-सत्य तक पहुँचाने की प्रसाधना प्रस्तुत करते हैं जबकि वैदिक विचारधारा की दौड़ बहुत नीचे ही समाप्त हो जाती है। आनन्द के कोबी दानों है सुकर्म प्रवृत्त होना भी दोनों उचित समझते हैं परन्तु आनन्द की सीमा और मात्रा में गुरु नानक चरम-सीमा (ब्रह्म) तक पहुँचे हैं तो वेद युगीन केवल स्वर्ग की कल्पना तक भौतिक सुख से कोई दूर नहीं परन्तु गुरु नानक के लिए वह अनाकर्षक है तो वेद-वासियों के लिए वरदान प्रवृत्ति का आधार एक में हुकम-बद्धता है तो दूसरे में कर्मकाण्ड और अन्तत: जहाँ वैदिक-धारणा की निवृत्ति मोक्ष और तपस्या का रूप लिए है वहाँ गुरु नानक-निवृत्ति परिवार में रहते हुए नाम जाप में है। अत: निर्विवाद कहा जा सकता है कि गुरु नानक ने वैदिक विचारधारा से ऊपर उठ धर्म-क्षेत्र में अप्रतिहत सुधार प्रदान किया है।

८. आध्यात्मिक-सिद्धि तथा शंकर-अद्वैतवाद

गुरु नानक पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। ठीक है कि विश्व-सम्बन्धी शंकर की मान्यताएँ गुरु नानक को स्वीकार्य न थीं तो भी अन्तिम-ध्येय दोनों महापुरुषों का बराबर था। जिज्ञासु प्राणी द्वारा अपने और अन्य सर्वस्व के कारण का सद्ज्ञान प्राप्त करना तथा अन्तत: उसी में लीन हो जाना अद्वैत की सिद्धि कही जा सकती है। आज का वैज्ञानिक युग आध्यात्मिकता से इसीलिए दूर

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को निष्काम-कर्म कहा गया है।

है कि वह कार्य या घटना का कारण उससे बाहर किसी तीसरी वस्तु में ढूंढने का प्रयास कर रहा है। अद्वैतवाद की विशेषता यह है कि वह कार्य में ही कारण की खोज लगाता है। 'खोज में ही ब्रह्म है बस इस सत्य को पहचानने भर की देर है। लेकिन उस सर्वज्ञाता-ब्रह्म को क्योंकर पहचाना जाए? यदि वह पहचान लिया जायेगा तो पहचानने वाला न रहेगा। वह स्वयं ब्रह्म बन जायगा। उसे पता चल जायगा कि वास्तव में वह वही है। यही अद्वैत है। वह सत्य जिसे पाने के बाद और कुछ जानने की इच्छा नहीं रहती 'बहुरूपता में एकता का प्राप्त करना ही है'—सत्य ज्ञान इसे ही कहते हैं। अद्वैत-विचार धारा इस ज्ञान को सर्वोपरि महत्त्व देती है। इसके आरम्भ और पूर्ति के सम्बन्ध में स्वा० विवेकानन्द कहते हैं 'प्रत्येक सम्प्रदाय का आरम्भ द्वैतवादी उपासना से होता है। इसके बाद ईश्वर सृष्टि का सृजन करने वाला उसका पोषक और जिस में वह अन्त में लय हो जाता है ऐसा बताया जाता है। बाह्य और अन्तर्प्रकृति का स्वामी विश्व का यह उपास्य देवता बताया जाता है फिर भी मानो उसका अस्तित्व प्रकृति में कहीं बाहर हो। इससे एक पग आगे बढ़ने पर हम उसी गुरु को यह बताते पाते हैं कि ईश्वर प्रकृति से परे नहीं वरन् उसी में व्याप्त है। अन्त में ये दोनों ही विचार छोड़ दिये जाते हैं और जो कुछ भी सत्य है वही ईश्वर बताया जाता है। कोई अन्तर नहीं रहता। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'! अन्त में यह बताया जाता है कि मनुष्य की आत्मा और वह सर्वव्यापी एक ही है। श्वेतकेतु वह तू ही है।'[1] स्पष्ट ही भक्ति का लक्ष्य-स्वरूप वास्तविक ज्ञान द्वारा आत्म-पहचान तथा एकता का सीखना है।

वस्तुतः सत्योपलब्धि का आधार है ज्ञान। ज्ञान द्वारा जीव माया की वास्तविक शून्यता एवं भ्रम के आवरण को पहचान लेता है। उसके लिए सम्पूर्ण विश्व अस्तित्व में होते हुए भी मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। वह जान जाता है कि देश काल और निमित्त अथवा नाम-रूप की भिन्नता के कारण ही भ्रम-जनित अनेकता का अस्तित्व है। सागर से लहर केवल नाम-रूप में ही भिन्न है अन्यथा उसके सागर का अंग होने में किसी को क्या सन्देह हो सकता है? यही स्थिति परमात्मा रूपी सागर में आत्मा रूपी लहरों की है। अतः यदि जीव यह जान ले कि वह वही है जिसकी उसे जिज्ञासा है तो दोनों की एकता में क्या विलम्ब? अद्वैतवाद का यही मूल-सिद्धान्त है। इसी के आश्रय अद्वैतवादी संसार को मिथ्या ब्रह्म को सत्य तथा अस्तित्व को भ्रम कहते हैं तथा जग की लौकिक व्याख्या के लिए ब्रह्म की वैकल्पिक शक्ति माया की कल्पना करते हैं। जन-साधारण को समझाने और परज्ञान की प्राप्ति से पूर्व साधना की ओर प्रवृत्त करने के लिए उन्होंने सविशेष-ब्रह्म (ईश्वर) की भी मान्यता दी थी—परन्तु

---

१ १२ नवम्बर १८९७ ई० को वेदान्त पर लाहौर में दिया गया व्याख्यान 'भक्ति और वेदान्त' में संगृहीत।

ध्यान रहे कि यह विचार शंकर-वेदान्त के प्रचार की प्रारम्भिक-स्थिति में ही कार्यान्वित है दूसरी सीढ़ी पर अनेकता का भ्रम मिटाया जाता है तो व्यक्तिगत ईश्वर को क्यों कर त्याग दिया जा सकता है ? अभिप्राय यह कि अद्वैतवादी सम्पूर्ण-निर्माण के अन्तर और बाहर केवल एक ही चिर-सत्य को स्वीकार करते हैं—जो रचना भी है रचयिता भी और रचने की क्रिया भी और उस-सत्य तक पहुँचने का माध्यम है ज्ञान ।

किन्तु दूसरी ओर गुरु नानक का आध्यात्मिक-सत्य आत्म-परिचय के उपरान्त ब्रह्म-लीनता तो है परन्तु एकता में अनेकता का समवर्ती रूप उनके मतानुसार शंकर से भिन्न है । गुरु नानक भी एक को परम-सत्ता मानते हैं तो भी उसकी रचित 'अनेकता' को मिथ्या या भ्रम न कहकर, उसकी आज्ञा (हुक्म) का सच्चा पालन मानते हैं । विश्व की सार्थकता गुरु नानक के लिए सत्य भी है और असत्य भी । परम-सत्य का हुक्म होने के नाते यह सत्य है उससे जीव अकाल की कृपा का अनुमान करता है तथा उसमें रहता हुआ सद्गुणों का संचय करता है । परन्तु विश्व के आकर्षणों में फंसकर यदि प्राणी गुरु-आज्ञा की अवज्ञा करता है तो वही विश्व असत्य या माया बन जाता है । इस स्थिति में वह त्याज्य है । 'माया' के मारे हुए वेदान्ती का आत्म-ब्रह्म भी उसे तटस्थ दिखता है साक्षी रूप केवल द्रष्टा । परन्तु गुरमत का निरंकार परिपूर्ण आज्ञा में सबको चलाता कर्ता दिखता है । योगी या वेदान्ती परमपद को प्राप्त कर स्वयं भी मात्र द्रष्टा रह जाता है । परन्तु गुरमुख परम पद को पाकर हुकम में काम करता है । दुख का नाश करना तथा परोपकार करना यह उसका स्वाभाविक कर्म हो जाता है ।"[1]

जीव में ब्रह्म व्याप्त है जो इन दोनों में अभेद प्रस्तुत करता है । परन्तु फिर भी जीव और ब्रह्म तब तक जुदा हैं जब तक कि गुरु-आज्ञा में रहते हुए जीव नाम जाप कर स्वयं स्वामी को पहचान नहीं लेता । फिर तो बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव समाप्त हो जाता है । इससे गुरु नानक के दृष्टिकोण में जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों में भेद और अभेद दोनों का आभास प्रकट होता है जिसमें अभेद मुख्य है । व्याप्ति इतनी पूर्ण हो जाती है कि व्यापक व्याप्य ही समरूप हो जाता है ।[2] मजे की बात तो यह है कि जीव ब्रह्म का अंश होते हुए स्वयं भी पूर्ण ब्रह्म से कम नहीं रहता । वेदान्ती इस दृष्टिकोण से पूर्ण से पूर्ण निकलने पर भी पूर्ण बाकी रह जाता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है—

---

१ गुरमत निर्णय भाई जोधसिंह-पृ० ६६,

२ सुनु सखि पिउ महि जिउ बसै जिउ महि बसै कि पिउ ।

कबीर ग्रंथावली पृ० २६१ पद १८६ ।

या

नानक नानक नानक मैं नानिक सब घट रहा समाई ।

वही पृ० १०४ पद ११ ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ II ५ ११ ।

स्पष्ट ही यह स्वरूप अद्वैत से भिन्न है, अद्वैतवादी तो ब्रह्म से बाहर भ्रम के अतिरिक्त और कुछ मानने को तैयार ही नहीं। साधन रूप में भी अद्वैतवादी केवल ज्ञान और त्याग का आश्रय लेता है जबकि गुरु नानक विश्व में ही सक्रिय रहते हुए सिमरण ध्यान और नाम की साधना को महत्त्व देते हैं।

जीव के लिए लक्ष्य-सिद्धि का अधिकारी होना भी दोनों दृष्टिकोणों से पृथक है। वेदान्त को समझने के लिए जिज्ञासु को विधिपूर्वक वेद तथा छः वेदांगों का अध्ययन करना आवश्यक है अन्ततः इनके तत्त्वों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना तो उचित ही है। उसे काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर नित्य और नैमित्तिक कर्म को करते हुए, प्रायश्चित्त उपासना आदि का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण के मलों को दूर करना भी आवश्यक है जिससे अन्तःकरण स्वच्छ और शुद्ध हो जाय। पश्चात् नित्य और अनित्य वस्तुओं में विवेकज्ञान इस लोक तथा परलोक में प्राप्त फलों से विरक्त 'शम' 'दम' उपरति' 'तितिक्षा' समाधान' (समाधि) तथा 'श्रद्धा' इन अष्टांग-योगों से युक्त होना आवश्यक है। अन्त में मुक्ति के लिए इच्छा भी होनी आवश्यक है। इस प्रकार की योग्यता प्राप्ति पर ही जीव वेदान्त लक्ष्य का अधिकारी होता है। वेदान्त के विषय अनुभव करने के हैं। साक्षात् अनुभूति न होने से ब्रह्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं होगा।[1] इसके विरुद्ध नानक दृष्टिकोण से ब्रह्मैक्य का अधिकारी बनने के लिए किसी प्रकार के अष्टांग-योगों या तपस्या निवृत्ति अथवा प्रायश्चित्त-उपासना आदि अनुष्ठानों की कोई आवश्यकता नहीं। पढ़-लिख कर वद वेदांगों के शास्त्रीय ज्ञान की भी कुछ अपेक्षा नहीं—यहाँ तो 'हरि को भजे सो हरि का होय।' परिवार में रहते दुनियादारी के कर्म-कर्त्तव्यों को पूर्ण करते हुए जो जीव अपने सत्कर्मों की वृद्धि और दुष्कृतियों के त्याग द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है, जो भौतिक जगत के स्थायित्व का भ्रम तथा मन की हउमै को भीतर से दूर कर देता है और गुरु की आज्ञानुसार नाम जपता है वह प्रभु-कृपा का अधिकारी होता है। ऐसा जीव ही परम-पुरुष से एकता प्राप्त करता है और पहले जीवन-मुक्ति, तदुपरान्त ब्रह्म में चिर-विलीनता का भागी होता है।

---

१ डॉ० उमेश मिश्र भारतीय-दर्शन पृ० ३७२

७

गुरु नानक तथा लक्ष्य-सिद्धि के अन्य दार्शनिक साधन

नाम रते हुकम पाइ । नामि रते सचि रहे समाइ ।
नामि रते जोगु जुगति बीचारु । नामि रते पावहि मोख दुआरु ।
नामि रते त्रिभवण सोझी होइ । नानक नामि रते सदा सुखु होइ । ३२ ।

× × ×

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ । सिर धरि तली गली मेरी आउ
इतु मारगि पैर धरीजै । सिर दीजै काणि न कीजै । २० । (वधीक)

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में योग-दर्शन का विशेष स्थान है। यहाँ भी आत्मा और परमात्मा को दो जुदा इकाइयाँ मानकर, उनके मिलन की बात चली वहीं योग (अथवा मिलाप) के सहयोग की अपेक्षा भी हुई। यही कारण है कि प्रभु-मिलन के भिन्न आधारों पर अलग-अलग यौगिक स्वरूप प्रस्तुत किए गए, यथा ज्ञानयोग प्रेमयोग कर्मयोग भक्तियोग आदि। अभिप्राय यह कि जिन मार्गों पर जैसे भी योग (प्रभु-मिलन) सम्भव हो सका उसी को अपनाकर 'योग' नाम दे दिया। परन्तु पातंजलि का योग-शास्त्र उनमें निराला ही रहा और उसने कर्म ज्ञान या भक्ति से हटकर केवल शारीरिक-क्रियाओं[1] द्वारा स्वरूप की पहचान का लक्ष्य चुना। भारत के अनेक सम्प्रदायों सिद्धों नाथों तान्त्रिकों आदि ने हठयोग का आश्रय लिया। कुछेक मत योग का परीक्षण भी करते रहे परन्तु राजयोग तक तो कोई विरला ही पहुँच पाया। योग-साधना व योग अथवा मिलन की स्थिति समाधि कहलाती है। उक्त राजयोगी दशा तक पहुँचने का रास्ता पर्याप्त बीहड़ और दुस्तर है परन्तु गंतव्य को पा लेने वाला ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। क्रम-विकास इस प्रकार है। योग की परिभाषा

---

1 वास्तव में इन शारीरिक-क्रियाओं का लक्ष्य मानसिक और आध्यात्मिक-क्रियाओं का विकास और संयम ही है, परन्तु आरम्भ शारीरिक-नियम से होने के कारण ऐसा कहा गया है। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि पातंजलि-योग चाहे कर्म ज्ञान या भक्ति से कितना ही भिन्न क्यों न हो तो भी है सब अन्योन्याश्रित। पातंजलि ने स्वयं योग को ज्ञान-मार्ग का आधार माना है। पुनः भक्ति और प्रेम तो भीतर ही तप है जिन्हें लययोग से पृथक् जुदा नहीं किया जा सकता। कर्म-मार्ग मन्त्र योग का ही स्वरूप है। इस प्रकार योग शास्त्र के चारों मुख्य स्वरूप (१) हठयोग (२) मन्त्र योग (३) लययोग और (४) राजयोग कहीं न कहीं अन्य सिद्धान्तों के साथ विचार-तत्त्व प्रस्तुत करते ही हैं। पातंजलि के योग-सूत्रों में मुख्यतः राजयोग का विवरण है। हठयोग लगभग राजयोग का ही आरम्भिक रूप है परन्तु राजयोग में विवेक या समन्वय [illegible] का रूप ग्रहण रहता है और योगी 'कैवल्य' (परम-सत्य) को पहुँचता है। मन्त्र-योग में केवल भिन्न शारीरिक-अंगों को छूकर देवी-देवताओं की स्तुति में मन्त्रोच्चारण किया जाता है। लययोग में योगी लक्ष्य-विशेष को सम्मुख रख उसके चिन्तन में लीन हो जाता है आदि।

देते हुए पातंजलि लिखते हैं कि चित्त-वृत्तियों का निरोध करना ही योग है।[1] चित्त वृत्तियाँ जो कि मानस-पटल में निरन्तर-प्रवाह की भाँति बहा करती हैं अधिकतर बाह्य आधारों पर अवलम्बित रहती हैं। हम आँखों से देखते हैं, परन्तु मस्तिष्क के दृष्टि-केन्द्र (Visual Area) की अनुपस्थिति या आँखों तथा मस्तिष्क के बीच के सम्बन्ध के अभाव मे हम देख नहीं पाते। पुन जो कुछ हम देखते हैं उसे समझने केलिए बुद्धि तथा आग भी प्रतिक्रियाओं के हेतु मनस् की आवश्यकता पड़ती है। तब इन सबके पारस्परिक सहयोग से वस्तु का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है जाकि धीरे-धीरे चित्त वृत्ति का नाम धारण करता है। अत चित्त-वृत्ति के निरोध का अर्थ हुआ इन्द्रियों मन बुद्धि एवं अहं का पूर्ण दमन। इसी से आत्म पहचान सम्भव है। महर्षि पातंजलि लिखते हैं कि साधारणतया चित्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं जिनमे सुखदायी और दुखदायी दोनों रूप विद्यमान रहते हैं।[2] प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति[3] में से प्रमाण (जिसका आधार प्रत्यक्ष अनुमान तथा आप्त वाक्य होते हैं) तथा कुछ सीमा तक निद्रा (जिसमे मनुष्य अपने दुखों को भूल जाए। स्वप्न विहीन) सुखदायक वृत्तियाँ कही जा सकती हैं। शेष विपर्यय (अविवेक अथवा अशुद्ध-ज्ञान) विकल्प (शब्द-जाल) तथा स्मृति मनुष्य के दुख का कारण बनते हैं। इन पाँचों प्रकार की चित्त-वृत्तियों को यदि संयमित किया जाय तो योग-साधना का श्रीगणेश सम्भव है। पातंजलि का मत है कि केवल अभ्यास या अनाकर्षण से ही इन्हें संयमित किया जा सकता है।[4] कुछ लोग श्रद्धा वीर्य स्मृति ध्यान तथा विवेक के बल पर भी समाधि के अधिकारी बनते हैं।[5] ईश्वरोपासना का आश्रय लेते हैं।[6] इस प्रकार चित्त

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ I २ पातंजलि योग-सूत्र।

२ वृत्तय पंचतय्य क्लिष्टा अक्लिष्टा। I ५ योग-सूत्र।

३ प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतय। I ६।
(Right knowledge Indiscrimination Verbal delusion Sleep and Memory)

४ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। I १२ पातंजलि योग-सूत्र।

५ श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्। I २० योग सूत्र

६ ईश्वरप्रणिधानाद्वा। I २३।

ध्यान रहे शरीर और मन के सम्बन्ध बताने में योग कितना भी सांख्य दर्शन से मिले परन्तु फिर भी योग में ईश्वर पर विश्वास रखा गया है। योगियों का ईश्वर सृष्टि-रचयिता नहीं उसका ईश्वर दूसरों के बीच रस ज्ञान का अपने समान अपरिमित करता है तथा काल-चक्र की सीमाओं से बाहर होने के कारण सनातन समय से ही गुरुओं का भी गुरु है। पातंजलि लिखते हैं—
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। I २५, योग सूत्र।
स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्। I २६ योग सूत्र।

वृत्तियों का निरोध सम्भव माना जाता है। यदि हम योग-साधना के व्यावहारिक-पक्ष की ओर मुड़ें तो समाधि उपलब्धि का लक्ष्य पाने के लिए पहला कदम क्रिया-योग कहलाता है। इसमें साधक-योगी को क्रमानुसार तीन बातों का ध्यान रखना होता है (क) तप (ख) स्वाध्याय तथा (ग) कर्म-फल के ईश्वरार्पण की भावना।[1] यहाँ कुछ ऐसी अड़चनें भी हैं जिनसे निस्तार पाना योगी का पहला कर्तव्य होगा यथा अविद्या अहं लगाव घृणा तथा जीवन के प्रति मोह।[2] तप या संयम की पहली स्थिति (जो कि कम या पाप देन के कारण अनिवार्य भी है) अहं लगाव घृणादि का सुधार उपचार प्रस्तुत करती है। इसके लिये उत्तरोत्तर आठ दशाओं का वर्णन पातंजलि ने प्रस्तुत किया है—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। यम पाँच हैं—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम भी पाँच ही हैं—शौच संतोष तप स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधान। ये दोनों दशाएँ (यम और नियम) जिज्ञासु के जीवन को सद्गुणों तथा व्यवस्था के सूत्रों में बाँधती हैं। पश्चात् आसन और प्राणायाम के माध्यम निश्चल बैठने एवं श्वासोच्छ्वासों पर काबू पाने का अभ्यास किया जाता है। पूरक (साँस अन्दर खींचना) कुम्भक (रोकना) तथा रेचक (छोड़ना) की निरन्तर क्रिया द्वारा प्राणों को संयमित किया जाता है। इसके आगे योग-साधना का कठिन क्रम आरम्भ होता है। प्रत्याहार का अभिप्राय है मनोरम और अनुचित दृश्य को उनकी उपस्थिति में भी मानसिक संयम द्वारा झुठलाना। यह कार्य कतिपय कठिन है परन्तु इसमें सफलता पा जाने का अर्थ है दुनिया के सुख-दुख से बहुत ऊँचे उठ जाना। धारणा ध्यान और समाधि तीनों का समन्वय ही वास्तविक राजयोग का स्वरूप है। पूर्वोक्त बातें इन्हीं तीनों की प्राप्ति की साधन हैं। क्रिया योग की दूसरी और तीसरी स्थिति भी इन्हीं तीनों की सहायक बनकर आती है। सिद्धान्तों वेदों एवं अन्य शास्त्रीय-साहित्य का स्वाध्याय उपर्युक्त अड़चनों में से अविद्या और जीवन के प्रति मोह का अन्त करने में सक्षम है। कर्म-फल का ईश्वरार्पण करना योगी को महत् समाधि के समीपतर ले जाता है। पातंजलि ने लिखा भी है कि सर्वस्व ईश्वरार्पण करने से ही समाधि-दशा प्राप्त होती है।[3]

उपरिलिखित स्थितियाँ प्राप्त करने वाला जिज्ञासु यौगिक-शक्ति के अद्भुत प का अधिकारी होता है। प्रायः मन की चंचलता यहाँ पहुँचने पर योगी का पद [illegible] करने में अपनी पूरी शक्ति लगा देती है। उसके सफल होने पर मुक्ति पदारोही

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। II १ योग सूत्र।
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। II ३ योगसूत्र।
समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। II ४५ योग सूत्र।

योगी बीच में ही भटक जाता है और ऋद्धियों सिद्धियों की शक्तियों द्वारा कभी कभी जन-साधारण का आतंक बन जाता है। परन्तु सच्चे राजयोगी का गंतव्य बहुत आगे है। उसे धारणा और ध्यान के माध्यम से समाधि की अवस्था प्राप्त करनी है और समाधि के सहारे कैवल्य। महर्षि पातंजलि अपेक्षित व्याख्याओं और परिभाषाओं की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि किसी प्रयोजन विशेष पर 'ॐ' जाप के माध्यम से मन को स्थिर करना 'धारणा' कहलाता है[1] उसकी निरंतर विवेक-शील साधना 'ध्यान'[2] का विषय है, और जब नाम रूप के ज्ञान के बिना ही विशुद्ध तथ्य को समझने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाए तो वह 'समाधि'[3] होगी। इन तीनों को एक ही प्रयोजन के सम्बन्ध में जब व्यवहृत किया जायगा तो चिर-संयम का उदय होगा।[4] यदि कोई महाजिज्ञासु उक्त संयम को पाले तो उसे परम-ज्ञान की अमर ज्योति की उपलब्धि होगी।[5] यही कैवल्य संभव है।

प्राणायाम का जो स्वरूप पीछे केवल श्वास-क्रिया का संयमित करने में दिखाया गया है आगे चलकर भौतिक-प्राणों की परिधि के बाहर आध्यात्मिक-प्राण (आत्मा) को व्यवस्थित और संयमित करना भी उसके विकसित रूप का विषय बन जाता है। प्राणायाम का यह रूप वास्तव में योग साधना का प्राण है। व्यवहार पक्ष में योगी का उच्चतम लक्ष्य इसके द्वारा सुषुप्त कुण्डलिनी-शक्ति को जगाकर शरीर और मन से पूर्णत: सम्बन्ध विच्छेद करने एवं आत्मा को पूर्णत: स्वतन्त्र बनाने में ही निहित है। "यौगिक मतानुसार रीढ़ के दोनों ओर पिंगला तथा इड़ा नाम की दो नाड़ियाँ हैं। रीढ़ के बीचों-बीच एक बलकी सरीखा लम्बा छेद भी है। योगी जिसे सुषुम्ना कहते हैं। उस छेद के निम्न-छोर पर एक 'कमल' है जो कुण्डलिनी का आसन कहलाता है। योगी-जन इसे त्रिकोणात्मक मानते हैं और इसमें निवसित कुण्डलिनी को महत् शक्ति-स्रोत। कुण्डलिनी (जिसका रूप नागिन की भाँति है और जो उसी प्रकार धीरे-धीरे ऊपर को खिसकने की शक्ति रखती है) का जागरण उसे इतना सामर्थ्य देता है कि वह सुषुम्ना के बीच से रास्ता बनाती हुई ऊपर को खिसकने लगती है। ज्यों-ज्यों कुण्डलिनी शक्ति ऊपर उठती है वैसे ही मन की एक-एक तह खुलती रहती है और योगी दिव्य-दृष्टि तथा असीमित शक्ति का स्वामी बनता चला जाता है। जब कुण्डलिनी मस्तिष्क का स्पर्श करती है तो योगी भूत और मनस् से पूर्णत: निर्मुक्त हो जाता है

---

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। III १ योग सूत्र।
२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। III २ योग सूत्र।
३ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। III ३ योग सूत्र।
४ त्रयमेकत्र संयमः। III ४ योग-सूत्र।
५ तज्जयात् प्रज्ञालोकः। III ५ योग सूत्र।

और उसकी आत्मा मुक्ति पाती है।"[1] "स्पष्ट ही यही प्राणायाम का लक्ष्य मूलाधार में छिपटी महत्-शक्ति कुण्डलिनी को जगाना ही है।[2] मूलाधार से मस्तिष्क तक पहुँचने के लिए कुण्डलिनी को छः भिन्न चक्रों से होकर गुजरना होता है—स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत विशुद्ध आज्ञा और सहस्रार। इसका मस्तिष्क तक पहुँचना ही आध्यात्मिक प्राणों की पूर्ण विजय है। इसी से सत्-ज्ञान का उदय होता है। यम-नियमादि तो केवल चित्त-शुद्धि के लिए हैं धारणा ध्यान और समाधि उच्च-कोटि की प्रतीति के लिए। सीधा बैठने के अभ्यास के लिए आसन की आवश्यकता पड़ती है ताकि कुण्डलिनी का का उत्थान सुगम हो सके। भौतिक दृष्टिकोण से इसमें पर्याप्त पीड़ा भी होती है, परन्तु अल्पाहारी योगी उसकी उपेक्षा करता है तथा अनवरत प्राणायाम के उक्त विकसित रूप के माध्यम से बाह्य प्राण-वायु को संयमित कर आध्यात्मिक-प्राणों को उत्तेजित कर कुण्डलिनी शक्ति को जगाता है। इसी में उसकी विजय है यही वह कारण रूप में स्थित होता है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है "कुण्डलिनी का जागरण ही वास्तव में अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। यही दिव्य-दृष्टि और आत्म दर्शन का विशिष्ट माध्यम भी है। प्रस्तुत जागरण की सम्भावना के अनेक आधार हैं —ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा पूर्ण-संतों की कृपा-दृष्टि के फल स्वरूप अथवा दार्शनिक (विचारक) की विश्लेषण-शक्ति के माध्यम से।[3] अभिप्राय यह कि राजयोग में सद्गुरु की कृपा ईश्वर और उसके प्रति चाहत एवं दार्शनिक विश्लेषण सब को सम्मिलित किया गया है जिसके बहुत से अंशों से गुरु नानक का सहमत होना स्वाभाविक होगा।

परन्तु हठयोग का जो रूप तान्त्रिकों या सिद्धों ने अपनाया था गुरु नानक उसके विरुद्ध रहे। राजयोग में भी आरम्भ में मन तथा शरीर को संयमित करने के लिये जिस बल का प्रयोग किया जाता है गुरु नानक उसे भी ग्राह्य नहीं मानते। आत्म-संयम या दिव्य-दृष्टि के कोण से सोचा जाए तो गुरु साहिब योगी ही नहीं योगी राज दिखाई पड़ते हैं परन्तु अपने शिष्यों को सर्वस्व त्याग कर यम-नियमों के बन्धनों में बाँधना और कठोर नियमों का पालन करना उन्हें कदापि पसन्द न था। वे तो प्रेम की अद्भुत शक्ति द्वारा अपने प्रभु में लीन होने का वह अमर सन्देश दे रहे थे जिसमें प्राणायाम की अपेक्षा अटल विश्वास और अमित श्रद्धा का समावेश था। अपने प्यारे के नाम में आत्म विभोर हो जाना ही उनके लिए योग की अनेकानेक क्रियाओं की सफल पूर्ति थी। "नाम के रंग में रंग जाने से ही हउमै का नाश हो जाता है नाम अपने आप स्वभावतः ही परम-सत्य में लीन रहता है। नाम रस

1 R]yoge by Swami Vivekanande p. 57
2. Ibid p 60
3. Ibid p. 65

लीन होने मात्र से ही मोक्ष की युक्तियों और विचारों की पूर्ति सम्भव है यही मोक्ष का द्वार है इसी से दिव्य-दृष्टि का उदय और त्रिलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिये गुरु नानक कहते हैं कि सुख की कामना करने वाले व्यक्ति का एक ही आश्रय स्थान है—प्रभु-नाम का स्मरण।[1]

गुरु नानक इड़ा पिंगला सुषुम्ना या कुण्डलिनी की रहस्यात्मक कहानियाँ सुना कर जन-साधारण को उलझन में डालने की अपेक्षा सादा और स्पष्ट पृष्ठभूमि पर सदाचारपूर्ण जीवन के शुभ-कर्मों के माध्यम से गुरु की कृपा की कामना रखते हैं। उसकी उपलब्धि सर्वस्व प्राप्ति का आधार हो सकती है। योग-समाधि से पूर्व की कुछ स्थितियाँ अपने परिवर्तित रूप में गुरु नानक को मान्य हैं। वे उनमें यौगिक कठोरता की अपेक्षा सहज कोमलता नैसर्गिकता और कर्तव्यनिष्ठा की भावना भरने के पक्षपाती हैं। यम-नियमादि के ठोस और स्थिर बन्धन-सूत्रों के स्थान में गुरु नानक की सम्पूर्ण विचारधारा ही स्वच्छ-जीवन की प्रतीक है। गुरु नानक मतानुसार सत्कर्मों के अभाव में गुरु की प्राप्ति असम्भव है। ये सत्कर्म सदाचार सद्विचार सर्व-सम्मत प्रेम और भलाई कर्तव्य-पालन एवं संयमित-जीवन (नैसर्गिक संयम) पर ही केन्द्रित हैं। ये ही गुरु नानक के यम और नियम हैं। पुनः क्योंकि गुरु नानक श्वास की पूरक कुम्भक या रेचक स्थितियों की बात ही नहीं करते उन्हें किसी विशेष प्रकार के आसन का नियोजन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। गुरु नानक ने प्राणायाम का विषय अपनाया जरूर है परन्तु कुण्डलिनी के जागरण के लिए नहीं। वे आन्तरिक-शक्ति को कुण्डलिनी रूप में नहीं देखते बल्कि उसे परम-ज्योति का अंश मानते हैं। योगियों की कुण्डलिनी की तरह उनकी यह परम-ज्योति कभी सुषुप्तावस्था में नहीं हुई, अतः उसके जागरण का प्रश्न ही नहीं उठता। उनके विचारानुसार कुण्डलिनी के मस्तिष्क तक पहुँच कर आध्यात्मिक-ज्ञान के उदय का कारण बनना भी कोई आवश्यक नहीं वहाँ दिव्य-ज्ञान का स्रोत साक्षात् गुरु है। हाँ आन्तरिक-शक्ति-पुंज परम-ज्योति का स्वरूप हउमै (अहंकार) के पर्दे में ढका हुआ स्वीकार किया जाता है। अतः मन से केवल अहं भाव को ही हटाने की आवश्यकता है चित्त वृत्ति-निरोध की नहीं।[2] गुरु की कृपा होने पर वह स्वयं शब्द द्वारा जीव से हउमै

---

१ नाम रते हउमै जाइ। नामि रते सचि रहे समाइ। नामि रते जोग जुगति बीचारु। नामि रते पावहि मोख दुआरु। नामि रते त्रिभवन सोझी होइ। नानक नामि रते सदा सुखु होइ।।१२। रामकली सिध गोष्ठी पृ० ९४१।

२ योगी लोग मानते हैं कि सांसारिक-सुखों से बचाव का एक-मात्र तरीका है उसकी मूलिच्छा माया के फंदे से बचाव। क्योंकि कारण (माया) से बचने के लिए पहले कार्य (संसार) से बचना आवश्यक है इसलिए वे लोग प्रायः

(शेष अगले पृष्ठ पर)

का नाश कर देता है और मन स्थिर हो जाता है। योग की यह स्थिति प्राणायाम से कुछ भी कम नहीं उल्टे इसमें पीड़ा उठाए बिना ही लक्ष्य की निकटता का आभास प्राप्त है। प्रत्याहार की यहाँ आवश्यकता नहीं पड़ती। गुरु का सिक्ख विश्व—इहलोक परलोक और पाताल—की प्रत्येक गति को हुक्माधीन मानता है अतः उस किसी भी उचित या अनापेक्षित तथ्य से मुकरने का प्रश्न पैदा ही नहीं होता। गुरु नानक धारणा ध्यान और समाधि का कुछ अंशों तक स्वीकार करते हैं। वे प्रभु के नाम में मन रमाना 'धारणा' उसका मनन गुण गान 'ध्यान' एवं धीरे धीरे 'नामी' में ही लीन हो जाना 'समाधि' का स्वरूप मानते हैं।

गुरु-विचार-धारा में कुण्डलिनी को मस्तिष्क तक पहुँचाने वाला महापुरुष योगी नहीं। वह बिल्ली के आने पर कबूतर की तरह आँखें बन्द कर लेने वाला ऐसा भोला व्यक्ति है जो सुख की खोज में दुखी हो रहा है। इस विश्वास से कि सफल होने पर उसे परमानन्द की प्राप्ति होगी वह शरीर को पीड़ित करता है और भविष्य तो है ही बाद की बात। अस्तु गुरु साहिब के मतानुसार सच्चा योगी वही है जो गृहस्थ परिवार को त्यागने की बजाय बुराइयों का त्याग करे और गुरु-शब्दों को समझकर हृदय की परम-ज्योति के अमर प्रकाश का दिव्य-दर्शन पा सके। वह जीवित ही मरना सीख ले (अर्थात् हउमै का अन्त कर दे) और अपने अन्तर में उस वाहिगुरु की महान अनुकम्पा के प्रति नतमस्तक रहे। उस महापुरुष का योग स्वयं-सिद्ध होता है और वह आध्यात्म ज्ञान का अधिकारी भी बनता है।[1] अभिप्राय यह है कि सिक्ख मत का योग आत्म-संयम का नहीं शब्द-संयम का रूप है।

सुमेर पर्वत पर जब सिद्ध-योगियों ने गुरु नानक से योग की वास्तविक स्थिति जानने की उत्सुकता प्रकट की तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि पवन शक्ति और शून्य के सम्बन्धों को संयमित करने मात्र से अनाहत-शब्द का श्रवण[2] सम्भव नहीं यह

(शेष पिछले पृष्ठ का)

संसार के आकर्षणों का त्याग करने में विश्वास रखते हैं। परन्तु गुरु नानक संसार को प्रभु के हुक्म की रचना मानते हैं और साथ ही माया को भी वाहिगुरु की माया और ज्योति का अंश समझते हैं फिर वे भला इसके त्याग में कैसे विश्वास कर सकते हैं? वे तो उल्टे सृष्टि की अद्भुत रचनाओं का आनन्द लूटने का कहते हैं।

१ सो जोगी गुरु सबदु पछाणै अंतरि कमलु प्रगासु थीआ।
जीवतु मरै ता सभु किछु सूझै अंतरि जाणै सरब दइआ।
नानक ता कउ मिलै वडाई आपु पछाणै सरब जीआ।
२४ रामकली म० १ सिद्ध गोष्टी पृ० ९४०

२ जैसा कि योग-सूत्रों में कहा गया है—
श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। III । ४२ योग सूत्र।

सद्गुरु की देन है। उसकी कृपा हो तो पलक-भर में शब्द का निबेड़ा हो सकता है— परन्तु शब्द-धीन में उसे श्रवण करना या समझना मात्र ही गुरु नानक का लक्ष्य नहीं रहा वे तो शब्द-ध्वनि का अनुकरण कर नाम की सहायता से 'नामी' में लीन हो जाने का संकल्प संसार को प्रदान करते आए थे। अतः कहते हैं 'हे अवधूत (योगियों के लिए प्रयुक्त एक सम्बोधन) निर्णय की बात तो यह है कि प्रभु के नाम के बिना योग साधना का आधार ही नहीं रहता। नाम में लीन योगी दिन रात मस्त रहते हैं उन्हें परम सुख की उपलब्धि होती है। (जिन शक्तियों को तुम योग-साधना से प्राप्त करना चाहते हो) वे सब नाम से प्रकट होता है और तुम्हारा एच्छित आध्यात्मिक ज्ञान (जो कुण्डलिनी के जागरण से तुम पाना चाहते हो) नाम-जाप से क्षण भर में ही हस्तगत हो जाता है। तुम लोग नाम के अभाव में प्रकार प्रकार के भेस बनाये (योगियों का आडम्बर रचे) फिरते हो इससे क्या लाभ? परम-सत्य तुमसे दूर हटता जा रहा है। इसलिए ऐ अवधूत किसी सच्चे गुरु की खोज करो और उससे प्राप्त कर नाम की कमाई करो यही सच्चा योग है। जरा मन में विचारकर तो देखो कि नाम के बिना कभी मुक्ति सम्भव हो सकती है'[1]

मन को संयमित करने की अपेक्षा तो है, परन्तु उसके लिए भौतिक-द्रव्यों की ओर आँखें बन्द कर लेने की आवश्यकता नहीं 'कुदरत में कादर का जलवा देखते हुए उसकी महनीयता में विश्वास लाना गुरु नानक को अधिक मान्य है। गुरु-सिक्ख के लिए तो हृदय में बसे परम-सत्य को पहचानना ही मन का संयम है। यही योग का मूल है। मन के स्वभाव का बलपूर्वक अवरोध गुरु नानक का मत कभी नहीं रहा। 'स्वाध्याय (यौगिक दृष्टिकोण से) करने वाला जीव धीरे धीरे गुरु की खोज और उससे नाम प्राप्ति की कामना करने लगता है—यही कामना उसके मन की अन्य कामनाओं को क्षीण बनाती चलती है और संयम की वृद्धि होती है। दुर साहिब लिखते हैं कि इस प्रकार नियमन हुआ मन जब हृदय-निवासित मूल को पहचानता है तो संतमत की योग-साधना का आरम्भ होता है। यह गुरमुख (योगी) श्वास क्रिया की कुम्भक स्थिति की अपेक्षा नाम रूपी पवन को सांसों में भर कर सुविधा-जनक आसन पर रह कर सत्तत्व की खोज कर लेता है। यथा—

---

१ सबदै का निबेड़ा सुणि तू अउधू बिनु नावै जोगु न होई।
नामे राते अनदिनु माते नामै ते सुखु होई।
नामै ही ते सभु परगटु होवै नामे सोझी पाई।
बिनु नावै भेख करहि बहुतेरे सचै आपि खुआई।
सतिगुर ते नाम पाईऐ अउधू जोग जुगति ता होई।
करि बीचारु मनि देखहु नानक बिनु नावै मुकति न होई।
७२ म० १ रामकली सिध गोष्टी पृ ९४६।

इहु मनु निहचलु हिरदै वसीअले गुरमुखि मूलु पछाणि रही ।
नाभि पवनु घरि आसणि बैसै गुरमुखि खोजत ततु लही ।
६५, रामकली सिध म० १ पृ० ९४२ ।

सिद्ध-योगी (गुरमुख) के सम्बन्ध में नानक अनाहत शब्द की पहचान की बात भी करते हैं । लिखा है—

अनहद बाणी गुरमुखि जाणी बिरलो को अरथावै ।
नानक आखै सचु सुभाखै सचि रपै रंगु कबहू न जावै ॥ ६१ पृ० ९४२ ।

योगियों की शून्य-चर्चा पर गुरु-नानक शुन्य (शून्य—गुरमत में अकुर-ब्रह्म को 'सुन्न' कहा है) की सच्ची व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । उनका कथन है "योग-साधना द्वारा तुम भाव अन्दर में शून्य की खोज क्योंकर कर सकते हो ? वास्तव में शून्य अर्थात् अकुर-ब्रह्म अन्दर-बाहर या सुप्त-जाग्रत अवस्था में समान है । तीनों लोक शून्य मय हैं । परन्तु पाप-पुण्य की सीमाओं से तो केवल वही मुक्त हो सकता है जो तीन लोक से परे चौथे पद (तुरिया पद) में साक्षात् वाहिगुरु को पहचान लेता है । वह घट घट में उसी शून्य के दर्शन करता है निरंजन के नाम में लीन होकर स्वयं सतपुरुष रूप हो जाता है ।[1] ऐसा योगी-जीव शरीर की नवदस-इन्द्रियों को संयमित कर चेतना को उनसे ऊँचा उठाता है और वहाँ एक रस-लीन रहने वाले वाहिगुरु का सीस प्राप्त कर लेता है । सतपुरुष से जिसका लगाव है वह सदैव उस सर्वव्यापक को पहचान लेता है । वह गुरु की शिक्षाओं का परीक्षण कर देखता और प्रकट में वही पा लेता है जिसकी गुणों से उसको खोज थी ।[2]"

अत: गुरु मतानुसार गोदड़ी धारण करने डण्डा लेकर चलने शरीर में भस्म लगाने कानों में मुद्राएँ पहनने सिर मुंडवाने अथवा नग्न घूम लेने मात्र से योगोपम सिद्धि नहीं होती । इसके लिए ऐसी मनःशक्ति की आवश्यकता है कि इस मायावी दुनिया में रहते हुए भी जीव ब्रह्म में लीन रहे और समदृष्टि कर विश्व के प्राणी-मात्र को सदा समान समझ सके । यही सच्चा योगी होगा । उसे अकाल के हुक्म का पहचानना

---

१ अंतरि सुंनं बाहरि सुंनं त्रिभवण सुंनमसुंनं ।
चउथे सुंन जो नरु जाणै ता कउ पापु न पुंनं ।
घटि घटि सुंन का जाणै भेउ । आदि पुरखु निरंजन देउ ।
जो जनु नाम निरंजन राता । नानक सोई पुरखु बिधाता ।
५१ रामकली सिध म० १ पृ० ९४३ ।

२ नउ सर सुभर दसवै पूरे । तह अनहद सुंन वजावहि तूरे ।
साचै राचे देखि हजूरे । घटि घटि साचु रहिआ भरपूरे ।
गुपती बाणी परगटु होइ । नानक परखि लए सचु सोइ ।
५३ रामकली सिध म० पृ० ९४४

होगा दुनिया के रहस्य स्वयमेव उसके सम्मुख खुल जाएँगे और तब वह सहसा संसार की गन्दगी से मलीनता हो निर्मल हो जायगा। लिखा है—

हुकमु बूझै सो जोगी एकस एकस सिउ चितु लाए।
सहसा दूख निरमलु होवै जोगु जुगति इव पाए।

१ ७ रामकली अष्टपदी पृ० ९०८

सच्चा योगी तो वह है जो बाहरी आडम्बर की अपेक्षा नाम धुन की किंगरी बजाता और मन को सदा सतपुरुष में लीन रखता है। सत्य की गोदड़ी धारण करता है संतोष के पात्र में नामामृत का भोजन पाता है और हाथ में ध्यान का दण्ड धारण कर विशुद्ध-आत्मा का (तुरी) शंख फूँकता है।[1]

गुरु नानक के उपर्युक्त कथनों और विचारों को सम्मुख रखते हुए हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि यद्यपि अपनी वाणी में उन्होंने योग-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है तथापि उनका योग गुरमति की विशिष्टता और विशेषता लिए है जिसमें गीता के कर्मयोग एवं पातंजलि के राजयोग की झलकियाँ भी मिलती हैं और सन्तमत के सुरत-शब्द-योग का प्रभाव भी। परन्तु, क्योंकि उनकी विचारधारा का आरम्भ और अन्त विश्वास (हुकम) में है तथा नाम ही उनकी नाम-साधना है इसलिए उसका पृथक अस्तित्व मानकर हुकमयोग नाम-योग सहज-योग या नानक-योग कुछ भी नाम दिया जा सकता है। समाधि का लक्ष्य इसमें भी है परन्तु गुरु नानक वहाँ अपना पृथक्-अनुभव भी स्वीकार नहीं करते—अतः समाधि की यही अवस्था गुरु नानक-वाणी में सहजावस्था कहलाती है। इसकी प्राप्ति और स्वरूप हम आगे लिखेंगे।

सहजावस्था प्राप्ति और स्वरूप

योगियों का लक्ष्य कैवल्य है जिसमें वे स्वस्वरूप को देखते तथा आत्म-रूप में स्थित होते हैं परन्तु गुरु नानक का लक्ष्य लीनता है वहाँ आत्म-रूप में स्थिति के अपेक्षा निरंकार में विलीनता का उद्देश्य मुख्य रहता है। यही लीनावस्था 'सहज' कहलाती है। प्रश्न इसकी प्राप्ति का है। योगी लोग यम नियम या आसन द्वारा पहला आक्रमण शरीर पर करते हैं गुरमत का हमला सीधे मन पर है। गुरु साहिब का विचार है कि शरीर तो मिट्टी है वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। मन

---

१ ऐसी किंगुरी वजाइ जोगी जितु किंगुरी अनहदु वाजै हरि सिउ
रहै लिव लाई।
सतु संतोखु पतु झोली जोगी अमृत नाम भुगति पाई।
धिआन का करि डंडा जोगी सिंङी सुरति वजाई।

१ १ एवं २ रामकली अष्टपदी म० १ पृ० ९०८।

ही उसे अच्छे और बुरे मार्ग पर चलाता है। अतः जो मन को संयमित कर बुरे मार्ग से हटा केवल सत् कर्मों हेतु प्रेरित किया जाए तो वह जागरणावस्था मिल सकती है जो प्राणायाम और प्रत्याहार के वर्षों के अभ्यास के बाद योगियों को उपलब्ध होती है।

मन की कुटिलता नाश करने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। जिज्ञासु जब महापुरुषों की धार्मिक वाणियों का अध्ययन कर आध्यात्मिक प्रगति की ओर प्रवृत्त होता है तो सर्व प्रथम उसे किसी पथ-प्रदर्शक महात्मा (सद्गुरु) की खोज करनी पड़ती है। उसके प्रयत्नों की निःस्वार्थता तथा पूर्व-कर्मों की विशुद्धि के कारण यदि उस पर प्रभु-कृपा हो जाए तो गुरु की प्राप्ति होती है। अब जीव (सिक्ख) के लिए मार्ग सीधा है उसे केवल गुरु की इच्छानुसार कर्म करते रहना है, शेष उत्तरदायित्व गुरु पर आजाता है। गुरु-वाक्यों के अभ्यास से धीरे धीरे जीव की हउमै मलिनता का नाश होता है। अहंकार का आवरण हटते ही मन तब अपने शुचिय मन रूप में प्रस्तुत होता है। अब उसमें किसी भी सद्गुण की स्थापना सम्भव है। तब मन गुरु-आदेशानुसार जीवन का व्यवहार चलाता है—बुरे कर्मों से दूर हटता और भले गुणों की अभिवृद्धि करता है। बाद में अन्तर-निवसित नाम की शक्ति (परम ज्योति का अंश) जीव के हाथ लगती है। ध्यान रहे नाम प्राप्ति हउमै के नाश या सद्गुणों की वृद्धि का फल नहीं यह प्रभु की विशेष कृपा का द्योतक है। सत्कर्म करना जीव का कर्तव्य है उस पर कृपा करना प्रभु की इच्छा। यदि यहाँ नाम प्राप्ति को मनुष्य के सत्कर्मों का फल मान लिया जाए तो निश्चय ही जीव में कर्माभिमान का संभव हो सकता है—और यह सब गुरुमत में वर्जित है। नाम प्राप्ति के इस करम-बीज रूप के सम्बन्ध में गुरु अर्जुन देव लिखते हैं—

सरब रोग का अउखदु नामु। कलिआण रूप मंगल गुण गाम।
काहू जुगति कितै न पाईऐ धरमि।
नानक तिसु मिलै जिसु लिखिआ धुरि करमि।

१ ॥ गउड़ी सुखमनी म० ५, पृ० २७४।

हउमै के नाश तथा नाम की प्राप्ति से मन स्थिर होता है। सहजावस्था की ओर बढ़ने के लिए जीवात्मा को अब दसवें-द्वार या बीज-पद (तुरिया-पद) में प्रवेश करना अनिवार्य है। प्रश्न उठता है यह दसवां द्वार है कहाँ? बाहरी शरीर की रचना कुछ इस प्रकार की है कि उसमें नौ बाह्य-छिद्र हैं और ये प्रायः ऐन्द्रिक ज्ञान अथवा बाहरी आकर्षण का कारण बनते हैं। गुरु-सिक्ख को इन द्वारों से निर्लिप्त हो अन्तर्मुखी होना अपेक्षित है। ऊपर कहा गया है कि नाम मानवान्तर में ही रहता है। "दसवां द्वार वह है जहाँ अभेद-रूप निरंकार के नाम का भण्डार है। अर्थात्

जहाँ हमारे अन्तःकरण में निरंकारी-ज्योति का वास है वही दसम-द्वार है।[1] तीसरी पातशाही गुरु अमरदास स्पष्ट कहते हैं—

—नउ दुआरे परगटु कीए दसवा गुपतु रखाइआ ।

× × ×

तह अनेक रूप नाउ नवनिधि तिस दा अंत न जाई पाइआ । कहै नानक हरि पिआरे ।
जीउ गुफा अंदरि रखि कै वाजा पवणु वजाइआ । ३८ ।

रामकली अनंद म० ३ पृ० ९२२ ।

अभिप्राय यह कि दसवाँ-द्वार भी अंदर ही है परन्तु गुप्त है। उसमें नाम-निधि संजोई गई है परम-सत्य की ज्योति से वह स्थान चिर-प्रकाशित है बस केवल उस द्वार को खोलने और उसमें प्रवेश करने की देर है कि जीव उस निरंकारी-ज्योति से मिलाप कर सकता है जोकि गुरमति का लक्ष्य भी है। गुरु साहिब का विश्वास है कि दसवाँ-द्वार मात्र नाम-जाप से ही खुल सकता है।[2] द्वार खुलने पर जीवात्मा निरंकारी-ज्योति में लीन होता है और वहीं अमृत-पान तथा अनहद शब्द श्रवण करता है। (योगी-जन अनहद शब्द-श्रवण दसम-द्वार से पहले स्वीकार करते हैं और उस शब्द की केवल पाँच प्रकार की ध्वनियाँ मानते हैं परन्तु गुरु नानक इन ध्वनियों को असंख्य मानते हैं और श्रवण-समय दसम-द्वार खुलने पर)। गुरु नानक लिखते हैं।

गुरमति रामु जपै जनु पूरा । तितु घटि अनहत बाजे तूरा ।
२ १६ गउड़ी गुआरेरी म० १ पृ० २२८ ।

और भी—

अनहदो अनहदु वाजै रुण झुणकारे राम ।
मेरा मनो मेरा मनु राता लाल पिआरे राम ।
अनदिनु राता मनु बैरागी सुंन मंडलि घरु पाइआ ।
आदि पुरखु अपरंपरु पिआरा सतिगुरि अलखु लखाइआ ।

---

१ भाई जोधसिंह जी गुरमति निर्णय पृ० २१२ ।

२ नउ दरवाजे काइआ कोटु है दसवै गुपतु रखीजै ।
बजर कपाट न खुलनी गुर सबदि खुलीजै । १५ वार रामकली म० ३ पृ० ९५४ ।

तथा

देही नगरी नउ दरवाजे । सिरि सिरि करणै हारै साजे ।
दसवै पुरखु अतीतु निराला आपे अलखु लखाइआ ।
४ २ १८ मारू सोलहे म० १ पृ० १०३९ ।

भासकि बसकि सिव मारारहु तिनु मनु राता बीचारे ।
नानक नामि रते बैरागी अनहद रुण झुणकारे ।
१ २ आसा छंत पृ० ४३६ ।

पुनः अनहद शब्द किस के हृदय में प्रकट होता है ? निर्णय देते हुए भाई साहिब जोधसिंह लिखते हैं 'अनहद शब्द वहीं प्रकट होता है जिस घट में गुरमति ग्रहण करके नाम जाप होता है। श्रवण उस समय किया जाता है जब जीवात्मा निरंकारी-ज्योति में मिलाप करती है।'[1] अस्तु जीव द्वारा गुरु-शब्दों को ग्रहण करना, मन को स्थिर कर नाम जपना तथा स्मृति द्वारा शून्य पर परम-ज्योति से एकता स्थापित करना ही गुरमति में सहजावस्था की प्राप्ति है।

सहजावस्था का स्वरूप इससे भिन्न प्रश्न है। इसकी अभिव्यक्ति नाम-जाप के साक्षात्कार में है। इसमें के नाम एवं मन की स्थिरता से आन्तरिक-ज्योति द्वारा ही नाम की उपलब्धि होती है—यह पीछे लिखा जा चुका है। यहाँ जीव मौखिक रूप में नाम-जाप करता है। (योग-साधना में धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया गया। किसी वस्तु विशेष से मन को टिकाना—'धारणा', मन में निरन्तर उसी का विचार बनाए रखना—'ध्यान' तथा अन्ततः वस्तु का नाम रूप त्याग कर उसके अर्थों का ध्यान करना—समाधि है। गुरमति में नाम-जाप के समय की समाधि का स्वरूप यही है। परन्तु क्योंकि निरंकार का कोई रूप नहीं इसलिए यहाँ रूप-कल्पना के बगैर ही मन को टिकाने की साधना का समर्थन किया जाता है। दूसरे नाम-जाप के लिए योग शास्त्र में पातंजलि ने ब्रह्म के अनेक नामों में से 'ओ३म' नाम सम्मानित किया है, गुरमति में निरंकार के अनेक नामों से जाप के लिए एक का चुनाव दशम पातशाह ने 'वाहिगुरु' किया है। यह केवल वर्णाचार है यहाँ राम, नारायण, अल्लाह या मास्टर कुछ भी जप सकता है।) धीरे धीरे, जाप जिस नाम को दोहराती है उसका ध्यान पहले से ही शुद्ध और स्थिर मन पर अंकित होने लगता है। आखिर जिस ध्यान का रूप जीवात्मा 'शब्द' द्वारा दोहराता था वह हृदय की आवाज बन जाता है। यहाँ स्थिति आ जाती है जो योग-समाधि में उस वस्तु की थी जिस पर मन टिकाया गया था अर्थात् नाम रूप या शब्द की आवश्यकता ही नहीं पड़ती अपने आप मन में सदैव ही सत्य का स्मरण होने लगता है। जिस प्रकार की अनहद ध्वनि की उसी तरह अन्दर से नाम की ध्वनि स्वयं ही उठती है। बस यही सहजावस्था का स्वरूप है।

गुरु अर्जुनदेव जी ने सहजावस्था की प्राप्ति और स्वरूप का एक सुन्दर रूपक-मय चित्र प्रस्तुत किया है। लिखते हैं—

---

१ गुरमति निर्णय (पंजाबी), पृ० २१६।

प्रथमे तिआमी हउमै प्रीति । दुतीआ तिआमी लोगा रीति ।
त्रैगुण तिआगि दुरजन मीत समाने । तुरीआ गुणु मिलि साध पछाने ।
सहज गुफा महि आसणु बाधिआ । जोति सरूप अनाहदु वाजिआ ।
महा अनंदु गुर सबदु वीचारि । प्रिअ सिउ राती धन सोहागणि नारि ।

२ १ आसा घरु २ म० ५ पृ० ३७० ।

अर्थात् आत्मा रूपी नारी को (पतिव्रता) चिर-सुहागिन (पति-प्राप्ति प्रभु-मिलन या सहजावस्था) बनने के लिए सर्वप्रथम हउमैं रूपी औरस प्रेम का त्याग करना होता है और बाद में समाज के देखाव-बनाव से सम्बन्ध तोड़कर पति की ओर अग्रसर होना पड़ता है। पुन: तीनों गुणों (सत्व रज तम) का त्याग कर अपने को पति में लीन कर देना होगा। पति (प्रभु) की कृपा प्राप्त करने के लिए उसी के द्वार (दसवाँ द्वार) पर धरना लगाना होगा तभी वह ज्योति-स्वरूप (पति-परमेश्वर) कृपा कर द्वार खोलता है और पत्नी (आत्मा) को अपना लेता है अर्थात् अपनी ज्योति में विलीनता प्रदान करता है। वहाँ उसे (आत्मा रूपी नारी को) अनहद ध्वनियों का संगीत (भारतीय परम्परा में ज्योति और संगीत प्रसन्नता प्रकट करने के द्योतक हैं) मिलेगा और वह चिर-सुहागिन हो जाएगी। अपने मन में पति का चित्र बिठा लेगी तब उसको नाम लेने की उसे आवश्यकता नहीं। (यही आत्मा के लिए सहजावस्था है)—परन्तु इस महानन्द को प्राप्त करने का बीज कहाँ है?

—गुर सबदि वीचारि ।

नाम का महत्त्व[1]

साधारणत: किसी भी व्यक्ति वस्तु या स्थान का रूप-गुण दूसरे पर अभिव्यक्त करने के लिए विशिष्ट संकेत की आवश्यकता पड़ती है। वही संकेत नाम होता है। परन्तु गुरबाणी में नाम कोई रूप-गुण बताने वाला संकेत नहीं बल्कि परम-ज्योति की अनन्त शक्ति को कहा गया है। निरंकार के समस्त आकार और निरंजन की सम्पूर्ण रचना 'नाम' में सम्मिलित है। वह केवल संज्ञा नहीं। नाम सर्वव्यापक है और स्वयं निरंकार ने उसकी रचना की है—

आपी नै आपु साजिओ आपी नै रचिओ नाउ ।

वार आसा म १ ।

नाम सतपुरुष का अंगद है और निरंकारी-व्यापित के रूप में घट घट में बसता है। गुरबाणी में इसका उच्च मूल्यांकन किया गया है। मनुष्य-जीवन का वास्तविक

---

1 Name is the link of the finite soul with its parent Infinite God
Dr Sher Singh in Philosophy of Sikhism p. 233

लक्ष्य और जन्म की सफलता नाम को पा जाने में ही निहित है। सतपुरुष से ऐक्य प्राप्त करना नाम के माध्यम से ही सम्भव है।[1]

गुरु नानक मतानुसार जीव के दुष्कर्मों का अन्त तथा उसमें सद्गुणों की उत्पत्ति केवल नाम-स्मरण जाप एवं कीर्तन से ही हस्तगत होती है।[2] नाम के पहचानने का यही तरीका है। गुरु-विचारानुसार नाम-स्मरण ऊँची और सच्ची प्रभु भक्ति है। नाम-गुण-गान करने वाला सतपुरुष को सम्मुख पाता है।[3] मानव की सच्चाई नाम युक्त कर्मों में ही है। नाम विहीन कर्मों का कोई मोल नहीं—

कूड़ कमावै आवै जावै कहणि कथनि वारा नहीं आवै।
किआ देखा सूझ बूझ न पावै, बिनु नावै मनि तृपति न आवै।

२ ११ आसा पृ० २१८।

नाम ही गुरमुख का वास्तविक कर्म-धर्म है। नाम रस में लीन होने वाले

तुलना कीजिए—

१ भिन्न-भिन्न प्रथाओं के भीतर नाम की उपासना सर्वतोमुखी है। आप लोगों में से जिन्होंने पुराने ईसाई धर्म व अन्य प्राचीन धर्मों का अध्ययन किया है उन्होंने इस बात पर अवश्य ध्यान दिया होगा कि उन सभी में इस नाम की उपासना का विचित्र विचार स्थिर है। नाम बहुत ही पवित्र कहा गया है 'परमात्मा के नाम में'। आप लोगों ने पढ़ा होगा कि हिब्रू लोगों में ईश्वर का नाम इतना पवित्र माना जाता था कि साधारण लोगों के लिये इसका नाम लेना भी मना था वह बहुत ही पवित्र था सभी नामों में वह पवित्रतम था हिब्रू लोग समझते थे कि यह नाम ही परमात्मा है। यह भी सत्य ही था क्योंकि यह ब्रह्माण्ड नाम और आकार के सिवा है ही क्या? क्या आप शब्दों के बिना विचार कर सकते हैं? शब्द और विचार अलग नहीं हो सकते। यदि हो सकते हों तो तनिक प्रयत्न करके देखिये। जब कभी भी आप विचार करते हैं तो शब्दों द्वारा। शब्द अन्तर्भाग है विचार बाहरी उन्हें एक साथ ही रहना चाहिए। वे अलग नहीं हो सकते। एक के साथ दूसरा आता है शब्द के साथ विचार विचार के साथ शब्द।

भक्ति और वेदान्त—स्वा० विवेकानन्द

२ नामी मैलु मिटै सचु पाइ। गुर प्रसादि रहै लिव लाइ।

१ ११ आसा म० १ पृ० ४१२।

नामि रतु मनु निरमलु होइ। हरि गुण गावै हउमै मलु जाइ।

४ बिलावलु, म० १ सतवार, पृ० ८४१।

अहिनिसि नामु जपहु रे प्राणी मैले हछे होहि।

५ १ मलार म० १ पृ० १२५४।

३ गावै को ———————— गावै को वेखै हादरा हदूरि।

पउड़ी ३ जपुजी पृ० २।

जीव ही अन्ततः हरि में लीन होते हैं। ऐसे महापुरुषों की संगति भी मुक्ति का कारण हो सकती है।[1] जपुजी में तो गुरु नानक ने नाम की व्यापकता और महत्ता का निर्णय 'बिनु नावै नाही को थाउ' कह कर दिया है।

'नाम' जीव के अन्तर में ही विद्यमान है।[2] कहीं बाहर से लेने नहीं जाना। परन्तु जीव का अपने आप उस तक पहुँच सकना लगभग दुष्कर है। नाम की आन्तरिक वास्तविकता पर मनुष्य की अतीव प्रसरित वृत्तियों का आवरण पड़ा है। अहं भाव में पथभ्रष्ट मनुष्य चाहते हुए भी अन्तर्मुखी नहीं हो पाता। जब तक हउमै का अन्त न कर दिया जाय नाम की उपलब्धि संदिग्ध है। इस लिए जीव को जीवन का स्तर बदलना होगा किसी ऐसे अनुभवी महापुरुष की खोज करनी होगी जो अपनी असीम कृपा और सहानुभूति से उसे वह मार्ग दिखा सके जिसके अनुसरण से मन की हउमै का नाश हो जाता है। केवल ऐसे ही किसी सद्गुरु की शरण में जाने उसके आदेशानुसार कर्म करने तथा उसके गुण गान से ही गुरु-कृपा की विभूति द्वारा हउमै का नाश हो सकेगा। नाम की प्राप्ति के लिए अब जिज्ञासु को अपने जीवन में सदाचार तथा उन्नत विचार सरीखे सद्गुणों की वृद्धि करनी होगी। इस पर जो प्रभु-कृपा हुई तो सौभाग्य-वश वह जीव नाम का अधिकारी होगा। गुरु को प्राप्त कर हउमै का नाश करना और तृष्णा को छोड़कर सद्गुणों की अभिवृद्धि करना नाम प्राप्ति का हेतु बन सकता है परन्तु प्रभु-कृपा की अनुपस्थिति में इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का कोई लाभ नहीं है।[3] जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है नाम उपर्युक्त सत्कर्मों का फल कदापि नहीं फल की भावना आने से कर्म-क्षेत्र में निष्काम-वृत्ति का अन्त हो जायगा जो स्वभावतः ही पूर्वाध्याय में बताए गुरु नानक के विचारों का विरोधी आधार होगा। यहाँ प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब हउमै-नाश तथा अन्य सत्कर्म रूपी प्रयत्नों से नामोपलब्धि नहीं होती प्रभु-कृपा और सद्भाग्य की अपेक्षा रहती है तो वे चारित्रिक प्रयत्न क्यों किये जाएँ? उत्तर में कहा जा सकता है कि कृपा के अभिलाषी के लिए

---

१ करम धरम सचु साचा नाउ ताकै सद बलिहारै जाउ।
जो हरि राते से जन परवाणु तिन की संगति परम निधानु।
१ १४ आसा म० १ पृ० २५१।

२ नउ निधि अमृत प्रभ का नामु देही महि इसका बिस्रामु।
१ २१ पउड़ी सुखमनी म० ५ पृ० २९३।

३ सच मती सच नाम की जो कीजै सो ताइ।
तिसहि परापति नानका जिसनो लिखिआ आइ।
१ १२ श्लोक म० ५, वार गउड़ी म० ५ पृ० ३२१।

अथवा

जा तिसु भावा तद ही गावा। ता गावे का फल पावा।
१ १ १२ सोरठ, म० १ पृ० ५९९।

आवश्यक है कि वह पहले कृपा-पात्र बने। उक्त प्रयत्न उसे दुर्गुणों से मुक्त कर प्रस्तुत करते हैं अतः अपेक्षित हैं।

नाम-जाप के माध्यम से ही आत्मा अन्तर्यामी बनता है। जीवात्मा दसम-द्वार के पार निरंकारी ज्योति का दर्शन करता है और निरन्तर नाम-गुण गान से उसे ज्योति लीनता का महत् लक्ष्य भी प्राप्त होता है। सहजावस्था में जब नाम हृदय में बस जाता है, मन उसके रंग में रंग जाता है (यही नाम-जाप अथवा स्थिति में होता है) तो मन की प्रत्येक प्रेरणा नामाधारित हो जाती है। योगी-जन लक्ष्य प्राप्त कर आत्म-स्थित होते और दुनिया से जुदा हो जाते हैं परन्तु गुरसिक्ख सहज भाव में नाम जाप तथा जीवन-मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भी निष्क्रिय नहीं हो जाता। वह अब दिव्य-दृष्टि रखता है अतः प्रत्येक वस्तु में अनन्त का हुकम देखता है। संसार का प्रत्येक कर्म जो हुकम-वश हो रहा है उसके लिए आकर्षक होता है क्योंकि उसमें उसे अपने प्यारे (प्रभु) की करामात दीख पड़ती है। और वह उसी आकर्षण में लोक-कल्याण का मार्ग ग्रहण कर समाज का परोपकारी जीव बन जाता है। अर्थात् कर्म से भी नाम जपता है।

गुरमत में नाम को मनुष्य-जन्म की सबसे बड़ी विजय माना गया है। गुरु नानक लिखते हैं कि नाम जपने वाला सदैव परमानन्द का भागी बनता है वह कभी दुःख रूपी यम के तीरों से नहीं बींधा जा सकता। नाम जपने से हउमैं का नाश होता है सत्ज्ञान की प्राप्ति होती है और गुरमुख को सचखण्ड प्रवेश का अधिकार मिलता है।[1] नाम ही मात्र मुक्ति का द्योतक है अन्यथा यहां मनुष्य का कोई रसाई नहीं—

नामि विहूने आदमी कलर कंध गिरंति।
विणु नावै किउ छूटीऐ जाइ रसातलि अंति।

१२ रामकली दखणी म० १ पृ० ९३४।

वास्तव में अन्तर की खोज करने वाला जिज्ञासु जीवन की एवं जीवनेत्तर समस्त निधियों को प्राप्त करता है। लिखा है—

जिनि अन्दर भालिआ गुर सबदि सुहावै।
जो इछनि सो पाइदे हरिनामु धिआवै।
जिसनो क्रिपा करे तिसु गुरु मिलै सो हरि गुण गावै।
धरमराइ तिन का मितु है जम मगि न पावै।
हरिनाम धिआवहि दिनसु राति हरि नाम समावै।

१४ मारू सोलहे पृ० १०११।

---

[1] जिनि जपिआ निरंकारी मुखु पाइआ हरि कै नामि न लगै जम तीरु।
नामु विसारि पचहि अभिमानु। नाम बिना किआ गिआनु धिआनु।
गुरमुखि पावहि दरगहि मानु। १ १-२ १ रामकली पृ० ९०२।

अन्त में हम इतना और कहेंगे कि 'नाम' और 'नामी' का स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण जहाँ नाम होगा वहाँ नामी होगा ही। नामी के अभाव में नाम का अस्तित्व असम्भव है। अतः स्पष्ट है कि जिस हृदय में प्रभु का नाम जपा जायगा वहाँ सत्पुरुष स्वयं प्रकट होगा। यहीं जीव और ब्रह्म का मिलन हो जायगा—मुक्ति मिलेगी।

नाइ मंनिऐ सुख ऊपजै नामे गति होई।
नाइ मंनिऐ पति पाईऐ हिरदै हरि सोई।
नाइ मंनिऐ भवजलु लंघीऐ फिरि बिघनु न होई।
नाइ मंनिऐ पंथु परगटा नामे सभ लोई।
नानक सतिगुरि मिलीऐ नाउ मंनिऐ जिन देवै सोई।

१ सारंग की वार, म १ पृ० १२४१।

ज्ञानयोग

पीछे योग का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा जा चुका है कि आत्मा और परमात्मा के मिलन (योग) का जो साधन समय-समय पर लक्षित किया गया वही विशिष्ट 'योग' अथवा 'मार्ग' कहलाया। ज्ञानयोग अथवा ज्ञान-मार्ग उन्हीं आध्यात्मिक साधनों में से एक है। मनुष्य बाह्य-प्रवृत्तियों से पराभूत हो अपनी यथार्थता को भूल चुका है लौकिक आनन्द के पीछे अलौकिकता का आभास भी लगभग उसे नहीं रहा तो भी वह प्रसन्न है और समझता है कि वह सब कुछ है—बस यही अज्ञान है। बालक की भाँति अपने भोलेपन से कल्पना की उड़ानें लेने मात्र को मानव ने ज्ञान समझ लिया है किसी तथ्य की वैज्ञानिक-व्याख्या का वह ज्ञान की परिभाषा देता है और मान लेता है कि वह सब सोचने वाला जो विश्व का अन्य कोई प्राणी नहीं सोच सकता अवश्य ज्ञानवान् ही है। परन्तु नहीं यही उसका अज्ञान है। भौतिक-ज्ञान वास्तव में प्रभु-मिलन का साधन नहीं बन सकता यद्यपि कभी-कभी वह सत्पथ और पथ भ्रष्टता का कारण अवश्य बनता है। सद्ज्ञान केवल जानने का नाम नहीं जानना और अस्तित्व को पहचानना दोनों बातें सद्ज्ञान की संयुक्त निधि है। इसी लिए अन्तःअनुभूतियों (Intuition) के माध्यम से परिमित और अपरिमित आत्मा के संयोग को ज्ञानयोग कहा जाता है।[1]

मनुष्य प्रकृति का जीव है उसीमें विचरण करता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के

तुलना कीजिए—

१ माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरतते हैं ऐसे समझकर तथा मन इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण-क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्व-व्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा के एकीभाव से स्थित रहने का नाम ज्ञान-योग है। भगवद्गीता पृ० १६६ पाद-टिप्पणी (छोटा-संस्करण

भिन्न गुणों के सापेक्ष में जैसे जैसे अनुभव उसे प्राप्त होते हैं वैसे ही उसके ज्ञान का क्रम विकास होता है। यही कारण है कि जब उसकी मूल शक्ति तमोगुण से अनुभूत होती है वह अपने शरीर को ही अपना वास्तविक-अस्तित्व समझने का ज्ञान प्राप्त करता है। यही अनुभव जब रजोगुण से प्रभावित होता है तो मनुष्य अपने को अन्य सबसे पृथक एक इकाई समझने लगता है और अपने पराए का ज्ञान प्राप्त करता है। सात्त्विक-अनुभवों से पराभूत हो उसको विश्व की सम-रसता और किसी एक शक्ति द्वारा शासित होने की सूझ पड़ती है। साधारणतः इन तीनों गुणात्मक ज्ञानों को सामान्य ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान तथा दार्शनिक-ज्ञान कहा जा सकता है।[1] सात्त्विक अथवा दार्शनिक-ज्ञान पर्याप्त उच्च कोटि का ज्ञान है क्योंकि एकत्व पर ज़ोर देता हुआ बहुत्व में एकत्व की स्थापना करता है।[2] परन्तु उक्त तीनों कोटियों का ज्ञान प्राप्त कर लेना ज्ञानयोगी का लक्ष्य नहीं। वह तो इनसे बहुत दूर के महालक्ष्य को दृष्टि में रख चरम-लक्ष्य पकड़ना अपना कर्तव्य समझता है। उसका लक्ष्य है आध्यात्मिक ज्ञान जोकि आत्मा का स्वरूप है—आत्मा के साथ अभिन्न है।[3] मानवीय सूझ और मनन के क्षेत्र में यह ज्ञान उच्चतम है। ज्ञान के मानदण्ड पर किसी वस्तु को परखने के लिए क्रमशः बाह्येन्द्रियाँ मस्तिष्क मन तथा आत्मा कार्यान्वित रहते हैं। बाह्येन्द्रियों का कार्य केवल आकृति बनाना है मस्तिष्क आकृति को समझता है मन उस आकृति की पूर्व-संस्कारों से तुलना कर उसे निर्णीत करता है और तब आत्मा वस्तु-विषय की पहचान से होने वाले आनन्द का पान करता है। उक्त आनन्द की प्राप्ति ही वस्तु-विषय का यथार्थ ज्ञान कहा जाएगा।

अब प्रश्न उठता है कि प्रत्येक प्राणी के अन्दर आत्मा अवस्थित है फिर भी वह परम ज्ञान का अधिकारी क्यों नहीं हो पाता? कठोपनिषद्[4] में इसका बड़ा निगमात्मक उत्तर इस प्रकार दिया गया है—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। अर्थात् ईश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी रहने का नियम बनाया है इसीलिए मनुष्य बाहरी विषय-वासनाओं की ओर आकृष्ट होता है अन्तरात्मा को नहीं देख पाता। वास्तव में अन्तर की शक्ति ही सर्वत्र शासन कर रही है 'जो यहाँ है वही वहाँ भी है जो वहाँ है वही यहाँ भी है'।[5] परन्तु माया के भ्रमात्मक आवरण के कारण (Reflective Glasses) प्रकाशक-शीशों में से दिखने वाली वस्तु की तरह एक ही अनेक में परिणत हो गया है। जीवात्मा बाहरी और

१ गीता रहस्य—बाल गंगाधर तिलक।
२ भगवद्गीता—XIII १६।
३ ज्ञानयोग—आत्मा का मुक्त-स्वभाव ले० विवेकानन्द पृ० ३१०।
४ कठोपनिषद् २ १ १।
५ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। कठोपनिषद् अ० वल्ली श्लोक २ १ १०।

भौतिक-ज्ञान के रंग में धीरे धीरे इतना रंगता चला जाता है कि स्वयं अपना रंग ही खो बैठता है। यही कारण है कि साक्षात् ज्ञान का रूप आत्मा प्रत्येक भूत में निवसित रहने पर भी सभी मनुष्य परम-ज्ञान के अधिकारी नहीं बन पाते। जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर बाह्य-वस्तु के रूप भेद से भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है इसी प्रकार सब भूतों की वह एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस वस्तु का रूप धारण किए हुए है और सबके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में प्रविष्ट होकर नाना वस्तुओं के भेद से तद्रूप हो गई है, इसी प्रकार सब भूतों की वही एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस उस रूप की हो गई है और उनके बाहर भी है'।[1] "इस बहुत्वपूर्ण जगत् में जो उस एक को इस परिवर्तनशील जगत् में जो उस अपरिवर्तनशील को अपनी आत्मा की आत्मा के रूप में देखता है अपना स्वरूप समझता है वही मुक्त है वही आनन्दमय है उसीने लक्ष्य (परमज्ञान) की प्राप्ति की है।"[2] अत आत्मा के स्वरूप को पहचानने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अन्तर्मुखी बने। बाहरी सीमाओं तक सीमित कोई भी शक्ति आत्म-ज्ञान प्रदान करने में अधूरी ही रही जायगी। श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर जोर दिया गया है कि वेदाध्ययन सेवा-भक्ति दान पुण्य आदि कर्मों से आत्म-दर्शन कभी सम्भव नहीं।[3] लक्ष्य-सिद्धि के लिए क्षेत्र तैयार करने की आवश्यकता है। विशुद्ध आत्मिक-ज्ञान को पाने के लिए इन्द्रियाँ बुद्धि और मन तीनों को संयत करना अपेक्षित है।

ऐसा संयमी महामानव ही ईश्वर-कृपा का अधिकारी बनता है। जिस पर वह अपरिमित-आत्मा प्रसन्न हो उसे ही अपना स्वरूप दिखाता है।[3] अत जिज्ञासु का मुख्यतम कर्तव्य है अपने मन-बुद्धि आदि का विशुद्धिकरण। योगी द्वारा यम और नियमों का पालन इसी लक्ष्य-हेतु किया जाता है। प्राणायाम द्वारा वह भावों को भी संयत कर लेता है और अपरिग्रह द्वारा तृष्णा की कल्पना का त्याग कर जब वह ध्यान लगाता है तो स्वभावत ही आत्मा के ऊपर अज्ञान और भ्रम-वश पड़ जाने वाले पर्दे हट जाते हैं और उसका यथार्थ रूप योगी पर प्रकट होता है। ज्ञानी-साधक के लिए भी आवश्यक है कि वह अपने चित्त को बाहरी आकर्षणों से हटाए, अन्तरात्मा पर केन्द्रित करे उसकी आवाज सुने और फिर अपनी अपूर्ण आत्मा में पूर्ण-आत्मा का साक्षात्कार करे। यह साक्षात्कार ही ज्ञान का द्योतक होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं 'जिसने अन्तःकरण और शरीर को जीत लिया

१ कठोपनिषद् अ० २ वल्ली० २ श्लोक ९ १०। स्वा० विवेकानन्द द्वारा 'बहुत्व में एकत्व' भाषण में उद्धृत।

२ स्वा० विवेकानन्द द्वारा अमरत्व (ज्ञानयोग में संगृहीत) में उद्धृत पृ० २२५।

३ गीता XI ५३ XVIII ५५ ५८ ६२ ६५ ६६ आदि।

है बाहरी भोगों की सम्पूर्ण-सामग्री का त्याग कर दिया है और निष्कामता वश शारीरिक कार्य करता रहता है, वह कभी पापों को प्राप्त नहीं होता।[1] (अर्थात् वह परम-ज्ञान को पा लेता है) "जब सारी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं जब मनुष्य उनको अपना दास बनाकर रखता है जब वे मन को चपल नहीं कर सकतीं तभी योगी परमगति को प्राप्त होता है।[2]

उपर्युक्त सब उद्धरणों का आशय एक ही है—ज्ञान की प्राप्ति आत्मा की पहचान से सम्भव है और यह तब तक सम्भव नहीं कि जब तक मनुष्य मन वचन और कर्म से संयत जीवन-यापन नहीं करता। जिज्ञासु की प्रस्तुत स्थिति उसे अपनी अन्तरात्मा को पहचानने का सामर्थ्य देगी। तभी वह जानेगा कि उसकी आत्मा (चेतन) अनात्मा (जड़ या प्रकृति) या उसके गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। उक्त सूत्र का समवाय रूप 'कर्म आत्मा की प्रेरणा का विषय नहीं' भी स्पष्ट हो जायगा। प्रश्न रह जाएगा 'आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध' को जानने का। मानव जाति की आज तक की बड़ी भूल यही रही कि विश्व की विभिन्न-विचित्रता को देखकर वह इससे बाहर उसके कारण या कर्त्ता को खोजने लगी। अतः कारण को घटना से बाहर ढूंढने के प्रयास में जिज्ञासु प्रायः ऐसी अनियमित और असत्य कल्पनाएँ (माया) करने लगे जिनका घटना से कोई सम्बन्ध नहीं। यथार्थ ज्ञान के मार्ग में यह बात भयंकर बाधास्वरूप बनी रही और सत्य मानव से कोसों दूर रहा। जब-जब कार्य में ही कारण की खोज हुई माया-रहित ज्ञान की निधि मिली। इसी ज्ञान-निधि से मनुष्य ने आत्मा को पहचाना और जान लिया कि चिर-चेतन आत्मा ही उसकी मानवता की वास्तविकता है। अब प्रश्न उठा कि जब 'प्रत्येक मनुष्य में एक अविनाशी और स्थिर आत्मा है तो उन आत्माओं में विचार भाव तथा सहानुभूति की एकता होनी चाहिए। मेरी आत्मा किस यंत्र के द्वारा किस प्रकार तुम्हारी आत्मा को प्रभावित कर सकती है? मेरे हृदय में तुम्हारी आत्मा के विषय में कोई भाव या विचार कैसे उत्पन्न होता है? वह क्या है जिसका सम्बन्ध हम दोनों की आत्माओं से है? इसलिए एक ऐसी आत्मा मानने की वैज्ञानिक-आवश्यकता है जिसका सम्बन्ध सभी आत्माओं और प्रकृति से हो। यह सभी आत्माओं में व्याप्त विश्व की उपास्य परमात्मा है। (साथ ही परिणाम यह भी निकलता है कि आत्मा के स्थूल प्रकृति से बड़े होने के कारण वह उन नियमों में बाध्य न होगी। हमारे प्राकृतिक-नियम उसपर लागू न होंगे इसलिये वह अविनाशी और स्थिर होगी)।[3] अस्तु अब उस तीसरी

---

१ गीता अ० ४ श्लोक २१।

२ कठोपनिषद् अ० २, वल्ली ३ श्लोक १०।

३ स्वामी विवेकानन्द भक्ति और वैराग्य वेदान्त पर १२ नवम्बर १८९७ को लाहौर में दिया गया व्याख्यान।

अवस्था का जागरण होगा जब साधक जान लेगा कि उसकी तथा अन्य किसी की आत्मा में कोई भेद नहीं बल्कि सबकी आत्माएँ परम-आत्मा की अंश हैं। उसे पता चलेगा कि आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं—तत्त्वमसि।

सार यह कि परम ज्ञान का परम जिज्ञासु जब संसार के मिथ्या आकर्षणों से हटकर संयत-मन से अपने को पहचानने को कटिबद्ध होता है तो प्रभु-कृपा से उसे क्रमशः तीन बातों का ज्ञान होता है—

१ आत्मा प्रकृति और उसके गुणों से भिन्न है।

२ वह कर्म-प्रेरणा का कारण नहीं।

३ आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्व हैं।

प्रस्तुत ज्ञानोद्घाटन जिज्ञासु के लिए भगवत्प्राप्ति और परम शान्ति का कारण बनता है। जैसा कि गीता में कहा गया है सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में बर्फ में जल के सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है अर्थात् जैसे स्वप्न से जगा हुआ पुरुष स्वप्न के संसार को अपने अन्तर्गत संकल्प के आधार पर देखता है वैसे ही पुरुष सम्पूर्ण भूतों को अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा के अन्तर्गत संकल्प के आधार पर देखता है[१]। और जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मेरे अन्तर्गत देखता है। उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता क्योंकि वह मेरे में एकीभाव से स्थिर है।[२]

ज्ञान आनन्द का कारण—आत्मा और परमात्मा की तात्त्विक एकता को जान लेने पर भौतिक-निमित्तों के प्रति मनुष्य का असार मोह स्वयमेव नष्ट हो जाता है। महात्मा-बुद्ध ने कहा था कि दुनिया-भर के कष्टों का एक मात्र कारण है—मोह या लगाव। मोह बन्धन काट दिये जाएँ तो कष्टों से मुक्ति मिलती है और मनुष्य परमानन्द का अधिकारी बनता है। म० बुद्ध का यह कथन ज्ञानमयी हो जिन चार सत्यों[३] पर आधारित है वही ज्ञान है और उसकी प्राप्ति मानव-जीवन में शान्ति

---

१ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।
अध्याय ६ श्लोक २९।

२ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति। VI ३०।
ऊपर इन श्लोकों की साधारण टीका श्रीमद्भगवद्गीता के छोटे संस्करण का अनुकरण मात्र है।

३ (क) संसार में दुःख है। (ख) दुःख का कारण है। (ग) कारण हटा देने से दुःख से मुक्ति मिल सकती है। (घ) कारण हटा देने का एक मार्ग भी है—अष्टमार्ग।

और आनन्द का जो स्वरूप बौद्ध-दर्शन में प्रस्तुत करती है, वही स्थिति उच्च कोटि की ज्ञानप्राप्ति पर ज्ञानी को उपलब्ध होती है अर्थात् वह संसार के दुःखों कष्टों से मुक्ति पाकर असीम आनन्द को प्राप्त होता है। मनुष्य के ज्ञान प्राप्त करने की पहली शर्त ही यह है कि वह इन्द्रियों को बहिर्मुखी होने से रोके। ऐसा करने से जिज्ञासु का मार्ग निर्विघ्न हो जाता है और वह अन्य ऐसे कर्मों की ओर प्रेरित नहीं होता जो उसे संसार के भोग विलासों में फँसाए रख सकें। वह यह भी जान लेता है कि सदात्मा कर्मों की प्रेरक कभी नहीं। ऐसे में क्योंकि वह कोई कामना-युक्त कर्म नहीं करता वह दुःखी नहीं होता। क्योंकि इच्छित कामना ही तो वास्तव में कष्ट का कारण होती है। उसे वह पहचान लेता है। अस्तु कर्मों के बन्धन से मुक्त होने पर दुःखों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। उसके पूर्व-कर्म भी उसके लिए दुःखदायी हो सकते हैं परन्तु ज्ञान-प्राप्ति द्वारा उनका मिथ्यापन ज्ञानी पर प्रकट हो जाता है जिससे उसके दुःखों का अन्त और आनन्द का उदय स्वाभाविक है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है, । 'जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है । 'और हे अर्जुन जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप परम-शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।'[1] कठोपनिषद्कार ने लिखा है—एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।[2] (अर्थात् सर्व-नियन्ता प्राणी मात्र की अन्तरात्मा उस एक के परम रूप का जो अपने में दर्शन करता है वह चिर-सुखी है। दूसरा कोई इस गति को नहीं पा सकता) आगे कहा है— 'नित्यो' नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।[3] (अर्थात् जो अनित्य में भी नित्य है चेतन प्राणियों की चेतना है और जो एक होकर भी अनेकों की कामनाएँ पूर्ण करता है अपने अन्तर में उसका दर्शन करने वाला ज्ञानी परम-शान्ति को प्राप्त होता है दूसरा कोई नहीं।) अभिप्राय यह कि लौकिक दुःखों का मुख्य कारण हमारी व्यर्थ और बहिर्मुखी वासनाएँ ही हैं। ज्ञानवान् महापुरुष अपनी ईश्वर-बुद्धि से उनका स्वरूप बदल देता है वे पवित्र हो जाती हैं। उसके लिए उनमें ईश्वरीय भाव का जन्म होता और तब वे बाहरी-स्तर पर ज्यों की त्यों बनी रहने पर भी किसी प्रकार के कष्ट का कारण नहीं होतीं—वरन् वे उस जितेन्द्रिय के मार्ग की सहायक बन जाती हैं। ज्ञान का प्रकाश जो अज्ञान या माया के अन्धकार में दबा-सा

---

१ गीता—अ० ४, श्लोक ३७ ३९।

२ कठ अ० २ वल्ली० २ श्लोक १२, स्वा० विवेकानन्द द्वारा अपने भाषण 'बहुत्व में एकत्व' में उद्धृत।

३ श्लोक १३ वही।

गया है केवल उसे पुनर्प्राप्त कर लेने मात्र की आवश्यकता है प्रकाश रूपी आनन्द की किरणें चतुर्दिक फूट पड़ेंगी। एक रूपक लीजिए एक जलते हुए बिजली के बल्ब पर यदि मोटे टाट के टुकड़े बाँध दिये जायँ, तो वह जलता होने पर भी प्रकाश देने में असमर्थ होता है। प्रकाश का इच्छुक उस बल्ब से प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकता। अब यदि वह दृढ़-निश्चय से उन टाट के टुकड़ों को हटाने लगे तो बल्ब धीरे धीरे अपनी समस्त प्रकाश किरणों सहित जगमगाता हुआ प्रकाशार्थियों का सहायक हो सकेगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य की आत्मा तो परमात्मा का रूप पहले से ही है (जलता हुआ बल्ब) परन्तु उस पर वासनाओं और बहिर्मुखी इन्द्रियों के टाटों के पर्दे ऐसे लिपटे पड़े हैं कि उसका यथार्थ रूप पहचान में नहीं आता। यही कष्ट का कारण है। अब यदि इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनने से रोक कर आत्म-चिन्तन की ओर लगाया जाए तो स्वप्रकाशित आत्मा का प्रकटीकरण स्वाभाविक ही है (टाट के उतरने पर पहले से जल रहे बल्ब की तरह)। यही लक्ष्य है और लक्ष्य-सिद्धि परम आनन्द का कारण होती ही है।

ज्ञानी की महत्वाकांक्षाएँ—स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन-वासियों के सम्मुख व्याख्यान देते हुए कहा 'मेरा संकल्प है कि मैं सभी वस्तुओं के मर्म की खोज करूँगा। जीवन का वास्तविक रहस्य क्या है यह जानूँगा। आप केवल प्राण की विभिन्न अभिव्यक्तियों की चर्चा करते हैं, पर मैं तो प्राण का स्वरूप ही जान लेना चाहता हूँ। मैं इस जीवन में ही समस्त रस सोख लेना चाहता हूँ। मेरा दर्शन कहता है कि जगत और जीवन का समस्त रहस्य जान लेना होगा स्वर्ग-नरकादि का सारा कुसंस्कार छोड़ देना होगा यद्यपि उनका अस्तित्व उसी अर्थ में है जिस अर्थ में इस पृथ्वी का अस्तित्व है। मैं इस जीवन की अन्तरात्मा को जानूँगा—उसका वास्तविक स्वरूप जानूँगा वह क्या है यह जानूँगा वह किस प्रकार कार्य करता है और उसका प्रकाश क्या है केवल इतना जानकर मेरी तृप्ति नहीं होगी। मैं सभी वस्तुओं का 'क्यों' जानना चाहता हूँ—'कैसे होता है' यह खोज बालक करते रहें।[1] तेजस्वी वक्ता के उपर्युक्त ओजस्वी-वाक्य 'ज्ञानी की महत्वाकांक्षा' को सुचारु रूप से अभाव्यक्त करते हैं। ज्ञानी वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिसके पा जाने पर कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता। लोग अपने अस्तित्व को पहचानते हैं वे ईश्वर की किसी परम-शक्ति को भी स्वीकार करते हैं उसके भय से बुरे कर्मों का त्याग कर सद्गुण-वृद्धि भी की जाती है परन्तु ज्ञानी तो अपने को ही ईश्वर रूप में देखने का इच्छुक है— वह वही है जो ईश्वर है' का भाव सदैव ज्ञानी का पथ प्रकाशक रहता है। एक मौनी समाधि-अवस्था में पहुँचकर विश्व-भौतिकता से विरत होने का निश्चय

---

१ १ नवम्बर, १८९६ को लन्दन में दिया भाषण—'बहुत्व में एकत्व' ज्ञानयोग में संगृहीत।

करता है, सांसारिक कर्मों का मूलतः त्याग कर देता है, परन्तु ज्ञान-योगी (ज्ञानी) सच्चाई को जानकर निवृत्ति नहीं चाहता बल्कि अपने सद्ज्ञान के प्रकाश में भटके हुए लोगों के अन्धकार का हरण करने में प्रवृत्त होता है। यही उसकी ज्ञान-प्राप्ति की सार्थकता है। भक्तजन श्रद्धा और प्रेम से अभिभूत होकर स्वतः ही समर्पित कर निश्चिन्त हो जाते हैं, कर्म-योगी अपनी संसार-यात्रा में किये जाने वाले कर्मों को किसी ईश्वरीय-शक्ति को समर्पित कर अपने को उसके फल-अफल से बचा लेता है, परन्तु ज्ञानी किसी को समर्पित करने की आकांक्षा ही कैसे रख सकता है? वह तो उस ईश्वरीय-शक्ति से अभिन्न है, स्वयं वह शक्ति है। उसके लिए समर्पण करने वाला जिसे समर्पित किया जा रहा है और जो समर्पित किया जा रहा है सब एक ही है। अतः उसकी आकांक्षा आदान प्रदान या विनिमय की नहीं बल्कि स्वरूप को जान-समझ कर वास्तविक एकता की रहती है। अतः स्पष्ट ही यदि वह अपने स्तर को स्थिर नियन्त्रित बनाए रख सके तो वह अन्य सब प्रकार के योगों के समर्थकों में उत्तम होगा ऐसा भगवद्गीता में भी स्वीकार किया गया है।

भक्तियोग

आत्मा और परमात्मा के मिलने के दूसरे तथा कदाचित् सरल मार्ग को भक्तियोग कहते हैं। निष्कपट भाव से अपनत्व के त्याग परमात्मा के अस्तित्व तथा सर्वशक्तिमयता की स्वीकृति एवं उसकी प्रत्यक्षानुभूति के प्रति सचेतन प्रयत्न ही भक्ति है। प्रेम इसका प्राण है। "इसका आरम्भ मध्य और अन्त सब प्रेम में है"[1]। जिज्ञासु धर्म-ग्रन्थों द्वारा प्रेरणा पाकर ईश्वर के प्रति आसक्त होता है। (—उसके लिए ईश्वर के व्यक्त और अव्यक्त रूप में कोई भेद नहीं होता।) प्रस्तुत आसक्ति जब विश्वास श्रद्धा और उत्कट प्रेम से पराभूत होती है तो भक्ति का रूप धारण कर लेती है। आसक्ति निम्नतम कोटि का आकर्षण-मात्र है जब कि भक्ति उच्चतम स्तर का समर्पण। प्रेम की तो पहली शर्त है देना लेना नहीं। अतः इसे केवल साधन नहीं बताया जा सकता यह अपने में साध्य भी है।

आसक्ति से अनुरक्ति-परिवर्तन के साथ ही प्रेमी भक्त अपने प्रेम-पात्र से मिलन के लिए विह्वल हो उठता है। वह सतत उसी का नाम लेता है, स्मरण करता है, गुण गाता है और सर्वोपरि अपना मन-वचन-कर्म सब उसी प्रभु के नाम पर समर्पित कर देता है। ऐसा करने से स्वभावतः ही जिज्ञासु में संयम का उदय होता है, उसकी इन्द्रियाँ बाहरी फैलाव से हटकर एक बिन्दु पर केन्द्रित होना मांगती हैं और वह प्रभु-कृपा का भाजन बनता है। उसके अन्तर में ज्ञान का प्रकाश जगता है "जो मुझमें सतत युक्त हैं और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ कि वे मुझे प्राप्त

---

१ भक्ति के साधन स्वा० विवेकानन्द पृ० १।

हो जाते है ।[1] अस्तु भक्तजन भक्ति द्वारा प्राप्त उक्त ज्ञान-शक्ति से प्रभु को प्राप्त करते हैं उसी में समाहित हो जाते हैं।

भक्ति के साधन—अन्तर्गत में भक्ति का उदयगान श्रवणार्थ जिज्ञासु को अपने में कुछ निश्चित एवं निष्ठ विशषताएँ उपार्जित करनी अपेक्षित हैं। वे विशेषताएँ मुख्यतः उसके रहन-सहन दिन चर्या तथा विचारानुभूति से सम्बन्धित हैं। भक्ति-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम साधन है आहार-शुद्धि । खाद्याखाद्य का ध्यान न रखने से अन्न का जो प्रभाव मन पर निरन्तर पड़ता रहता है। वह भक्त के चत्त-चित्त प्रभु स्मरण के मार्ग का कण्टक बनता है। क्योंकि स्मरण ही उच्च कोटि का बन्धन-मुक्त्य है इसे बनाए रखने के लिए इसके आधार शुद्ध-खाद्य का ध्यान रखना अनिवार्य है । कहा गया है आहार-शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल-स्मृति होती है तथा स्मृति की प्राप्ति पर समस्त ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है।[2]

भक्ति के परम-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दूसरा साधन है इंद्रियनिग्रह । इन्द्रियों के बहिर्मुखी फैलाव के कारण मानव की आन्तरिक शक्ति का क्षय होता चलता है। यों भी फैलाव ऊर्जा-क्षीणता का द्योतक है। उदाहरण के लिए सूर्य की तेज किरणें सदैव फैली रहने के कारण किसी को जलाती नहीं परन्तु यदि इन्हीं किरणों का फैलाव रोककर आतशी-शीशे द्वारा कहीं केन्द्रित कर दिया जाए तो दूसरी ओर झट से आग लग जाती है। ठीक वैसी ही इन्द्रियों की स्थिति है इन्हें अन्तर्मुखी कर निरंकारी-ज्योति पर केन्द्रित करने की आवश्यकता है। ऐसा करने से मन की चंचलता तो स्थिर होगी ही साथ ही प्रभु-भक्ति की चिर-प्रदीप्त प्रकाश[3] का वह प्रकाश भक्ति का पथ-प्रदर्शक बनेगा जो इन्द्रियों के बाहरी फैलाव के कारण मन्द पड़ता जा रहा था । उक्त आन्तरिक-प्रकाश क्षीणता के विरोध में आत्म-बल (भक्ति का तीसरा साधन—अनवसाद) का उत्पादक होगा । भक्ति के लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में आत्म-बल का वही स्थान है जो प्रभु-मिलन के पथ पर गुरु का । जिस प्रकार गुरु के अभाव में साधक का कहीं भी फिसल जाना सम्भव हो सकता है ठीक वैसे ही आत्मबल की अनुपस्थिति में भक्त का पथ भ्रष्ट हो जाना या लक्ष्य तक पहुँचने की क्षमता न पाना सम्भव है।

---

१ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते । प्रथम ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य—स्वा० विवेकानन्द द्वारा 'भक्ति के लक्षण' में उद्धृत ।

२ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः । छान्दोग्योपनिषद्-शंकर भाष्य ७ २६ २, पृ० ७८६ ।

३ अन्तर मांपे तिसे तू रख । देह मिल दीवा बले अखण्ड । गुरुनानक

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति के दो और मुख्य साधनों पर प्रकाश डाला गया है— अभ्यास और कर्म। भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण कीर्तन मनन तथा श्वास के द्वारा जप और भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टाएँ भगवत्-प्राप्ति के लिए बारम्बार करने का नाम 'अभ्यास' है।[1] अभ्यास मन को संयत करने का श्रेष्ठ साधन है,[2] और मन को काबू करने से ही भक्त अहंभाव त्याग कर समर्पण तथा शरणागति का आश्रय लेने में समर्थ होता है। भक्ति-साधन रूप में कर्म का अभिप्राय यज्ञ तप, होमादि तो है ही साथ में इन कर्मों के फल की इच्छा न करना फल मिलने पर प्रभु-भेंट कर देना और ध्यान से कर्म-फल का त्याग[3] करना भी इसी के अन्तर्गत आता है। स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करते हुए कहा है कि अभ्यास साधन में असमर्थ होने वाले को भगवत्-अर्थ-कर्म करने का परायण होना चाहिए[4] (कर्म-साधन)। लिखा है स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही परम आश्रय और परमगति समझकर निष्काम प्रेम भाव से सती शिरोमणि पतिव्रता स्त्री की भाँति मन, वाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के लिये यज्ञ दान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों के करने का नाम 'भगवत्-अर्थ-कर्म करने के परायण होना' है।[5]

प्राचीन-नवीन लगभग सभी शास्त्रों ने भक्ति-प्राप्ति के इच्छुक के लिए नैतिक-पवित्रता की अपेक्षा तो चाही ही है। स्वा० विवेकानन्द ने इसे 'कल्याण' कहकर वर्णित किया है। गुरु नानक ने भी इसकी स्वीकृति पर जोर दिया है। अन्य सभी महापुरुष भी प्रस्तुत साधन के सम्बन्ध में एक-मत हैं। उनका विश्वास है कि भक्त-साधक जब तक मन वचन और कर्म से नैतिक नहीं बनता वह ध्येय तक नहीं पहुँच सकता। योग-परिभाषा में इसे-नियमादि कहा गया है जो कि मानव-चरित्र की उच्चता में तो सहायक है ही साथ में जिज्ञासु को प्रभु-निकटता प्रदान करने में भी समर्थ है। जीवन में सत्य तथा परोपकार, ईर्ष्या-त्याग अहिंसा अपरिग्रह वृथा-चिन्तन का त्याग किसी के कुटिल व्यवहार पर आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया न करना आदि अनेक व्यावहारिक-गुण नैतिक कल्याण के अन्तर्गत आते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तो अत्यधिक आमोद प्रमोद तथा मनोरंजन के साधन जुटाने को भी भक्ति-पथ के विघ्न मानते हैं। उन के मतानुसार ऐसा करने से मन की चंचलता बढ़ती जाती है और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी वह प्रभु में स्थिर नहीं हो पाता। बार-बार उसे मनोरंजन का ध्यान

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता (छात्र संस्करण) गीता प्रेस पाद-टिप्पण पृ० २१७
२ गीता अ० ६ श्लोक ३५ तथा अ० १२ श्लोक १०।
३ गीता अ० १२ श्लोक १२।
४ गीता अ० १२, श्लोक १०।
५ नं० १ की भाँति पृ० २१७-२१८।

हो जाते हैं" ।[1] अस्तु भक्तजन भक्ति द्वारा प्राप्त उक्त ज्ञान-शक्ति से प्रभु को प्राप्त करते हैं उसी में समाहित हो जाते हैं ।

भक्ति के साधन—अन्तर्मन में भक्ति का उदयमान यथार्थ जिज्ञासु को अपने में कुछ निश्चित एवं निष्ठ विशेषताएँ उपार्जित करनी अपेक्षित हैं । ये विशेषताएँ मुख्यतः उसके रहन-सहन दिन चर्या तथा विचारानुभूति से सम्बन्धित हैं । भक्ति-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम साधन है, आहार-शुद्धि । खाद्याखाद्य का ध्यान न रखने से अन्न का जो प्रभाव मन पर निरन्तर पड़ता रहता है । वह भक्त के दत्त चित्त प्रभु स्मरण के मार्ग का कण्टक बनता है । क्योंकि स्मरण ही उच्च कोटि का बन्धन-मुक्तक है इसे बनाए रखने के लिए इसके आधार शुद्ध-खाद्य का ध्यान रखना अनिवार्य है । कहा गया है आहार-शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल-स्मृति होती है तथा स्मृति की प्राप्ति पर समस्त ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है ।[2]

भक्ति के परम-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दूसरा साधन है इन्द्रियनिग्रह । इन्द्रियों के बहिर्मुखी फैलाव के कारण मानव की आन्तरिक शक्ति का क्षय होता चलता है । यों भी फैलाव ऊर्जा-क्षीणता का द्योतक है । उदाहरण के लिए सूर्य की तेज किरणें सर्वत्र फैली रहने के कारण किसी को जलाती नहीं परन्तु यदि इन्हीं किरणों का फैलाव रोककर आतशी शीशे द्वारा कहीं केन्द्रित कर दिया जाए तो दूसरी ओर झट से आग लग जाती है । ठीक वैसी ही इन्द्रियों की स्थिति है इन्हें अन्तर्मुखी कर निरंकारी-ज्योति पर केन्द्रित करने की आवश्यकता है । ऐसा करने से मन की चंचलता तो स्थिर होगी ही साथ ही प्रभु-भक्ति की चिर-प्रदीप्त ज्वाला[3] या वह प्रकाश भक्ति का पथ-प्रदर्शक बनेगा जो इन्द्रियों के बाहरी फैलाव के कारण मन्द पड़ता जा रहा था । उक्त आन्तरिक-प्रकाश क्षीणता के विराम में आत्म-बल (भक्ति का तीसरा साधन—अनवसाद) का उत्पादक होगा । भक्ति के लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में आत्म-बल का वही स्थान है जो प्रभु-मिलन के पथ पर गुरु का । जिस प्रकार गुरु के अभाव में साधक का कहीं भी भटक जाना सम्भव हो सकता है ठीक वैसे ही आत्मबल की अनुपस्थिति में भक्त का पथ भ्रष्ट हो जाना या लक्ष्य तक पहुँचने की क्षमता न पाना सम्भव है ।

---

१ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते । प्रथम ब्रह्मसूत्र पर रामानुज भाष्य—स्वा० विवेकानन्द द्वारा 'भक्ति के लक्षण' में उद्धृत ।

२ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । छान्दोग्योपनिषद्-शांकर भाष्य ७ २१ २ पृ० ७११ ।

३ अन्तर भाव तिसे तू रख । ऐह निस दीवा बले अथक । गुरुनानक

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति के दो और मुख्य साधनों पर प्रकाश डाला गया है—अभ्यास और कर्म। 'भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास के द्वारा जप और भगवत्प्राप्ति विषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टाएँ भगवत्-प्राप्ति के लिए बारम्बार करने का नाम "अभ्यास" है।'[1] अभ्यास मन को संयत करने का श्रेष्ठ साधन है[2] और मन को काबू करने से ही भक्त अहंभाव त्याग कर समर्पण तथा शरणागति का आश्रय लेने में समर्थ होता है। भक्ति-साधन रूप में कर्म का अभिप्राय यज्ञ, तप, होमादि तो है ही, साथ में इन कर्मों के फल की इच्छा न करना, फल मिलने पर प्रभु-भेंट कर देना और त्याग से कर्म-फल का त्याग[3] करना भी इसी के अन्तर्गत आता है। स्वयं श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करते हुए कहा है कि अभ्यास साधन में असमर्थ होने वाले को भगवत्-अर्थ-कर्म करने का परायण होना चाहिए[4] (कर्म-साधन)। लिखा है "स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही परम आश्रय और परमगति समझकर निष्काम प्रेम भाव से सती शिरोमणि पतिव्रता स्त्री की भाँति मन, वाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के लिए यज्ञ, दान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों के करने का नाम भगवत्-अर्थ-कर्म करने के परायण होना है।"[5]

प्राचीन-युगीन लगभग सभी शास्त्रों ने भक्ति-प्राप्ति के इच्छुक के लिए नैतिक-पवित्रता की अपेक्षा तो चाही ही है। स्वा० विवेकानन्द ने इसे 'कल्याण' कहकर वर्णित किया है। गुरु नानक ने भी इसकी स्वीकृति पर जोर दिया है। अन्य सभी महापुरुष भी प्रस्तुत साधन के सम्बन्ध में एक-मत हैं। सबका विश्वास है कि भक्त-साधक जब तक मन, वचन और कर्म से नैतिक नहीं बनता वह ध्येय तक नहीं पहुँच सकता। योग-परिभाषा में इसे नियमादि कहा गया है, जो कि मानव चरित्र की उच्चता में तो सहायक है ही, साथ में जिज्ञासु को प्रभु-निकटता प्रदान करने में भी समर्थ है। जीवन में सत्य, दया, परोपकार, ईर्ष्या-त्याग, अहिंसा, अपरिग्रह, रूप-चिन्तन का त्याग, किसी के दुर्व्यवहार पर आवेशपूर्ण प्रतिक्रिया न करना आदि अनेक व्यावहारिक-शुभ नैतिक अभ्यास के अन्तर्गत आते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तो अत्यधिक आमोद-प्रमोद तथा मनोरंजन के साधन जुटाने को भी भक्ति-पथ के विघ्न मानते हैं। उनके मतानुसार ऐसा करने से मन की चंचलता बढ़ती चलती है और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी वह प्रभु में स्थिर नहीं हो पाता। बार-बार उसे मनोरंजन का ध्यान

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता (छोटा संस्करण) गीता प्रेस पाद-टिप्पण पृ० २१७
२ गीता अ० ६ श्लोक ३५ तथा अ० १२ श्लोक ९।
३ गीता अ० १२ श्लोक १२।
४ गीता अ० १२ श्लोक १०।
५ नं० १ की भाँति, पृ० २१७-२१८।

हो जाता है और 'प्राप्त-पूँजी' को भी आमोद प्रद व्यवहार की बाढ़ में बहा देता है। इसे अनुदार्य भी कहते हैं।

अतः भक्त जिज्ञासु को अपेक्षित है कि वह उपरिसांकेतित आवश्यकताओं के अनुसार अपना जीवन में परिवर्तन लाए, अव्यवस्थित मार्गों का त्याग करे और उक्त साधनों को अपनाता हुआ अपने चित्त को प्रभु-स्मरण में लगाए। अपनी चिन्ता का भार आश्रय-दाता पर छोड़े पूर्ण-समर्पण में विश्वास लाए, प्रभु की ओर से ही जीवन व्यवहार के कर्मों की पूर्ति करता रहे और स्वयं दुनिया के आकर्षण विकर्षण से दूर हटकर ईश्वर में ही परम-अनुरक्ति[1] का साध्य अपनाले तो वह जिज्ञासु सच्चा भक्त होगा और परम-मुक्त का अधिकारी बन सकेगा।

भक्ति के भिन्न रूप तथा स्थान—यों तो हमारे शास्त्रों विशेषकर भागवत् पुराण में नवधा भक्ति का अधिक गुण-गान किया गया है परन्तु ये सब भेद सगुणोपासना के आधार पर ही प्रकट हैं। क्योंकि हमारा ध्येय यहाँ सगुण और निर्गुण की कोई कुश्ती दिखाना नहीं अतः हम ऐसे ही स्थिर प्रकार भेद की कल्पना करेंगे, जो साकार-निराकार के चक्र से हमें बचाए रखे और साथ ही भक्त-हृदय में सामान्यतः उठने वाली शंकाओं का पूरा समाधान प्रस्तुत कर सके। इस दृष्टिकोण से भक्ति के मुख्य दो रूप स्वीकार किए जा सकते हैं (१) गौणी-भक्ति (२) पराभक्ति। भक्ति की प्रारम्भिक स्थितियाँ गौणी कहलाती हैं। धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन इष्टदेव का स्मरण मानसिक-संयम के प्रयत्न तथा जीवन में नैतिक-पवित्रता की स्वीकृति गौणी-भक्ति के स्वरूप हैं। इस स्थिति में जिज्ञासु अपने इष्ट में विश्वास बढ़ाता है अपने धर्म से प्रेम करता है और अपने ढंग से विकासोन्मुखी रहता है। यह सब आत्म-शुद्धि के लिए है। परन्तु यहाँ ज्ञान के अभाव में एक भय सदा बना रहता है। इष्टनिष्ठा की झोंक में कहीं अनजान जिज्ञासु अन्य पीर-पैगम्बरों देवी देवताओं के प्रति घृणा-भाव न बढ़ाले। इसमें सन्देह नहीं कि इष्ट-निष्ठा के बिना वास्तविक-प्रेम का उदय ही असम्भव है तो भी दूसरे धर्मों और धर्मावलम्बियों की निन्दा क्षम्य नहीं। उक्त अपरिपक्व स्थिति में ही सकता है कि भक्त अपने ही आदर्शों को सर्वोच्च समझे दूसरों के आदर्शों और विचारों को निकृष्ट कह ठुकरा दे। यही कारण है कि श्रीकृष्ण इस अनजान भक्ति की अपेक्षा ज्ञान-युक्त भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं।[2] वह दूसरी कोटि की उत्तम और परिपक्व भक्ति है जिसे पराभक्ति कहते हैं। इसकी प्राप्ति पर "भयानक मताग्रता और कट्टरता की फिर आशंका नहीं रह जाती। मनुष्य इस 'परा' भक्ति से अभिभूति होकर प्रेम स्वरूप भगवान के इतना निकट पहुँच जाता है कि वह फिर दूसरों के प्रति घृणाभाव के विस्तार का यन्त्र-स्वरूप

१ 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' शाण्डिल्य सूत्र १ २।
२ गीता अ० ७ श्लोक १७।

नहीं हो सकता'[1] वह निन्दा स्तुति मान-अपमान शत्रुता-मित्रता सुख-दुःख आदि की परिधि से बाहर चला जाता है।[2] पराभक्ति की स्थिति पर सब धर्म और धर्माव लम्बी मत और मत-संचालक समान हो जाते हैं। भक्त सबमें अपने ही इष्ट के दर्शन करने लगता है। पतिव्रता नारी की भाँति जो अपने पुरुष के अतिरिक्त अन्य किसी को पुरुष रूप में नहीं देखती भक्त भी अपने प्रभु के अतिरिक्त और कुछ भी उस स्तर पर नहीं देखता—यही कारण है कि उसके लिए घृणा द्वेष या मान-अपमान के प्रश्नों का सदा के लिए अन्त हो जाता है।

गौणी से पराभक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए 'त्याग' की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक अनुरक्ति में त्याग वांछनीय है। जब सांसारिक-प्रेम भी इसकी अपेक्षा रखता है तो कोई कारण नहीं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका मूल्य घट जाए। सब प्रकार के योग में त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही सारी आध्यात्मिकता का प्रथम सोपान है उसका द्वार है—यही वास्तविक धर्म है।[3] भक्तिमार्ग पर चलने वाले जिज्ञासु के लिए बाहरी चेतनाओं और चित्तनाओं को संयत कर अपने इष्ट की स्मृति में लगाना ही त्याग या बाहरी आकर्षणों के प्रति वैराग्य है। यह बहुत स्वाभाविक है। क्योंकि प्रस्तुत योग में अकस्मात् सम्बन्ध तोड़ना या जोड़ना नहीं पड़ता। इसलिए भक्त के वैराग्य अपनाने में भी उसे अपने मन या अन्तःकरण पर किसी बलात् कुठाराघात की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'जिस प्रकार एक मनुष्य एक स्त्री से प्रेम करना छोड़कर दूसरी से प्रेम करने लगता है। तो धीरे-धीरे वह पहली को बिल्कुल भूल जाता है ठीक उसी प्रकार भक्त सांसारिक आसक्ति छोड़कर जब भगवदोपासना की ओर चित्त लगाता है तो कुछ समय पाकर वह अपने इष्ट में इतना रम जाता है कि उसे दुनियादारी का ध्यान भी नहीं आता—बस यही वैराग्य है, इसी का त्याग कहते हैं।

उक्त वैराग्य की स्वाभाविकता पर प्रकाश डालने के लिए यदि हम स्वा० विवेकानन्द के भाषणों से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करें तो कुछ अनुचित न होगा। उन्होंने कहा 'यह वैराग्य तो स्वभावतः ही आ जाता है। जैसे बढ़ते हुए तेज प्रकाश के सामने मन्द प्रकाश धीरे-धीरे स्वयं ही धुँधला होता जाता है और अन्त में बिल्कुल विलीन हो जाता है इसी प्रकार इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य सुख ईश्वर प्रेम के समक्ष आप-ही आप धीरे-धीरे धुँधले होकर अन्त में निष्प्रभ हो जाते हैं। यही ईश्वर-प्रेम क्रमशः बढ़ते हुए एक ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिसे पराभक्ति कहते हैं। "जिस

---

१ भक्ति के साधन विवेकानन्द (भक्तियोग पृ० ७।)

२ गीता अ० १२ श्लोक १५, १८ १९।

३ पराभक्ति—त्याग स्वा० विवेकानन्द, पृ० ६७ (भक्तियोग)।

प्रकार किसी चुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज के आ जाने से उस जहाज की सारी कीलें तथा लोहे की छड़ें खिचकर निकल जाती हैं और जहाज के तख्ते आदि खुलकर पानी पर तैरने लगते हैं उसी प्रकार प्रभु की कृपा से आत्मा के सब बन्धन दूर हो जाते है और वह मुक्त हो जाती है। अतएव भक्तिमार्ग के उपाय-स्वरूप इस नैराश्यसाधन में न तो किसी प्रकार की कठोरता है न शुष्कता और न किसी प्रकार की जबरदस्ती ही। भक्त को अपने किसी भी भाव का दमन करना नही पड़ता प्रत्युत वह तो सब भावों को प्रबल करके भगवान् की ओर लगा देता है।

भक्ति की अवस्थाएँ—भक्ति का उदय सामान्यतर भाव चाहत या इच्छा से होता है। आप्त-वाक्यों धर्म-ग्रन्थों की उक्तियों उपदेशात्मक कथा-कहानियों आदि से मानव-हृदय में इच्छा का भाव पैदा होता है। प्रतिक्रिया रूप में मनुष्य शास्त्राध्ययन करता है प्रकृति-क्रीड़ाओं मे प्रभु की शक्ति का आभास पाता है और तब उसकी उक्त 'चाहत या इच्छा' प्रेम का रूप धारण करती है। यह प्रेम भी प्रथम-कोटि का प्रेम होता है—इसमें अनन्यता का प्रश्न तो नहीं लगाव की भावना अवश्य रहती है। पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति के क्षेत्र में आसक्ति का कोई स्थान नहीं अतः यह प्रेम तब तक महत्वहीन ही रहता है, जब तक कि इसमें से व्यक्तित्व का अंश निकल नहीं जाता। व्यष्टि-तत्त्व के अंत से इसमें जो विकास होता है वही भक्ति क्षेत्र की चिर-प्रकाशित उन्नतावस्था 'श्रद्धा' है। श्रद्धा का मूलतत्त्व है दूसरे का महत्त्व स्वीकार करना। अब तक भक्त को ईश्वर-सम्बन्धी पर्याप्त अनुभूति हो चुकी होती है और वह इस निश्चय पर पहुँच चुका होता है कि ईश्वर श्रद्धेय है। सांसारिक-क्षेत्र में प्रायः श्रद्धा के विषय तीन हैं—शील प्रतिभा और साधन-सम्पत्ति। 'पूर्वावस्था प्रेम में इतना ही बस था कि कोई किसी को अच्छा लगे पर श्रद्धा के लिए आवश्यक है कि कोई किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा के ही आश्रय से उन कर्मों का भाव दृढ़ होता रहता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता की ही ओर ध्यान उठती है।'[1] अतः विश्व विमोहक प्राकृतिक क्रीड़ाएँ आदि देखकर उसके रचयिता के प्रति श्रद्धा जागृत होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में भक्ति के स्वरूप की अभिव्यक्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। 'जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए'।[2] अपने श्रद्धा पात्र के विषय में श्रवण कीर्तन उसके दर्शन में आनन्द और उसके प्रत्येक साधारण से साधारण कार्य में मन का आकर्षण

१ श्रद्धा-भक्ति ले० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि भाग १ पृ० १८।
२ वही चिन्तामणि। भाग १ पृ० ३२।

बनने पर भक्ति का उदय मानना चाहिए। श्रद्धा भक्ति का एक अंग है और प्रेम दूसरा। किसी एक को अपनाने मात्र से भक्ति का एप्सित स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता। श्रद्धा द्वारा अभिभूत होकर हम किसी व्यक्तियों द्वारा उपार्जित कोई फल श्रद्धेय की भेंट कर सकते हैं परन्तु उसमें भक्त बनकर स्वयं जीवन-क्रम ही उसे अर्पित कर दिया जाता है। प्रेम-भाव में आकर्षण है, परन्तु अपनेपन की प्रगाढ़ता बनी रहती है। भक्ति में दूसरे के महत्व को स्वीकार करते हुए अपनी लघुता की भी स्वीकृति देनी पड़ती है। 'श्रद्धालु महत्व को स्वीकार करता है पर भक्त महत्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपना जीवन क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है पर भक्त उसकी काट-छांट में लगा जाता है'[1]।

श्रद्धा और प्रेम के सुयोग से भक्ति का उदय होने के पश्चात् भक्त में कुछ विशेष तीव्र-अवस्था का आगमन होता है जिसे 'विरह' कहते हैं। उपरिवर्णित दृष्टिकोण से भक्त को अपने इष्ट से दूर रहना सह्य नहीं होता। इसी दूरी की कमी में उसके अन्तर में जो हलचल होती है प्राप्ति हेतु जो तड़पन और पीड़ा उसे सताती है वही विरह कहलाती है। विरह भक्ति की उच्च अवस्था है। जिस प्रकार अग्नि में जलकर लोहा फौलाद होता और सोना कुन्दन होता है ठीक वैसे ही विरह में जलकर भक्त शुद्ध भाव का समर्पक होता है। वह दिन-रात प्रभु में मग्न रहने लगता है उसी की रूप-कल्पना करता है, उसके मिलन की सम्भावनाओं का विश्वास-युक्त मूल्यांकन करता है और 'जल जल जितना होता क्षय समीप आता वह छलनामय'[2] के विचार से विरह-विदग्धता में ही आनन्द पाता है। मन की प्रस्तुत स्थिति में प्रेम पात्र के अतिरिक्त कुछ भाता नहीं। जब पराभक्ति जाग्रत होती है तो भक्त अपने इष्ट में खो-सा जाता है। उसे अन्य सब वस्तुएँ खटकने लगती हैं यहाँ तक कि किसी अन्य विषय पर वह बात-चीत भी नहीं करना चाहता। मनुष्य अपने आप को बिल्कुल भूल जाता है उसे अपने-पराये का कोई ध्यान नहीं रहता। वह सावन के अन्धे की तरह हरा-ही-हरा देखता है—जड़ चेतन मनुष्य-पशु सब में उस अपने इष्ट का ही स्वरूप दिखता है। और यही अवस्था भक्तिपथ की उच्चतम अवस्था है जिसे 'तदीयता' कहते हैं। इसमें भक्त परम-शान्ति का अधिकारी होता है अपने इष्ट में ही समा जाता है। आत्मा-परमात्मा का मिलन यही सम्भव है। भक्त और भगवान् दो नहीं रहते एक हो जाते हैं। भक्त का निराला-अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह अपने प्रेमास्पद से सम्बन्धित हर वस्तु का सजक बन जाता है। (यही कारण है कि सच्चा भक्त किसी से घृणा नहीं करता और विश्व को अपने इष्ट की रचना मानकर सबसे सद्व्यवहार करता और परोपकारी बन जाता है।)

---

१ रामचन्द्र शुक्ल श्रद्धा-भक्ति (चिन्तामणि भाग १।)
२ महादेवी वर्मा।

भक्त के लक्षण—श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने चार प्रकार के भक्तों की ओर संकेत किया है—अर्थार्थी आर्त जिज्ञासु तथा ज्ञानी। जो व्यक्ति किसी विशेष-वस्तु या सिद्धि की प्राप्ति के लिए भगवान् का भजन करता है वह अर्थार्थी-भक्त कहलाता है। किसी प्रकार की विपत्ति में पड़ा व्यक्ति जब दुःख निवारण प्रभु को टेरता है तो वह उसकी आर्त-भक्ति होती है। जिज्ञासु-भक्त सदैव प्रभु को मूल और वास्तविक रूपसे पहचानने का परम इच्छुक रहता है जब कि ज्ञानी सच्चाई को जान लेने पर प्रपत्ति और शरणागति का आश्रय लिये चतुर्दिक अपने इष्ट का प्रसार ही नहीं बल्कि प्रसार में सब कहीं इष्ट का साक्षात्कार करता है। ऐसा भक्त अहं का मूलतः त्याग कर चुका होता है। उसके लिए सुख दुख समान होता है वह बाहर भीतर से दुख और आकांक्षा रहित हो जाता है वैर-विरोध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता वह घृणा-लगाव से अतीत है उसका न कोई शत्रु होता है न मित्र। मान-अपमान की उसे परवाह नहीं होती निन्दा-स्तुति उसके लिए बराबर हो जाती है, और वह हर-क्षण अपने प्रभु में लीन रहता है।[1] अतः ऐसा ही सच्चा भक्त भगवान को अतीव प्रिय होता है।[2]

भक्त का सबसे बड़ा लक्षण है उसकी इष्ट-निष्ठा। संसार में जितने मत-मतान्तर हैं, उतने ही मार्ग भी। परन्तु यदि जीव कभी एक तथा कभी दूसरा मत अपना कर अपनी साधना या उपासना में परिवर्तन करता रहे तो निश्चय ही वह मार्ग के चक्र-व्यूहों में भटक कर रह जायगा गंतव्य तक पहुँचना सम्भवतः उसके सामर्थ्य से बाहर ही रहेगा। अतः साधक को जो भी करना है दृढ़-निष्ठा और पूर्ण-विश्वास से करना होता है। उसे सच्चा भक्त बनना होता है कच्चा नहीं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं 'यथार्थ त्यागी-भक्त और संसारी भक्त में बड़ा अन्तर है। यथार्थ संन्यासी—सच्चा-त्यागी—मधुमक्खी की तरह है। मधुमक्खी फूल को छोड़ और किसी चीज पर नहीं बैठती। मधु को छोड़ और किसी चीज को ग्रहण नहीं करती। संसारी-भक्त दूसरी मक्खियों के समान होते हैं जो बर्फियों पर बैठती हैं और सड़े घावों पर भी। अभी देखो तो वे ईश्वरप्रेम भावों में मग्न हैं थोड़ी देर में देखो तो कामिनी और कांचन को लेकर मतवाले हो जाते हैं।'[3] निष्ठा खोदेने या भटकने वाले भक्त कभी सच्चे नहीं होते। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसे अन्य धर्मों या विचारकों आदर्शों या आदर्शावलम्बियों के प्रति घृणा का अधिकार प्राप्त हो जाता है। निष्ठ-भक्त अपनी धारा से विछुड़ता नहीं साथ ही किसी की निन्दा वह नहीं करता। उसके लिए सब अपनी जगह पूज्य हैं

---

१ गीता अ० १२ श्लोक १३ २०।

२ गीता अ० ७ श्लोक १६ १७।

३ श्री रामकृष्ण वचनामृत द्वितीय भाग पृ० २७५, अनु० निराला।

माननीय हैं परन्तु वह अपने ही इष्ट को सर्वस्व जानता है। महात्मा तुलसीदास ने जिस प्रकार कृष्ण की मूर्ति देखकर उनके सौन्दर्य और महानता को स्वीकार कर लिया था परन्तु अपने लिये तो—'तुलसी माथा तौ नवै धनुष बाण लो हाथ।

भक्त में वैराग्य की अपेक्षा है। यह वैराग्य इष्ट के प्रति प्रेम-तन्मयता के कारण होता है। सच्चा भक्त उक्त-प्रेम बनाए रखने के लिए संसार का सर्वस्व त्याग देने को भी तैयार रहता है। धीरे धीरे इस प्रेम का विकास इष्ट से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के प्रति भी होने लगता है। और भक्त क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अपने प्यारे को देखता है अतः उसका प्रेम सीमित न रहकर सार्वजनीन हो जाता है। इसे वैराग्यमय प्रेम भी कहा जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का भय विभ्रम नहीं होता ना ही किसी भय का प्रतिद्वन्द्व का प्रश्न नहीं उठता है।

श्री अरविन्द भक्त-गुण-गान करते हुए लिखते हैं 'पुरुषोत्तम के भक्त का मानस सार्वजनीन होता है, उसमें अहं का लेश भी नहीं रह जाता। क्योंकि वह संतोषपूर्ण सहिष्णु क्षमाशील होता है इसलिए समस्त भवन उसकी सहानुभूति मित्रता एवं दया का अधिकारी होता है। वह किसी से घृणा नहीं करता। उसके लिए हर्ष-विषाद प्रसन्नता-अवसाद सब बराबर हैं। उसमें शान्त-सी सुदृढ़ प्रस्थापना और निश्चल विश्वास होता है। वह अपने इष्ट पर अटल प्रेम रखता है उस पर अपना सर्वस्व बलिदान करने को सदैव तत्पर रहता है। अथवा सामान्यतः वह निम्न वृत्तियों से मुक्त महात्मा होता है जो हर्षोल्लास भय बाधा एवं अभिलाषाओं से परे शान्त भाव में लीन पड़ा रहता है। संसार के सुखों-दुःखों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, वह इनमें कोई रुचि नहीं रखता। वह शान्ति का प्रतीक-आत्मा होता है।

अथवा भक्त, अपने अस्तित्व के स्वामी के प्रति समस्त इच्छाओं और कर्मों का समर्पण करने वाला अनुपम-आत्मा होता है। उसमें अहंभावों निजी या मानसिक चेतना प्रवाह का सर्वथा अन्त हो जाता है और वह बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप या विचारने की ही धृष्टता किये भगवान की लीलाओं और इच्छाओं को शिरोधार्य करता है तथा उस आध्यात्मिक-ज्ञान (प्रकाश ज्योति) का अधिकारी बनता है जो भगवान की असरण कृपा से जिज्ञासु के अन्तर में प्रकट हुआ करता है।[1]

कर्म-योग

विश्व के प्रकृति-चक्र में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रत्येक प्राणी को 'कर्म' करना अपेक्षित है। परन्तु 'काम' के अतिरिक्त यह शब्द कार्य-कारण भाव की अभिव्यक्ति भी प्रदान करता है। अतः कोई भी काम व्यवहार गुन या विचार, जिससे किसी प्रकार की कर्मोत्पत्ति होती है 'कर्म' की परिधि के अन्तर्गत आता है।

---

1 The Essays on Gita The way and the Bhakta, p 359

विविध वचन है इसी प्रकार से कर्म में संलग्न होने पर भी त्याग और वैराग्य का महिमामय स्वरूप भारतीय विचारधारा में प्रचारित किया गया है—और उसमें भी मुक्ति' के उसी महत् लक्ष्य को अपना ध्येय बनाया है जिसे भक्ति या ज्ञानयोग जीव की पहुँच की पराकाष्ठा स्वीकार करते हैं। यही विचार धारा कर्म-योग है और कर्म के रहस्य को जानना इसका उद्देश्य।

कर्ता अपने प्रत्येक कर्म के फल का भोक्ता भी होता है। यह फल-भोगेच्छा ही वास्तव में जीव के बन्धनों की कारण है। फल प्राप्ति की चेतन अचेतन अथवा अवचेतन आसक्ति ही भारत के परम्परित कर्म सिद्धान्त की अम-धातु है। विचार कों का विश्वास है (उन्होंने सिद्ध भी किया है) कि आत्मा का भिन्न भिन्न नाम-रूप से संसार में आना सुखों-दुःखों का भोग करना आदि सब कर्म-सिद्धान्त का ही परिणाम है। परन्तु कर्मयोग इसके विपरीत जीव के कर्मों के फलभोग के अन्त की (कर्मों की नहीं) कल्पना लिए, आत्मा के द्वारा भिन्न नाम-रूप धारण करने और संसार के हर्ष विषाद की सीमाओं से बाहर 'चिर-मुक्ति' का विधान रचता है। यही कर्मयोग के महत्व का पर्याप्त प्रमाण है।

उपर्युक्त कारण-कार्य भाव के दृष्टिकोण से कर्म दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्त और निवृत्त। प्रवृत्त-कर्म वे कार्य हैं जिनका कर्ता उनसे किसी परिणाम या फल की कामना रखता है। इन्हें सकाम-कर्म भी कहते हैं। ये अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। सृष्टि का नियम है कि एक ओर अच्छाई होने से दूसरी ओर बुराई का उदय अनिवार्य है, विकास ह्रास का ही समानुरूप भाव है। अतः सकाम कर्म के प्रकट होने से दो-तरफा परिणाम आता है अर्थात् यदि एक ओर आनन्द छा जाता है तो अवसाद भी किसी को भोगना ही पड़ता है। ये ही कर्म पूर्वोक्त कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जीव के आवागमन का कारण बनते हैं। दूसरी प्रकार के कर्म निवृत्त या निष्काम होते हैं। इनका कर्ता इनसे किसी प्रकार के फल की कदापि इच्छा नहीं रखता। वह करता है, इसलिए नहीं कि उसे करना चाहिए, इसलिए भी नहीं कि उसका कुछ कर्तव्य है न ही इसलिए कि उसे संसार में किसी प्रकार की कोई इच्छा या कामना रहती है बल्कि इसलिए कि उसके प्रभु की ऐसी इच्छा है। उक्त कर्म आत्मा को बन्धन में नहीं डालते प्रत्युत फल के हिसाब-किताब से विरक्त कर्ता की मुक्ति का कारण बन जाते हैं। ऐसे निष्काम-भाव से कर्म करने वाले महापुरुष को कर्मयोगी कहा जाता है। वह इस संसार में रहता है। समाज की दृष्टि से अच्छे-बुरे सब कर्म करता है परन्तु उनके परिणाम की आसक्ति उसे कभी नहीं होती। कर्म का परिणाम निश्चयमा निसर्ग-नियम है लेकिन अच्छे परिणाम पर वह हर्षित नहीं होता बुरे फल पर वह दुःखी होना नहीं जानता। वह तो कर्म और कर्मफल दोनों ईश्वरेच्छा पर समर्पित कर देता है।[1] वह अपने

१ गुरु नानक का हुकम-सिद्धान्त इसी का व्यवस्थित रूप है।

लिए भलाई का एक उत्कृष्ट-मार्ग चुन लेता है और कर्मों के बन्धन से मुक्त (जीवन मुक्त) रह कर वह प्राणी-मात्र का उपकारी बन जाता है।[1] मृत्यु के पश्चात् कर्म सिद्धान्तानुसार पुनर्जन्म केवल पूर्व जन्म के कर्मों का फल पाने के लिए ही होता है, और कर्मयोगी निवृत्त होने के कारण कर्म-फल का इच्छुक ही नहीं होता अतः वह फिर मुक्त हो अपने प्रभु में ही विलीन हो जाता है। संसार में उसकी स्थिति पद्म-पत्र की तरह होती है जो जल और कीच में रहता हुआ भी उससे अप्रभावित रहता है उस पर मलिनता या गीलेपन का कोई असर नहीं होता।

प्रवृत्त और निवृत्त कर्मों के इस मत का विवेचन करते हुए स्वा० विवेकानन्द ने कहा है एक असत्, कर्म है और दूसरा सत्। निवृत्ति ही समस्त नीति और सम्पूर्ण धर्म की नींव है और इसकी पूर्ति ही सम्पूर्ण 'आत्मत्याग' है जिसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य दूसरों के लिये अपना शरीर मन यहाँ तक कि अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है। तभी मनुष्य को कर्मयोग में सिद्धि प्राप्त होता है। सत्कार्यों का यही सर्वोच्च फल है। किसी मनुष्य ने चाहे एक भी दर्शन शास्त्र न पढ़ा हो किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास न किया हो और अभी भी न करता हो चाहे उसने अपने जीवन भर में एक बार भी प्रार्थना न की हो परन्तु केवल सत्कार्यों की शक्ति उसे यदि उस अवस्था में ले जाय, जहाँ वह दूसरों के लिए अपना जीवन और सब कुछ उत्सर्ग करने को तैयार रहे तो हमें समझना चाहिए कि वह उसी लक्ष्य को पहुँच गया है जहाँ एक भक्त अपनी उपासना द्वारा तथा एक ज्ञानी अपने ज्ञान द्वारा पहुँचता है—सब एक ही स्थान पर आकर मिल जाते हैं और वह स्थान है आत्मत्याग।[2] ध्यान रहे यह अनासक्ति भाव पुष्ट होगी। कर्मयोगी ने इसकी परख की होगी और अभिवार्मत इसके मूल्यांकन से परिचित होगी। किसी के कहने सुनने मात्र से यह सब सम्भव नहीं कर्ता की निष्कामता उसके निजी अनुभवों का विषय होगी। श्रीमद्भगवद्गीता का तीसरा अध्याय इसका प्रमाण है।

मुक्ति-साधन के रूप में कर्मयोग ज्ञान और भक्ति की अपेक्षा सहज मार्ग है। परन्तु निवृत्ति में समर्पण के जिस स्वरूप की माँग यहाँ की जाती है वह ज्ञान और भक्ति को इससे जुदा नहीं रहने देती। कर्म-संलग्नता को 'ईश्वर-हेतु' बनाना उत्कट भक्ति का ही नाम है और विषय-कार्यों में प्रवृत्त होकर भी निवृत्ति में अडिग रहना एक सच्चे ज्ञानी का ही लक्षण है। अभिप्राय यह कि ज्ञान भक्ति और कर्म ये तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए गीता अनासक्त-भाव से कर्म करते रहने का आदेश देती है उन्हें त्यागने का नहीं। कर्मों को त्यागना मृत्यु-जन्य जड़ता है। अपने धर्म से भागना ही मृत्यु है। दुनिया में हमारा आगमन ही हमारे द्वारा किसी न किसी

---

१ कर्मयोगी जनक एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

२ कर्मयोग—'अनासक्ति ही पूर्ण आत्मत्याग है', पृ० ६४-६५।

प्रकार के कर्म की पूर्ति का द्योतक है। यही कारण है कि उपर्युक्त प्रकार की दार्शनिक-तत्त्व प्रधान बातें सुनकर जन-साधारण उलझन में पड़ जाता है। दुनिया में जीने के लिए कर्म छोड़े नहीं बनता बिना छोड़े बन्धन-मुक्ति की सम्भावना नहीं। आखिर वह करे क्या ? विचित्र समस्या है। सांसारिक कर्म तो कर्माहति-बन्धनों का स्वरूप है। विश्व स्वयं एक मिश्र-यौगिक (Compound) संस्था है जिसमें कर्म-सिद्धान्तानुसार एक कर्म के भुगतान को आया जीव अन्य अनेक कर्मों के फंदों में फँस जाता है। यहाँ का प्रत्येक प्राणी इसी चक्र में खिंचा चला आ रहा है उससे बचने के लिए किया गया कोई भी प्रयत्न सफल नहीं होता परन्तु फिर भी इस चक्र से निकलने की इच्छा सब की है। समस्त धर्म दार्शनिक-सिद्धान्त अभ्यास तथा साधना इसी इच्छा के परिणाम-रूप अस्तित्व में आए हैं। अब उसी प्रश्न की पुनरावृत्ति होती है—आखिर जीव करे क्या ? इस चक्र से क्यों कर बचे ? कर्मयोग इसका उत्तर है। उक्त संसार चक्र से बचने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय ठीक अपने अभिप्राय में निवृत्ति को अपनाने का है। अर्थात् इस चक्र से पूर्णत: जुदा होकर दूर से इस की लीलाओं को देखना। एच्छिक स्थिति की प्राप्ति का साधन है 'योगाभ्यास'। योगी जब अपने लक्ष्य तक पहुँचता है तथा अपनी आत्मा को कैवल्य में स्थित करता है तो वह संसार से पूर्णत: अपना नाता तोड़ लेता है। उस समय संसार के आकर्षण विकर्षण हर्ष-विषाद सब उसके लिए मिट्टी हैं। वह इन से इतना दूर हट जाता है कि बाहरी साधन उसे दोबारा अपने तक खींच लेने में पूर्णत: निःशक्त हो जाते हैं और योगी निरतिशय परमानन्द का उपभोग करता है। दूसरा मार्ग है प्रवृत्ति का। संसार में रहते हुए कर्म करो अपने अन्दर में सब प्रकार की भाव-समता पैदा करो जीवन की समस्त अपेक्षित-विधियों का पालन करो—और अन्तत: निश्चयात्मक-भाव से विश्व चक्र के अन्दर रहते हुए, उससे बाहर निकलने का मार्ग खोज निकालो। यही मार्ग है कर्मयोग। कर्म के भीतर से निष्कामता पैदा करो इच्छा-विहीन कर्मों को जन्म दो और फल-स्वरूप अपनी सम्पूर्ण सक्रियता ईश्वरेच्छा पर समर्पित कर स्वयं इस कल्पना से भी मुक्त हो जाओ कि आपने कार्य किया। यह भी मत सोचो कि 'मुझे कुछ करना चाहिए था' इसलिए किया। प्राय: दुनिया में अपने कर्मों की सफाई पेश करते हुए लोग 'कर्तव्य' की ओट लेते हैं। अमुक-अमुक कार्य मेरा कर्तव्य था या है ऐसा कहा जाता है। परन्तु नहीं कर्मयोगी कर्म को कर्तव्य समझकर नहीं करता। उसका विश्वास है कि ईश्वरेच्छा से यह कराया गया है इसलिये उसने किया। उसका अपना स्वार्थ परार्थ या परमार्थ उसमें कुछ भी नहीं होता। वह तो गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचिन्' का सच्चा पालक बन जाता है। दुनिया में तो यह क्या चाहेगा भगवदोपासना में भी उसकी ईश्वर से कोई कामना नहीं होती। वह करता है क्योंकि उसके द्वारा होता है—और करवाने वाला उसका सर्वेसर्वा है। कर्मयोगी को किसी प्रकार का काम क्रोध लोभ मोह मद भय नहीं रह जाता। वह सर्वमहान त्यागी होता है जिसने भगवान के लिए सर्वस्व त्याग

दिया होता है। उसके कर्मों का अच्छा बुरा होना ईश्वर से सम्बन्धित है कर्म फल के भोग की अपेक्षा वह नहीं रखता इसीलिए प्रभु का प्रिय जीव बन जाता है। गीता में लिखा है—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।[1]

स्वयं अर्जुन को भी श्रीकृष्ण ने समस्त कर्मों के शुभ-कर्मों का ध्यान त्याग कर प्रभु शरण ग्रहण करने का उपदेश दिया है—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।[2]

श्रीमद्भगवद्गीता में इस महिम निवृत्त-कर्म को अन्य पाँचों प्रकार[3] के प्रवृत्तियुक्त कर्मों से उत्तम बताया गया है। इसी को मुक्ति का आधार भी स्वीकार किया है। गीता के उपदेश इस प्रकार हैं—

क— जैसे पतिव्रता स्त्री पति को ही सर्वस्व समझ कर पति का चिन्तन करती हुई पति की आज्ञानुसार पति के ही लिए मन वाणी शरीर से कर्म करती है वैसे ही परमेश्वर को ही सर्वस्व समझकर, परमेश्वर का चिन्तन करते हुए परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार मन वाणी और शरीर से परमेश्वर के ही लिए स्वाभाविक कर्तव्य-कर्म का आचरण करो'।[4] इस रूप में कर्म ही उपासना है।

ख— क्योंकि कर्म कारण-कार्य-भाव की ओर भी संकेत करता है इसलिए कर्म का फल तो होगा ही। परन्तु प्रत्येक कर्म के दो प्रकार के परिणाम होते हैं— एक तो त्वरित परिणाम होता है जिससे हर्ष और विषाद का अनुभव होता है। यह फल अनिवार्य है अतः बिना दुःखी हुए हँसमुख रह इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरा परिणाम सूक्ष्म-संस्कार (Subtle impression) रूप में एकत्रित होते हुए भविष्य में कोई स्थूल स्थिति उत्पन्न करने वाला होता है। इस स्थिति का अवरोध सम्भव है और यह दृढ़ आत्म विश्वास द्वारा हो सकता है।

ग— गीता के अनुसार मनुष्य केवल शारीरिक और मानसिक निमितियों का संग्रह ही नहीं। (ऐसा होने से वह कर्म सिद्धान्त से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता) उसमें एक उच्चतात्मा भी है जो सदैव मुक्त है। निम्नात्मा (Lower Self) कर्मों में संलग्न होता और उसके फल की इच्छा में बन्ध जाता है। अज्ञानी व्यक्ति अपने को

---

१ गीता अ० १२ श्लोक १६।
२ गीता अ० १८ श्लोक ६६।
३ अन्य पाँच प्रकार के कर्म हैं—(क) नित्य (ख) नैमित्तिक (ग) सहज (घ) शरीर-रक्षा के प्रति किये कर्म (ङ) काम्य।
४ गीता (छोटा संस्करण) गोरखपुर पाद-टिप्पण पृ० ११३ १४।

इसी से सम्बद्ध करता है परन्तु जब नियन्त्रित-कर्मों द्वारा अज्ञानावरण उठ जाता है तो वह अपने को उन्नतात्मा के रूप में पहचानता है। और उन्नतात्मा के लिये तो कर्म भी निष्कर्म होता है।

घ— निष्काम-कर्म ही उचित कर्म है, क्योंकि यह जीव को भव-बन्धनों से मुक्त करता है। सच तो यह है कि नैष्कर्म्य की स्थिति कर्म के माध्यम से ही प्राप्य है—ध्यान रहे नैष्कर्म्य का अर्थ गीता में कर्म-हीनता नहीं बल्कि ऐसे कर्म हैं, जिनके फल का नाश हो जाता है।[1]

ये चारों तत्त्व गीता के स्पष्ट कर्मयोग का उन्नत स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

कर्मयोग और कर्मकाण्ड

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी अनुचित न होगा कि गीता का कर्मयोग तथा *पूर्व-मीमांसा का कर्मकाण्ड दोनों को एक ही स्तर पर लाने के प्रयत्न तो हुए,* परन्तु फिर भी दोनों में एक गम्भीर अन्तर रह गया है। निस्सन्देह कर्मकाण्ड के यज्ञ दान तपादि अंगों को गीता में सहज-कर्म के नाम से स्वीकृति दी गई है और कर्मयोगी के लिए उन कर्मों के करने में निष्काम-वृत्ति का प्रतिपादन करते की सिफारिश भी हुई है, परन्तु मोटा अन्तर इन में ज्ञान और श्रद्धा का है। कर्मयोगी के निष्काम कर्म एक विशेष ज्ञान-स्तर के मानदण्ड पर जाँचे परखे रहते हैं। वह कर्म को समझता और पहचानता है तथा प्रभु में लीनता के कारण उसी को समर्पित कर देता है। परन्तु कर्म-काण्डी का कर्म अन्ध-श्रद्धा या विश्वास पर आश्रित रहता है। धर्म-विशेष में आस्था इष्ट निष्ठा तथा उसकी प्रसन्नता के लिए यज्ञ-हवन से देव-पूजन आदि भाव उसके कर्मों का आधार बनते हैं। इन कर्मों में ज्ञान या तर्क को कोई स्थान नहीं। ऐसे ज्ञान-विहीन कर्म प्रायः दो प्रकार के होते हैं—एक में आडम्बर और दम्भ अधिक होता है पृष्ठ भूमि कम एवं दूसरे में श्रद्धा और विश्वास की पृष्ठभूमि होती है लेकिन चिन्तन-मनन की कमी। मन के संयम के बगैर माला फेरना लम्बे-लम्बे तिलक लगाना सिद्धि-विहीन संन्यास का प्रदर्शन करना अथवा पहनना तथा धर्म के ठेकेदार बनकर क्षुद्र स्वार्थ के लिए दूसरों के गले कटवाना प्रथम प्रकार के कर्म हैं जिसकी मान्यता पूर्व-मीमांसा में भी नहीं दी गई। दूसरी प्रकार के कर्म धार्मिक कट्टरता एवं भावावलम्बन पर निर्भर हैं। इनमें प्रेम और भक्ति का गम्भीर आधार नहीं लिया जाता बल्कि अन्ध-श्रद्धा का सहारा लेकर अपरिपक्व-अनुकरण किया जाता है। मीमांसाकार का विश्वास है कि जीव की इस *स्थिति पर भगवान् की कृपा-दृष्टि होती है और स्वयं प्रभु उसका सम्बल बनकर भव* सागर के विकट थपेड़ों से उसकी रक्षा करता है। इसी स्थिति का चरम-रूप मीमांसा

Gita Rahasya—Tilak

में भी इच्छा-विहीन कर्मों का अपनाना है परन्तु वहाँ इसकी प्राप्ति त्याग और आत्म संयम से नहीं वरन् ईश्वर-कृपा से है।

कर्मयोग अपने में महत्तम और जीव के लिए सहज-व्यवस्था है। इसके माध्यम से हम सरलतापूर्वक अपने उद्धार की योजना बना सकते हैं। निष्काम-वृत्ति उत्पन्न करने के लिए कर्म फल-समर्पणार्थ प्रभु भक्ति का बीजारोपण अपने आप हो जाता है। इस तथ्य को अपनाकर जब कर्मयोगी मुक्ति का साधन जुटा लेता है तो 'कर्म रहस्य' की जानकारी उसे ज्ञानियों की पंक्ति में ला खड़ा करती है। अतः इस प्रकार कर्मयोगी में भक्त और ज्ञानी के लक्षण भी स्वयमेव आ जाते हैं और वह मुक्तात्मा बन परमानन्द तथा शान्ति का उपभोग करता है। इसके विपरीत कर्मकाण्डी बाहरी रूप से करता तो बहुत कुछ है परन्तु अन्ध-श्रद्धा होने के कारण रहस्य या तत्त्व की जानकारी उसे नहीं मिलती—क्योंकि वह उसकी खोज ही नहीं करता। और भगवद्गीता में अधिक मूल्यांकन उसी का है जो उसे 'तत्त्व से पहचानकर' कर्मों को उसके प्रति समर्पित करे। लिखा है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ४ ३२।

(ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार किए गए हैं इन सबको शरीर मन एवं इन्द्रियों की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न होने वाले जान इस प्रकार तत्त्व से जानकर निष्काम कर्मयोग द्वारा संसार बन्धन से मुक्त हो जायगा।)

ज्ञान, भक्ति और कर्म

जैसे एक गंतव्य पर पहुँचने के लिए भिन्न राही जुदा जुदा मार्गों को अपनाकर भी अंत में एक ही स्थान पर जा मिलते हैं वैसे ही ज्ञान भक्ति और कर्म प्रभु-मिलन के तीन साधन हैं। साधक कोई भी साधन अपनाए, लक्ष्य वही परमपद की प्राप्ति ही है। साधना-क्षेत्र में प्रत्येक मार्ग की निजी सुविधाएँ हैं अपनी कठिनाइयाँ हैं और अपेक्षाएँ हैं परन्तु साध्य वही पूर्ण-पुरुष है जिसका आकर्षण ज्ञानी को रहस्योद्घाटन के लिए प्रेरित करता है भक्त को आत्म-समर्पण हेतु उभारता है और कर्मयोगी को आत्मत्याग-युत परोपकार-प्रेरणा देता है। प्रभु-कृपा हर प्रकार के जिज्ञासु पर होती है लेकिन अपने को अडिग और उचित रीति से आध्यात्मिकता के मार्ग पर बढ़ाने वाला साधक परम-सत्य का अधिकारी बन जाता है जिसके जाने बाला भौतिक-बन्धनों से ही मुक्त नहीं हो पाता।[1]

---

१ परिवार में जैसे माता-पिता का स्नेह सब बच्चों पर होता है परन्तु जो बच्चा अपने सदाचार, सेवाभाव एवं आज्ञापालन से माता-पिता का अधिक रिझा लेता है वह उनकी दृष्टि में विशेष स्थिति का अधिकारी हो ही जाता है।

उक्त तीनों मार्ग यद्यपि अपना पृथक अस्तित्व रखते और एक दूसरे से श्रेष्ठ कहलाने का दम भरते हैं तो भी एक दूसरे से पूर्ण-रूपेण कोई जुदा नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता के मतानुसार जिज्ञासु चाहे अपनी सुविधानुसार कोई भी मार्ग पहले चुने और उसका अभ्यास करने लगे—समय आने पर उसे शेष दो का स्वरूप भी जानना होगा और उनकी सहायता से जीवन की संश्लिष्टता प्राप्त कर अपने ध्येय की ओर बढ़ना होगा। सामान्यतः रहस्य जान लेने के बाद ज्ञानी का लक्ष्य ब्रह्म में लीन होना होता है। इसकी उपलब्धि समर्पण और आत्मनिवेदन (भक्ति) तथा आगामी कर्म-सिद्धान्त से बचाव के लिए नैष्कर्म्यता (अनासक्त-कर्म) के माध्यम से ही सम्भव है। भक्त को (गीता के अनुसार) ज्ञानी भक्त बनकर ही भक्ति की खोज करनी होगी है कर्मयोग के बिना वह अपने को आत्म-त्यागी नहीं बना सकता। कर्मपथ का साधक भी बिना ज्ञान और भक्ति का आश्रय लिए कर्म-फल के मोह का त्याग नहीं कर सकता और न ही प्रभु के हेतु कर्म-समर्पण में उसे सफलता मिल सकती है। अस्तु यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि तीनों मार्ग एक-दूसरे के साधक हैं बाधक नहीं और तीनों का विशिष्ट-मात्रा में संयोग ईश्वर-मिलन के महद् लक्ष्य को सार्थक करता है। तथापि नीचे हम महात्मा तुलसीदास के रामचरितमानस पर आश्रित भिन्न मार्गों की कठिनाइयों और सुविधाओं का विवेचन करना अनुचित नहीं समझते।

म० तुलसीदास स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं।[1] दोनों मुक्ति के साधन हैं। लेकिन महान साक्षात्कारों महात्माओं आदि ने जन-साधारण को समझाने के लिए कुछेक भेदों का स्पष्टीकरण किया है जो कि इस प्रकार हैं।[2] तुलसीदास लिखते हैं कि ज्ञान योग वैराग्य आदि सब भव्य पुल्लिंग हैं[3] और प्रायः पुरुष सशक्त होता है और स्त्री अबला और जड़ स्वभाव की होती है।[4] ऐसे में चाहिए तो यह कि पुरुष स्त्रियों के मोह-जाल से बच रहें। परन्तु यह विचार सकाम-कल्पना मात्र ही है वास्तविक-जीवन में ऐसा नहीं होता। केवल इन्द्रियजित विरक्त और विवेकशील व्यक्ति ही स्त्रियों (माया) का त्याग करने योग्य हैं। अन्य संसारी ऐसा नहीं कर सकते। प्रयत्न करने पर भी उन्हें इसमें सफलता नहीं मिलती।[5] जिन वैरागियों ने प्रयत्न किया जंगलों में जाकर तप-त्याग में लिप्त

---

१ ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।
१३ उत्तरकाण्ड-रामचरितमानस

२ नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर। सावधान सोउ सुनु बिहंगवर। १४ वही।

३ ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना। १५ वही।

४ पुरुष प्रताप प्रबल सब भांति। अबला अबल सहज जड़ जाती। १६ वही।

५ पुरुष त्यागि सक नारिहिं जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो बिषय बस बिमुख जे पद रघुबीर॥ १७९, वही।

जमाया और नारी की मोहिनी से सदा बचते रहे, वे भी स्त्री जोकि प्रबल माया है का सामना होने पर फिसल पड़े। बड़े-बड़े ज्ञानी और तपस्वी औरत के चन्द्रमुख को देखकर विकल हो उठे। स्वयं संयम-रूप शिवजी भगवान् के मोहिनी रूप को देखकर कामातुर हो उठे थे। पाराशर और विश्वामित्र सरीखे ज्ञानियों का तो कहना ही क्या?[1] अर्थात् ज्ञान पुरुषवाचक होने के कारण प्रायः स्त्रीवाचक माया की ओर आकृष्ट हो ही जाता है परन्तु भक्ति स्वयं स्त्रीवाचक है और क्योंकि नारी नारी की ओर आकृष्ट नहीं होती[2] इसलिए भक्ति भी माया के फंदे में नहीं फंस सकती। पुनः माया तो प्रभु के दरबार की क्षुद्र नर्तकी मात्र है और भक्ति प्रभु की प्रेमिका।[3] इसीलिए जिसके हृदय में प्रभु की भक्ति का निवास है वहाँ स्वयं भगवान् निवसित हैं। वहाँ अन्य कोई उपाधी नहीं आ सकती क्योंकि उस हृदय में भक्ति का आसन देखकर माया संकुचित हो जाती है और शान्त रह जाती है। तुलसी बताते हैं कि भक्ति प्रभु को प्रिय होने के कारण अधिक सशक्त है और माया अपनी दुर्बलता के कारण उससे टकराने में भय खाती है। यही सब विचार कर महात्माजन प्रभु से उसकी भक्ति की माँग करते हैं, ज्ञान की नहीं। भक्ति सब प्रकार के गुणों का अपरिमित कोष है जबकि ज्ञान थोड़ा भी भटक जाने पर पतन के गर्त में गिरा देता है।[4]

ज्ञान और भक्ति का एक अन्य भेद म० तुलसीदास बड़े ही मार्मिक शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि वास्तव में उक्त भेद शब्दों में समझाया नहीं जा सकता यह व्यावहारिक-चिन्तन है। जो जीव अन्तर्यामी करे, वही सुगमतापूर्वक इसे समझ सकता है। यह जीवात्मा मालिक का अंश है। यह चेतन है अमल है और सर्वोच्च है। यह प्रभु के सागर की बूँद है महान् शक्तिशाली है। परन्तु दुर्भाग्यवश माया के फंदे में फंस गया है। जैसे हम तोते को पिंजर में बन्द कर लेते हैं या बन्दर को रस्सी से बाँध कर नचाते हैं, वैसे ही माया ने जीव को तोते या बन्दर की तरह बाँध रखा है और क्योंकि जीव अपनी वास्तविक शक्ति भूल चुका है इसलिए माया

---

१ सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि। सोरठा ॥१६॥
बिबस होहिं हरियान नारि बिष्नु माया प्रगट।

२ मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा। २।
माया भगति सुनहु प्रभु दोऊ। नारि बर्ग जानै सब कोऊ। ३।

३ पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी। ४।

४ भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया। ५।
रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी। ६।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई। ७।
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी। ८। रामचरित मानस

उक्त तीनों मार्ग यद्यपि अपना पृथक अस्तित्व रखते और एक दूसरे से श्रेष्ठ कहलाने का दम भरते हैं तो भी एक दूसरे से पूर्ण-अपेक्षा कोई जुदा नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता के मतानुसार जिज्ञासु चाहे अपनी सुविधानुसार कोई भी मार्ग पहले चुने और उसका अभ्यास करने लगे—समय आने पर उसे शेष दो का स्वरूप भी जानना होगा और उनकी सहायता से जीवन की संश्लिष्टता प्राप्त कर अपने ध्येय की ओर बढ़ना होगा। सामान्यतः रहस्य ज्ञान लेने के बाद ज्ञानी का लक्ष्य ब्रह्म में लीन होना होता है। इसकी उपलब्धि समर्पण और आत्मनिवेदन (भक्ति) तथा आगामी कर्म-सिद्धान्त से बचाव के लिए नैष्कर्म्यता (अनासक्त-कर्म) के माध्यम से ही सम्भव है। भक्त को (गीता के अनुसार) ज्ञानी भक्त बनकर ही भक्ति की खोज करनी होती है। कर्मयोग के बिना वह अपने को आत्म-त्यागी नहीं बना सकता। कर्मपथ का साधक भी बिना ज्ञान और भक्ति का आश्रय लिए कर्म-फल के मोह का त्याग नहीं कर सकता और न ही प्रभु के हेतु कर्म-समर्पण में उसे सफलता मिल सकती है। अस्तु यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि तीनों मार्ग एक-दूसरे के साधक हैं बाधक नहीं और तीनों का विशिष्ट-मात्रा में संयोग ईश्वर मिलन के महत् लक्ष्य को सार्थक करता है। तथापि नीचे हम महात्मा तुलसीदास के रामचरितमानस पर आश्रित भिन्न मार्गों की कठिनाइयों और सुविधाओं का चित्रण करना अनुचित नहीं समझते।

म० तुलसीदास स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और भक्ति में कोई अन्तर नहीं।[1] दोनों मुक्ति के साधन हैं। लेकिन महान शास्त्रकारों महात्माओं आदि ने जन साधारण को समझाने के लिए कुछेक भेदों का स्पष्टीकरण किया है जो कि इस प्रकार है।[2] तुलसीदास लिखते हैं कि ज्ञान योग वैराग्य आदि सब शब्द पुल्लिंग हैं[3] और प्रायः पुरुष सशक्त होता है और स्त्री अबला और जड़ स्वभाव की होती है।[4] ऐसे में चाहिए तो यह कि पुरुष स्त्रियों के मोह-जाल से बचे रहें। परन्तु यह विचार सकाम-कल्पना मात्र ही है वास्तविक-जीवन में ऐसा नहीं होता। केवल इन्द्रियजित विरक्त और विवेकशील व्यक्ति ही स्त्रियों (माया) का त्याग करने योग्य हैं। अन्य संसारी ऐसा नहीं कर सकते। प्रयत्न करने पर भी उन्हें इसमें सफलता नहीं मिलती।[5] जिन वैरागियों ने प्रयत्न किया जंगलों में जाकर तप-स्थान में लिप्त

---

१ ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।
११५ उत्तरकाण्ड-रामचरितमानस

२ नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर। सावधान सोउ सुनु बिहंगबर। ११४ वही।

३ ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना। ११५, वही।

४ पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँति। अबला अबल सहज जड़ जाती। ११५ वही।

५ पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो बिषय बस बिमुख जे पद रघुबीर॥ ११५, वही।

समस्या और नारी की मोहिनी से सदा बचते रहे, वे भी स्त्री क्योंकि प्रबल माया है का सामना होने पर फिसल पड़े । बड़े-बड़े ज्ञानी और तपस्वी औरत के चन्द्रमुख को देखकर विकल हो उठे । स्वयं संयम-रूप शिवजी भगवान् के मोहिनी रूप को देखकर कामातुर हो उठे थे । पाराशर और विश्वामित्र सरीखे ऋषियों का तो कहना ही क्या ?[1] अर्थात् ज्ञान पुरुषवाचक होने के कारण प्रायः स्त्रीवाचक माया की ओर आकृष्ट हो ही जाता है परन्तु भक्ति स्वयं स्त्रीवाचक है और क्योंकि नारी नारी की ओर आकृष्ट नहीं होती[2] इसलिए भक्ति भी माया के फंदे में नहीं फंस सकती । पुनः माया तो प्रभु के दरबार की क्षुद्र नर्तकी मात्र है और भक्ति प्रभु की प्रेमिका ।[3] इसीलिए जिसके हृदय में प्रभु की भक्ति का निवास है वहाँ स्वयं भगवान् निवसित है । वहाँ अन्य कोई उपाधी नहीं आ सकती क्योंकि उस हृदय में भक्ति का आसन देखकर माया संकुचित हो जाती है और शान्त रह जाती है । तुलसी बताते हैं कि भक्ति प्रभु को प्रिय होने के कारण अधिक सशक्त है और माया अपनी दुर्बलता के कारण उससे टकराने में भय खाती है । यही सब विचार कर महात्माजन प्रभु से उसकी भक्ति की मांग करते हैं ज्ञान की नहीं । भक्ति सब प्रकार के गुणों का अपरिमित कोष है जबकि ज्ञान थोड़ा भी भटक जाने पर पतन के गर्त में गिरा देता है ।[4]

ज्ञान और भक्ति का एक अन्य भेद म० तुलसीदास बड़े ही मार्मिक शब्दों में प्रस्तुत करते हैं । कहते हैं कि वास्तव में उक्त भेद शब्दों में समझाया नहीं जा सकता यह व्यावहारिक-चिन्तन है । जो जीव अन्तर्यात्रा करे, वही सुगमतापूर्वक इसे समझ सकता है । यह जीवात्मा मालिक का अंश है । यह चेतन है अमल है और सर्वोच्च है । यह प्रभु के सागर की बूंद है महान् शक्तिशाली है । परन्तु दुर्भाग्यवश माया के फंदे में फंस गया है । जैसे हम तोते को पिंजरे में बन्द कर लेते हैं या बन्दर को रस्सी से बांध कर नचाते हैं वैसे ही माया ने जीव को तोते या बन्दर की तरह बांध रखा है और क्योंकि जीव अपनी वास्तविक शक्ति भूल चुका है इसलिए माया

सोइ मुनि ज्ञान निधान मृगनयनी विधुमुख निरखि । सोरठा ॥११५॥
विकल होहिं हरियान नारि विष्णु माया प्रगट ।

मोह न नारि नारिके रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा । २ ।
माया भक्ति सुनहु प्रभु दोऊ । नारि वर्ग जानै सब कोऊ । ३ ।
पुनि रघुबीरहिं भक्ति पियारी । माया खलु नर्तकी बिचारी । ४ ।
भक्तिहिं सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया । ५ ।
रामभक्ति निरुपम निरुपाधी । बसै जासु उर सदा अबाधी । ६ ।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई । करि न सकै कछु निज प्रभुताई । ७ ।
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी । जाचहिं भक्ति सकल सुखखानी ।८। रामचरितमानस

के संकेतों पर नाचता भर रह जाता है। इस पर 'जड़ चेतन की ऐसी गाँठ'[1] पड़ गई है कि अनेक प्रयास करने पर भी जीव उसके खोलने में सफल नहीं हो सकता। यह बेचारा संसारी बना है सुख की वांछा रखता हुआ भी उससे वंचित है। वेद-शास्त्रों के अध्ययन तथा ज्ञानोत्पत्ति के बहुत उपाय किए गए परन्तु इच्छा पूर्ण नहीं हुई। उक्त इच्छा की पूर्ति तो केवल परमेश्वर की अतीव कृपा से ही सम्भव है वही चाहे तो गाँठ खोल जीवात्मा को मुक्त कर सकता है अन्यथा सब असमर्थ हैं। ज्ञानयोगी ज्ञान-ज्योति के प्रकाश में इस गाँठ को खोलना चाहते हैं परन्तु उस ज्योति की प्राप्ति ही पहले अति कठिन है[2] और यदि मिल भी जाए तो गाँठ खोलना सौभाग्य पर आधारित है क्योंकि माया वहाँ अनेक विघ्न रचती है ऋद्धियाँ सिद्धियाँ का लोभ देती है। जीव यदि थोड़ा भी उस लोभ की ओर आकृष्ट हुआ कि अनेक मुसीबतों से प्रज्वलित ज्ञान-दीप अचानक बुझ जाता है। मान लीजिए ज्ञान कुछ प्रबल

---

१ पाँच तत्त्व तीन गुण पच्चीस प्रकृति मन और माया के पर्दे जीव पर चढ़े हैं यही जड़ चेतन की गाँठ है।

२ प्रस्तुत ज्ञान-ज्योति जलाने के लिए जिस बत्ती और नेह की आवश्यकता पड़ती है तुलसी उसका स्वरूप यों प्रकट करते हैं—

सात्विकि श्रद्धा धेनु सुहाई । जो हरिकृपा हृदय बस आई । ९ ।
जपतप संयम नियम अपारा । जे श्रुति कह शुभधर्म अचारा । १० ।
सोइ तृन हरित चरै जब गाई । भाववत्स शिशु पाइ पन्हाई । ११ ।
नोई निवृत्ति पात्र विश्वासा । निर्मल मन अहीर निज दासा । १२ ।
परम धर्ममय पय दुहि भाई । अवटै अनल अकाम बनाई । १३ ।
तोष मरुत तब क्षमा जुड़ावै । धृतिसम जावन देइ जमावै । १४ ।
मुदिता मथै विचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुबानी । १५ ।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता । विमल विराग सुभग सुपुनीता । १६ ।

दोहा—जोग अग्नि करि प्रगट तब कर्म शुभाशुभ लाई ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममतामल जरि जाई ॥१८२॥
तब विज्ञान निरूपिणी बुद्धि विशद घृत पाई ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटी बनाई ॥१८३॥
तीन अवस्था तीन गुण, तिहि कपास ते काढ़ि ।
तूल तुरीय सँवारि पुनी बाती करै सुगाढ़ि ॥१८४॥

सोरठा—यहि विधि लै सो दीप तेज राशि विज्ञानमय ।
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक शलभ सब ॥१७॥

चौ०—सोहमस्मि इतिवृत्ति अखंडा । दीपशिखा सोइ परम प्रचंडा । १ ।
आतम अनुभव सुख स्वप्रकाशा । तब भवमूल भेद भ्रम नाशा । २ ।
प्रबल अविद्याकर परिवारा । मोह आदि तम मिटै अपारा । ३ ।
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा । उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरा । ४ ।

उत्तरकांड—रामचरितमानस

है और ऋद्धि-सिद्धि शक्तियों की ओर नहीं झुकता तो इन्द्रियों के देवता[1] उत्पात करते हैं। जीव जिनकी पूजा करता है वेही उसका मार्ग-रोधक बनते हैं। जब कभी विषय-वासना का पवन चलता है तो वे हठपूर्वक उसके अन्तर्प्रवेश के द्वार[2] खोल देते हैं। विषय-प्रभंजन के वेग से ज्ञान का दीपक बुझ जाता है। जो स्थिति साधक मुसीबतें और कठिनाइयाँ सहन कर प्राप्त की थी क्षण भर में जीव उससे हाथ धो बैठता है। जब प्रकाश ही नहीं रहता गाँठ कैसे सुझे? इन्द्रियों के देवताओं को ज्ञान सुहाता नहीं वे तो विषय-विकारों के प्रेमी हैं—'इन्द्री सुरन्ह न ग्यान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई।' अतः दोबारा दीपक जलाने की प्रेरणा उसे कहाँ से मिले? सच ही भगवान् की माया अतीव दुस्तर है उससे पार पाना बेचारे ज्ञान मार्ग के बूते की बात नहीं। कहते हैं कि पहले तो ज्ञान मार्ग का वर्णन ही बड़ा कठिन है फिर इसे समझना और भी कठिन। उदाहरण देकर समझाते हैं कि लकड़ी का घुन खाता है तो कभी-कभी जैसे कोई अक्षर बन जाता है (यद्यपि वह घुन साक्षर नहीं होता) वैसे ही हजारों ज्ञानियों में से कोई एकाध अकस्मात् सफल ज्ञानी बन सकता है। ज्ञान तलवार की धार है इस पर चलना सहज में सम्भव नहीं।

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक ॥११८॥
ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा। १। चौपाई

तुलसीदास का तो मत है कि जिस प्रकार मिट्टी के (बरतन के) बिना पानी नहीं रह सकता उसी प्रकार भक्ति के बिना ज्ञान नहीं रह सकता। कारण स्पष्ट है कि यदि कोई ज्ञानी निर्विघ्न ज्ञान-दीप प्रकाशित कर भी ले तो क्या पाएगा? कैवल्य मुक्ति? यह कैवल्य मुक्ति यद्यपि वेद शास्त्रों और ज्ञानियों के मतानुसार परमोच्च-पद है

जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई। २।
अति दुर्लभ कैवल्यपरमपद। संत पुरान निगम आगम बद। ३।

परन्तु भक्त का मंतव्य इससे भिन्न है।[3] उसकी भक्ति में इतनी स्वाभाविक

---

१ शास्त्रानुसार ये इस प्रकार हैं—दाहिनी आँख का देवता सूर्य बाईं आँख का चन्द्र, जबान का वरुण आदि।

२ विषय-वासना के प्रवेश-द्वार ये इन्द्रियाँ ही हैं। यथा आँखें सौन्दर्य-रूप की पिपासु हैं—और यही सम्पूर्ण लोलुपता का जन्म होता है।

३ कैवल्यपद ज्ञानी का परम साध्य होता है। भक्त इससे आगे की इच्छा रखता है। वह निरंकारी ज्योति में लीन होना अपना ध्येय बनाता है और किसी सद्गुरु की कृपा से दसवें द्वार में ज्योति-ध्यान पाकर सहजावस्था का अधिकारी होता है। गुरु नानक का सहज अथवा भक्त का मुक्ता सहज कहा जा सकता है।

शक्ति है कि बिना इच्छा किए ही जिज्ञासु को मुक्ति का अधिकार मिलता है।[1] किसी सद्गुरु का मार्ग प्रदर्शन योग पर प्रभु-कृपा का उज्ज्वल कारण बनता है, और सम्पूर्ण विषय-वासनाएँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं। सदय सम्मुख पड़ा दिखता है—भक्ति का अपना प्रकाश ज्ञान-दीपक की तरह बुझने योग्य नहीं वह तो चिर प्रदीप्त चिन्तामणि के समान नित्य-देदीप्यमान है। इसके जलाने के लिए ज्ञान-ज्योति की तरह दिया घृत या बत्ती किसी वस्तु की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस सम्पन्नता के सम्मुख मोह रूपी दरिद्रता का क्या ठिकाना! लोभादि पवन भी इसको बुझाने में असमर्थ है।

राम भक्ति चिन्तामनि सुन्दर। बसे गरुड़ जाके उर अन्तर।
परम प्रकासरूप दिन राती। नहीं कुछ चहिय दिया घृत बाती।
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।

स्पष्ट ही ऐसे चिर-ज्योतित प्रकाश में अज्ञानान्धकार को कोई स्थान नहीं। अतः तुलसी मतानुसार ज्ञान की अपेक्षा भक्ति-पथ उच्च ठहरता है।

पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्ममार्ग वास्तव में भक्तियोग का ही एक अंग है। कर्मयोग के मुख्य स्वरूप 'कर्म रहस्य को पहचानना' 'कर्म-सिद्धान्त का अन्त' 'प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म प्रवृत्ति' और 'फल में अनासक्ति' ये सब उत्कृष्ट भक्ति के ही अंग हैं। योगाभ्यासी का त्याग कर्मपथ से हट जाने में है परन्तु भक्त का त्याग अपने प्रभु की इच्छा में सूत्रधार के हाथ में कठपुतली की तरह कर्मरत रहने में है। यहाँ त्याग कर्म का नहीं कर्मफल का किया जाता है। पुनः कर्मयोग हो या भक्ति योग दोनों की मुख्य धुरी है भगवान के प्रति उत्कट प्रेम। प्रेमोन्मत्त जिज्ञासु 'हुकम बिना न भूले पाना' का [illegible] समर्थक बन आत्म-निवेदन करता है आत्मत्याग भी और कर्म-समर्पण भी—अतः भक्ति और कर्म तो इतना अधिक परस्पर आश्रित हो गए हैं कि एक की अनुपस्थिति में दूसरा अधूरा दिखता है। ज्ञान का स्थान तो कर्मयोग में पहले से ही स्वीकार कर लिया गया है। अस्तु परिणाम यह निकलता है कि ज्ञान भक्ति और कर्म तीनों अपने में अकेले तब तक अपूर्ण हैं जब तक कि दूसरे का आश्रय नहीं मिल जाता। यह बात पृथक है कि आश्रय लेते समय 'विशिष्ट अंग' के नामकरण में कुछ मौलिकता आ जाय।

गुरु नानक का विचार—गुरु नानक पंथ (संतमत) जिसमें नाम-जाप हुकम रजाई, जीवन-मुक्त हो परोपकार, तथा आत्म-समर्पण द्वारा निरंकारी-ज्योति में विलीनता का परम-साध्य मुख्य विषय है निश्चय ही भक्तिमार्ग का उच्च आदर्श अपनाए हुए कहा जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु नानक ज्ञानमार्ग

---

१ राम भजन सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं। ४।

या कर्ममार्ग के विरोधी थे। वे तो समन्वयात्मक-प्रवृत्ति के महात्मा थे माया के फंदों में फंसे भोले जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाने आए थे अतः स्वाभाविक ही था कि वे किसी ऐसे मार्ग का निर्देशन करते जिसे जन-साधारण सुगमता-पूर्वक समझ कर पालते तथा लक्ष्य-उपलब्ध करते। यही कारण है कि आध्यात्मिकता के मुक्तिपथ पर चलने के लिए वैराग्य और योग-साधना जो ज्ञानियों का मुख्य विषय है उन्होंने गुरु की महत्ता-स्वीकृति में ही पूर्ण कर लिया। घर-बार और दुनियावी आकर्षणों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी। गुरु नानक का गुरमुख गुरु-सांकेतिक पथ पर चलने मात्र से ही निर्मल बुद्धि का अधिकारी हो जाता है, वह ज्ञानी बन जाता है—क्योंकि गुरु सरीखी विभूति की अपार कृपा से उसके सम्मुख रहस्योद्घाटन ही नहीं होता प्रत्युत गुरु दयावश उसके सम्पूर्ण अहं और पूर्व-संस्कारों का अन्त कर देता है जिससे वह शुद्ध मन हो नाम में चित्त लगाता है और वहाँ इतनी तीव्र भक्ति का उदय होता है कि नाम जपने वाला स्वयं उसके समवर्ती 'नामी' में ही लीन हो जाता है। गुरु नानक दृष्टिकोण में यही 'जीवन मुक्ति' है। इसकी प्राप्ति गुरमुख में कर्मयोग के आदर्शों का बीजारोपण करती है। वह अपनापन गँवाने के बाद दुनिया का प्रत्येक काम हुक्म की परिधि में करने लगता है। वह प्राणी-मात्र का सेवक बन जाता है योगी की भाँति कैवल्य तक पहुँच संसार से विरक्त नहीं हो बैठता। स्पष्ट है कि गुरु नानक ने गुरमुख के लक्षणों में भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों की यथेष्ट मात्रा का समन्वय प्रस्तुत किया है जिसमें प्रमुखता भक्ति की है। अतः गुरु नानक पथ को निष्काम प्रवृत्तिमय-ज्ञानपूर्ण-भक्तिमार्ग कहा जाय तो अनुचित न होगा।

अन्य साधन : अन्तर्मुखी होना

भारतीय-सन्त-महात्माओं ने मनोभावों के बाह्य फैलाव का नियंत्रित कर अन्तर्मुखी होने की प्रेरणा प्रदान की है। गुरु नानक भी इस विचार-क्षेत्र में अपवाद नहीं हैं। प्रस्तुत सिद्धान्तानुसार स्वीकार किया जाता है कि साक्षात् ब्रह्म की अंश—आत्मा—बाहरी कार्य-व्यापार में तल्लीन इन्द्रियों के आकर्षणों में फँस अपने को शरीर के समरूप समझने लगी है। परिणाम यह होता है कि समस्त संसार उसके लिए दुःखमय बन जाता है। शरीर-धारण करने से परम चेतन अपने यथार्थ-स्वरूप से पतित हो शरीर के दुर्गुणों-गुणों और-आसक्ति के साथ अपना सुख दुःख या मोह-आनन्द अनुभव करने लगता है—वास्तव में दुःख का कारण यह खोटी अनुभूति ही है। तभी तो कबीर साहिब ने लिखा था—

तन धर सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया हे।

'यदि तन-धारण कर उसके चलाने वाले मनके और अन्दर में 'नाम' के साथ जुड़ जाते तो शान्ति होती यही शरीर हरि-मन्दिर बन जाता। परन्तु उलटी हालत बन र

है। हम इन्द्रियों के भोगों-रसों में सिमटे हैं, विषय-विलासामियत का रूप बने बैठे हैं। अपने आप को भूल चुके हैं प्रभु को भूल चुके हैं इसी लिए हम दुःखी हैं।[1] उक्त दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग है अन्तर्मुखी होना। चित्त की वृत्तियाँ हमने बाहर फँसा रखी हैं भौतिक-उपकरणों के जुटाने और उनसे आनन्द-लाभ करने की क्रिया में हम व्यस्त हैं। अस्तु यदि उन ऐन्द्रिक-आकर्षणों से मन को हटाकर हम अपनी भीतरी शक्तियों की ओर प्रवृत्त करें, अपनी तन्मयता का पहचानें और बाह्य-कार्य चक्र का त्याग कर भीतरी आत्मा के केन्द्र पर ध्यान जमाएँ तो लक्ष्य सिद्धि की निकटता प्राप्त हो सकती है। हर समय लौकिक बातें सोचने अपने लाभ-हानियों से पूछने जुड़ने की अपेक्षा मन-मन्दिर म सत्य (परम चेतना का अंश—आत्मा) की प्रतिमा प्रतिष्ठित कर अन्तर्ध्यान होने से परम-सुख का उपकरण वो अलौकिक-दृष्टिकोण मिलेगा वह अपेक्षित साधना (अन्तर्मुखी होना) का प्रथम पुरस्कार होगा। मन संयत हो जाने से चित्त-वृत्ति निरोध से वासना की मैल कम जाएगी और हरि भजन में लीनता का संयाम सम्भव होगा। अन्तर्मुखी होने के अभ्यास में आत्म-तत्त्व का बोध हो सकेगा—जो परम-तत्त्व से मिलने के लिए एक मात्र माध्यम कहा जा सकता है।

मुख्य-लक्ष्य मन की वृत्तियों को आत्मा के स्वरूप पर केन्द्रित करना है। यह तो सर्वमान्य ही है कि शक्ति के फैलाव की अपेक्षा उसका केन्द्रीयकरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए सूर्य को लीजिए। उसकी कोटि-कोटि किरणें चतुर्दिक फैली हैं। उनमें काफ़ी ताप है परन्तु कोई उनसे जलता नहीं क्योंकि उसका ताप फैला हुआ है। अब यदि इसी किरण-ताप को आतशी शीशे द्वारा किसी स्थल पर केन्द्रित किया जाए, तो निश्चय ही कुछ समय बाद वह स्थान जल उठता है। ठीक इसी प्रकार मानवात्मा का ताप मनोभावों तथा ऐन्द्रिक-आकर्षणों की ओर खिंच कर उन्हीं के फैलाव म फँस रहा है। इसी फैलाव में आत्मा का सच्चा रूप लगभग नष्ट प्राय हो गया है। इसे केन्द्रित करने की आवश्यकता है सफलता मिलने पर अपने आप आत्मोपलब्धि हो सकेगी और वह परम ज्योति जो मनुष्य के अन्दर सदैव प्रदीप्त है स्वप्रकट हो जायगी। गुरु नानक भी उक्त ज्योति तक पहुँचना तथा आत्म-ज्ञान के पश्चात परम में विलीन होने को अपना ध्येय मानते हैं। इसी लिए उनका दृष्टिकोण अन्तर्मुखी होने को आत्मोपलब्धि का साधन स्वीकार करता है और इसके लिए उन्होंने नाम-स्मरण का सहज क्रम अपनाने का आदेश दिया है। गुरु नानक मतानुसार नाम-स्मरण द्वारा ही मनुष्य चित्त-वृत्तियों को आत्मरूप पर केन्द्रित कर सकता है।[2]

---

१ सद्-सन्देश देहली नवम्बर १९५९ पृ० २७।
२ इसके आगे का स्वरूप पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

श्रुति-मार्ग तथा ज्योति-मार्ग

भारतीय परम्परा के अनुसार अन्तर्मुखी होने की दो मुख्य विधियाँ हैं—श्रुति मार्ग और ज्योति-मार्ग। धर्म-ग्रन्थों के श्रवण उनमें विश्वास एवं उनके आदेशानुसार चित्त-वृत्ति निरोध द्वारा अन्तर्मुखी होने की साधना को श्रुति-मार्ग कहते हैं। यह गुरु-विहीन बौद्धिक सम्बल का मार्ग है। साधारण-मनुष्य के लिए इसके किसी भी स्तर तक पहुँच कर फिसल जाना सम्भव हो सकता है। तर्क-शक्ति अथवा किसी प्रकार का विपरीत अनुभव उसके धार्मिक विश्वास को हिला सकता है। गुरु के अभाव म प्रस्तुत मार्ग की एक बड़ी बाधा यह है कि थोड़ी सी गहनता भी मानव को उलझन के गोरख-धन्धे में डालकर पथ भ्रष्ट कर सकती है मार्ग से भटका सकती है।

गुरु के कथनानुसार नाम-जाप करते हुए अन्तर में चिर-ज्योतित दीप्ति पर ध्यान जमाना उसके चिरंतन-सत्य को समझने का सत्प्रयास करना और अन्ततः उसे साक्षात् करना आदि ज्योति-मार्ग द्वारा अन्तर्मुखी होना और आत्म-बोध की साधना कहलाता है। अधिकारी सन्त-महात्माओं ने इसी पथ को श्रेष्ठ माना है। प्रस्तुत-पथ का राही शीघ्र ही अन्तर के यथार्थ रूप को समझ उस परम-ज्योति में विलीन होने के उच्चतम लक्ष्य को पा जाता है। गुरु नानक ने इस प्रकार अन्तर्मुखी होने का सीधा उपदेश कहीं नहीं दिया परन्तु फिर भी उनकी सम्पूर्ण वाणी नाम-जाप द्वारा आन्तरिक ज्योति प्रकट करने और परम में विलीन हो जाने का चिरन्तन संकेत दे रही है। अतः गुरु नानक का भी यदि ज्योति-मार्ग के माध्यम आन्तरिक-सत्ता को पहचानने का इच्छुक परम शुद्ध माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सार यह कि मनुष्य का परम-लक्ष्य है प्रभु-मिलन। उसकी प्राप्ति का साधन कोई भी क्यों न हो सब बराबर है। वही श्रेष्ठतम होगा जो लक्ष्य तक पहुँचा देगा। अतः साधन व्यक्तिगत चीज है और लक्ष्य परम-गत। जिस महात्मा ने जिस साधन द्वारा पाया—वह ज्ञान-पथ हो या भक्ति-योग कर्म-सिद्धान्त हो या श्रुति-ज्योति-मार्ग—वही उसके लिए श्रेष्ठ हो गया। उसने उसी का गुण गाया। यही कारण है कि हमारे सम्मुख प्रत्येक साधन के गुण-दोष मौजूद हैं—परन्तु कोई कारण नहीं कि हम आम खाने की अपेक्षा पेड़ गिनने में अधिक रुचि दिखाएँ। अस्तु, प्रस्तुत एवं इससे पूर्व के अध्याय में यद्यपि हमने प्रभु-प्राप्ति के अनेक प्रकार के परम्परित साधनों का वर्णन किया है तथापि गुरु नानक में साधन और साध्य दोनों अपना अपना उच्च और ग्राह्य हैं। 'नाम-जाप' और 'हुकम रजाई चलने' से परम विलीनता का जो अत्याकर्षक सिद्धान्त गुरु नानक ने प्रस्तुत किया वह निश्चय ही अन्य महान-साधनों की तरह मनुष्य का

है। हम इन्द्रियों के भोगों-रसों में लिपटे हैं, विषय-विषमानियत का रूप बने बैठे हैं अपने आप को भूल चुके हैं प्रभु को भूल चुके हैं इसी लिए हम दुःखी हैं।[1] उ दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग है अन्तर्मुखी होना। चित्त की वृत्तियाँ हमने बाहर फैल रखी हैं भौतिक-उपकरणों के जुटाने और उनसे आनन्द-लाभ करने की क्रिया में ह व्यस्त है। अस्तु यदि उन ऐन्द्रिक-आकर्षणों से मन को हटाकर हम अपनी-भीतर शक्तियों की ओर प्रवृत्त करें, अपनी तन्मयता को पहचानें और बाह्य-काम-चक्र त्याग कर भीतरी आत्मा के केन्द्र पर ध्यान जमाएँ तो लक्ष्य सिद्धि की निकटत प्राप्त हो सकती है। हर समय लौकिक बातें सोचने अपने लाभ-हानियों स जूझने कुढ़ने की अपेक्षा मन-मन्दिर में सत्य (परम चेतना का अंश—आत्मा) की प्रति प्रतिष्ठित कर अन्तर्ध्यान होने से परम-सुख का उपकरण को अलौकिक-दृष्टिको मिलेगा वह अपेक्षित साधना (अन्तर्मुखी होना) का प्रथम पुरस्कार होगा। मन संय हो जाने से चित्त-वृत्ति निरोध से वासना की मैल कट जाएगी और हरि भजन लीनता का मार्ग सम्भव होगा। अन्तर्मुखी होने के अभ्यास में आत्म-तत्त्व व बोध हो सकेगा—जो परम-तत्त्व से मिलने के लिए एक मात्र माध्यम बना ज सकता है।

मुख्य-लक्ष्य मन की वृत्तियों को आत्मा के स्वरूप पर केन्द्रित करना है यह तो सर्वमान्य ही है कि शक्ति के फैलाव की अपेक्षा उसका केन्द्रीयकरण अधि महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए सूर्य को लीजिए। उसकी कोटि-कोटि किरण चतुर्दिक फैली हैं। उनमें काफ़ी ताप है परन्तु कोई उनसे जलता नहीं क्योंकि उसक ताप फैला हुआ है। अब यदि इसी किरण-ताप को आतशी-शीशे द्वारा किसी स्था पर केन्द्रित किया जाए, तो निश्चय ही कुछ समय बाद वह स्थान जल उठता है। ठी इसी प्रकार मानवात्मा का ताप मनोभावों तथा इन्द्रिय-आकर्षणों की ओर खिंच क उन्हीं के फैलाव में फँस रहा है। इसी फैलाव में आत्मा का सच्चा रूप लगभग नष्ट प्राय हो गया है। इसे केन्द्रित करने की आवश्यकता है सफलता मिलने पर अपने आप आत्मोपलब्धि हो सकेगी और वह परम ज्योति जो मनुष्य के अन्तर सदैव प्रदीप है स्वप्रकट हो जायगी। गुरु नानक भी उक्त ज्योति तक पहुँचना तथा आत्म-ज्ञा के पश्चात् परम में विलीन होने को अपना लक्ष्य मानते हैं। इसी लिए उनका दृष्टि कोण अन्तर्मुखी होने को सद्योपलब्धि का साधन स्वीकार करता है और इसके लिए उन्होंने नाम-स्मरण का सहज ढंग अपनाने का आदेश दिया है। गुरु नानक मतानुसा नाम-स्मरण द्वारा ही मनुष्य चित्त-वृत्तियों को आत्मरूप पर केन्द्रित कर सकता है।[2]

---

१ सत्-सन्देश देहली नवम्बर, १९५९ पृ० २७।

२ इसके आगे का स्वरूप पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है।

श्रुति-मार्ग तथा ज्योति-मार्ग

भारतीय परम्परा के अनुसार अन्तर्मुखी होने की दो मुख्य विधियाँ हैं—श्रुति मार्ग और ज्योति-मार्ग। धर्म-ग्रन्थों के श्रवण उनमें विश्वास एवं उनके आदेशानुसार चित्त-वृत्ति निरोध द्वारा अन्तर्मुखी होने की साधना को श्रुति-मार्ग कहते हैं। यह गुरु-विहीन बौद्धिक अभ्यास का मार्ग है। साधारण-मनुष्य के लिए इसके किसी भी स्तर तक पहुँच कर फिसल जाना सम्भव हो सकता है। तर्क-शक्ति अथवा किसी प्रकार का विपरीत अनुभव उसके धार्मिक विश्वास को हिला सकता है। गुरु के अभाव में प्रस्तुत मार्ग की एक बड़ी बाधा यह है कि थोड़ी सी अहमता भी मानव को उलझन के गोरख-धन्धे में डालकर पथ भ्रष्ट कर सकती है मार्ग से भटका सकती है।

गुरु के वचनानुसार नाम-जाप करते हुए अन्तर में चिर-ज्योतित दीप्ति पर ध्यान जमाना उसके चिरंतन-सत्य को समझने का सद्प्रयास करना और अन्ततः उसे साक्षात् करना आदि ज्योति-मार्ग द्वारा अन्तर्मुखी होना और आत्म-बोध की साधना कहलाता है। अधिकारी सन्त-महात्माओं ने इसी पथ को श्रेष्ठ माना है। प्रस्तुत-पथ का राही शीघ्र ही अन्तर के यथार्थ रूप को समझ उस परम-ज्योति में विलीन होने के उच्चतम लक्ष्य को पा जाता है। गुरु नानक ने इस प्रकार अन्तर्मुखी होने का सीधा उपदेश कहीं नहीं दिया परन्तु फिर भी उनकी सम्पूर्ण वाणी नाम-जाप द्वारा आन्तरिक ज्योति प्रकट करने और परम में विलीन हो जाने का निरन्तर संकेत दे रही है। अतः गुरु नानक को भी यदि ज्योति-मार्ग के माध्यम आन्तरिक-सत्ता को पहचानने के इच्छुक परम संत माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

सार यह कि मनुष्य का परम-लक्ष्य है ब्रह्मैक्य। उसकी प्राप्ति का साधन कोई भी क्यों न हो सब बराबर है। वही श्रेष्ठतम होगा जो लक्ष्य तक पहुँचा देगा। अतः साधन व्यक्तिगत चीज है और लक्ष्य परम-सत्य। जिस महात्मा ने जिस साधन द्वारा पाया—वह ज्ञान-पथ हो या भक्ति-मार्ग कर्म-सिद्धान्त हो या श्रुति-ज्योति-मार्ग—वही उसके लिए श्रेष्ठ हो गया। उसने उसी का गुण गाया। यही कारण है कि हमारे सम्मुख प्रत्येक साधन के गुण-दोष मौजूद हैं—परन्तु कोई कारण नहीं कि हम आम खाने की अपेक्षा पेड़ गिनने में अधिक रुचि दिखाएँ। अस्तु प्रस्तुत एवं इसके पूर्व के अध्यायों में यद्यपि हमने प्रभु-प्राप्ति के अनेक प्रकार के परम्परित साधनों का वर्णन किया है तथापि गुरु नानक के साधन और लक्ष्य दोनों अपनी जगह उच्च और ग्राह्य हैं। केवल 'नाम-जाप' और 'हुकम-रजाई' चलने से परम-विलीनता का जो अत्यावश्यक सिद्धान्त गुरु नानक ने प्रस्तुत किया वह निश्चय ही अन्य महान-साधनों की तरह अनुपम था।

८
उपसंहार

सुहा निवारि प्रेम कै बोलै बोलनपहार ।
लघु बुगी मंभूतु पीऐ, जई त एवा बाट ।
गुर मिलीऐ सामनु पाइपीए बहु मानक मोख दुमाव ।
(२ ८ मारू असटपदी)

गुरु नानक : एक समन्वयवादी विचारक

पिछले पाठों में हम गुरु नानक-वाणी के दार्शनिक-तत्त्वों पर विशद दृष्टिपात कर आए हैं। वहाँ स्थान-स्थान पर हमने अनुभव किया है कि गुरु नानक अपने समकालीन एवं पूर्ववर्ती विचारकों के दृष्टिकोणों से प्रभावित तो हैं परन्तु निजी अपूर्वता उन्होंने कभी नहीं छोड़ी। उनकी वाणी जनता के लिए चेतावनी भी थी और प्रेरणा भी थी। वे सच्चे लोक नायक थे। जब भारतीय-समाज नाना सम्प्रदायों धर्मों और जाति-उपजातियों में बट चुका था, शासक वर्ग शासक पर अनधिकार अत्याचार कर रहा था, अनेक प्रकार की विचार-धारायें और जीवन शैलियाँ पनप रही थीं, भिन्न सिद्धान्तों पर गम्भीर विचारों का बाजार गर्म था, हिन्दू जनता के सम्मुख धार्मिक और आर्थिक समस्याओं के अतिरिक्त राजनैतिक स्थिति का भाग ज्यादा आतंककारी था, धर्म के नाम पर परस्पर ईर्ष्या वैर और संघर्ष सजग हो रहे थे—तब किसी ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो समाज की उक्त विशृंखलता व नाना विचारों को समन्वयवादी योग-सूत्र में बाँध सकता। गुरु नानक उस आवश्यकता की पूर्ति थे।

उनके सम्मुख वेदों, उपनिषदों और पुराणों की प्रचलित गाथाएँ थीं, भगवद्गीता का समर्पित (निष्काम) कर्म था, शंकराचार्य का ब्रह्मवाद था, रामानुज द्वारा प्रस्तुत सृष्टि का अस्तित्व सिद्धान्त था, वल्लभ की माधुर्य भक्ति और कबीर की साम्यभावना थी, योगियों-तान्त्रिकों के आडम्बर भी थे और थे महात्माओं के सच्चे आध्यात्मिक अनुभव। वे स्वयं उच्च कोटि के अनुभवी महापुरुष थे। घूम-फिर कर दुनियाँ की भाषा-पद्धतियाँ देखने के अतिरिक्त उन्होंने भीतरी-जगत की विभूतियाँ पा ली थी और उस ब्रह्म ज्योति के स्फुलिंग बन चुके थे जिसकी खोज का उपदेश उन्होंने प्रत्येक प्राणी को दिया है। अब उनके सम्मुख समस्या थी तत्कालीन जनता के नाम संदेश की रूप रेखा की। प्रश्न था कि प्रचलित रूप ज्यों का त्यों अपना लिया जाय, उसके परिवर्तन में नया कदम उठाया जाय या पुराने को ही नए लिबास में पेश किया जाय? गुरु नानक ने घूम घूम कर लोक-नाड़ी को पहचाना था। वे समझते थे कि पुर्जों में बसा आता प्रचलित ब्रह्मवादी दृष्टिकोण सामान्य जनता की विचार शक्ति से बाहर की वस्तु है। यों भी प्रस्तुत दृष्टिकोण को सभी सर्व-साधारण के लिए ढाला

ही न गया था—केवल शास्त्रीय-रूप का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया जाता था जिसे जन-साधारण समझ न पाते थे और समाज के तत्कालीन पतित स्तर के पण्डित-विद्वान अपने कुत्सित स्वार्थों से घिरे, उससे निरन्तर लाभ उठाते रहते थे। जनता उस पाण्डित्य से पीड़ित थी और ब्रह्मवाद उसके लिए गोरख-धन्धा बन गया था। बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रताड़ित जनता धीरे-धीरे ज्ञान के उक्त स्वरूप से घृणा करने लगी थी और शुष्क ब्रह्मवाद के नाम से चिढ़ती थी। यही कारण था कि गुरु नानक ने अपने सन्देश को ऐसे अग्राह्य ढाँचे में ढालना अनुचित समझा। दूसरी ओर किसी परिपाटी को पूर्णत: हटा कर एकदम नवीन प्रवाह प्रस्तुत करना भी खतरे से खाली न था। युगों से जिस विचारधारा की छाप जनता के अन्तर्मन पर लग चुकी थी उसे अकस्मात् मिटा सकना सुगम न था। जनता को ब्रह्मवाद की शुष्कता से घृणा अवश्य थी परन्तु लोग मानने लगे थे कि इसके अतिरिक्त कोई अन्य पद्धति है ही नहीं। उक्त शुष्कता को दूर करने का एक मधुर प्रयत्न वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग द्वारा पहले भी हो चुका था। इससे जनता को कुछ प्रतिशत संतुष्टि भी मिली थी। अत: गुरु नानक ने इस प्रवाह को रोक कर नया मोड़ देने की अपेक्षा मध्यम-मार्ग का अनुसरण करना ही अधिक उचित समझा। पूर्व दृष्टिकोणों के साँचे में ही उन्होंने अपनी सुधारक-प्रणाली और ब्रह्म तथा जिज्ञासु सम्बन्धी नूतन विचारों को ढाला। ऐसा करने का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि नवीन-विचारों की कटुता भी प्राचीन ढाँचे की मिठास में लिपटी रहने से जनता के गले सुगमता से उतर सकी। यह गुरु नानक का एक महान प्रयोग था। श्रमगामी जनता ने सम्बल को अपनी ओर बढ़ते देखा तो सजग हो स्वयं दामन थाम लिया।

अत: गुरु नानक ने जो मार्ग अपनाया उस पर अनेक पूर्वगामी-दृष्टिकोणों का प्रभाव था तथापि उसका अपनापन परिस्थितियों और निजी विचारधारा से पराभूत था। यह गंतव्य भी ब्रह्मवादी ही था परन्तु मार्ग सहज का था। ज्ञान भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय किया गया था तथा ब्रह्म के अद्वैतवादी रूप के पीछे लक्ष्य विभ्रष्ट होने की अपेक्षा गुरु के माध्यम परम-सत्य की जानकारी प्राप्त कर अभयपद होने का सन्देश गुरु नानक ने दिया था। माया गुरु नानक के लिए शंकर की भाँति केवल भ्रम नहीं वह यथार्थ है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के अनुरूप विश्व-रचना अज्ञान का बोध न मानकर गुरु नानक उसे प्रभु की वस्तु-शक्ति की चमत्कारिक और आकर्षक निर्मिति स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि गुरु-सिक्ख ब्रह्मवादी की तरह मायावी रचनाओं का त्याग कर इधर-उधर मुँह छिपाता नहीं फिरता बल्कि प्रभु के हुक्म से अस्तित्व में आने वाली इस विराट प्रकृति का सौन्दर्य पान करता हुआ उसके ईश्वर का गुणगान करता है जिसने ऐसा भव्य-निर्माण प्रस्तुत किया। पुन: गुरु नानक प्रकृति का आनन्द लेते हुए भी प्रकृति में लिप्त होने का आदेश नहीं देते वह तो यथार्थ है आध्यात्मिक सत्य की खोज करने वाला इसमें फँसने को क्योंकर कहेगा?

इसकी अनुपमता से तो ईश्वरीय-अद्वितीयता के कण-मात्र का अनुमान होता है। अस्तु, गुरु नानक का महान् सामयिक-सन्देश न अद्वैतवादी ठहरता है न ही प्रकृतिवादी। यहाँ अद्वैत और प्रकृतिवाद का समन्वय व्यावहारिक रूप में किया गया है। कारण है जनता की तत्कालीन माँग। सामान्य-जनता विश्व की प्रत्येक वस्तु को देखती उससे हानि-लाभ उठाती और अपने अनेक बोध पूर्ण अनुभवों से पदार्थ की सत्य-सृष्टि का तत्त्व समझ रही थी। ऐसे में इस सम्पूर्ण प्रसार को रहस्यात्मक रूप से खरगोश के सींग और निपूती का पूत कहा जाता तो जन-साधारण चक्कर में आ जाते। उनके दैनिक-अनुभवों और उन्हें बताए जाने वाले सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर दीख पड़ता—वे क्या मानें और क्या न मानें? दूसरी ओर पदार्थवादी थे जो दुनिया के अस्तित्व के पीछे किसी परम-तत्त्व का हाथ मानने की अपेक्षा केवल वैज्ञानिक-प्रविधि से उसकी व्याख्या करना चाहते थे। परन्तु समय-समय पर अनहोनी होते देख लोक-समाज घबरा उठता और उसे किसी परालौकिक शक्ति की स्वीकृति अनिवार्य-सी जान पड़ती। ऐसे में गुरु नानक ने किंकर्त्तव्यविमूढ़ जनता को आश्वस्त किया। परालौकिक और भौतिक दोनों की सत्यता स्वीकार की परालौकिक को गंतव्य और भौतिक को पथ बनाया। उनके लिए भौतिक परालौकिक की रचना है, इसलिए कोई रहस्य या भ्रम न होकर निर्माता की तरह ही सत्य है। हाँ प्राणी का लक्ष्य रचना नहीं रचयिता है और उस तक पहुँचने के लिए रचना का स्वरूप-सौन्दर्य रचनाकार के प्रति आकर्षण को उद्दीप्त करता है। इसी दृष्टिकोण के अन्तर गुरु-शिष्य विश्व की किसी वस्तु से घृणा नहीं करता वह लोकप्रेमी हो जाता है और प्रकृति के कण-कण में पुरुष को विद्यमान देखता है। प्रस्तुत समन्वयवादी विचारधारा गुरु नानक की महत्त्वपूर्ण देन है जो तत्कालीन जनता के लिए 'डूबते का सहारा' बन गई।

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू-धर्म का प्रतिष्ठित और मान्यता-प्राप्त धर्म-ग्रंथ है। गुरु नानक के उदय काल में जनता में मुट्ठी भर पण्डितों के अतिरिक्त, संस्कृत का प्रचार न के समान था। लोग गीता के अनुपम-सन्देश को भली प्रकार समझ न पाते थे। पण्डित-जन श्लोकों की व्याख्या में निजी-स्वार्थ को अधिक महत्त्व देते थे। परिणाम यह था कि गीता में गुम्फित निष्काम और सकाम कर्म तथा जीवन के निवृत्ति और प्रवृत्तिमय ढंगों की समस्याएँ जन-साधारण के लिये यों ही गहन और क्लिष्ट बनी थीं। उन्हें उलझाए रखने में ही पण्डितों का अर्थ-साधन था। सकाम कर्म का अन्त क्या कभी सम्भव है? निष्काम का सम्बन्ध निवृत्ति से है या प्रवृत्ति से? यदि प्रवृत्ति है तो निष्काम क्योंकर हुआ? और यदि निवृत्ति है तो कर्म का अस्तित्व कैसे सम्भव है? आदि प्रश्न जन-साधारण के स्थायी प्रश्न-चिह्न बने हुए थे। कोई सहज ढंग से आने में इस गूढ़-सिद्धान्त को समझाने के लिए खाली न था। तत्कालीन जनता की प्रस्तुत आवश्यकता पूर्ति गुरु नानक ने की। ठीक है कि कर्म सदैव सकाम ही

होगा परन्तु उसका निष्काम-स्वरूप है स्वार्थ-त्याग और समर्पण में। प्रत्येक कर्म की अन्तर्निहित-कामना केवल इतनी ही होनी चाहिए कि वह प्रभु के समर्पण-हेतु है। ऐसा करने से जीवन में प्रवृत्त प्राणी भी शास्त्रीय दृष्टिकोण से निवृत्त कहलाएगा। उसकी निवृत्ति प्रवृत्ति के आश्रय पनपेगी और उसका निष्काम कर्म सकाम-भावना से छिपेगा। श्रीमद्भगवद्गीता के इस मूलवर्ती-सार को गुरु नानक ने सरलतम-ढंग से जनता के सम्मुख रखा। 'गुरु के आश्रय बहुँ का अन्त करो नाम में चित्त लगाओ और हुकम में अडिग विश्वास बनाकर जीवन-यापन करते रहो।' यही था दुःखी-जनता के नाम गुरु नानक का उपदेश। इसमें जीवन-यापन करना प्रवृत्ति है तो हुक्मानुसार करना निवृत्ति गुरु के आश्रय हउमै का अन्त निष्काम-कर्म का बीजारोपण है तो नाम में चित्त रमाने से प्रभु-विलीनता की इच्छा सकाम-भावना। पाखण्डी-पण्डितों के बनावटी घटाटोप में ठोकरें खाता जन-मानस शीघ्र ही इस ज्ञान-ज्योति के अपूर्व प्रकाश से परिचित हो गया और गुरु नानक विचार-धारा के महत्त्व को पहचानने लगा।

युगों पूर्व से चले आते भक्ति और ज्ञान में प्रतिष्ठा के झगड़े को भी गुरु नानक दृष्टिकोण में समाधान मिला। उनका विश्वास था कि ज्ञान और भक्ति दोनों एक दूसरे के बगैर अपूर्ण हैं। आध्यात्म-पथ की पूर्णता दोनों के साथ-साथ चलने में है। मनोवैज्ञानिक-कोण से देखा जाए तो ज्ञान मस्तिष्क की तथा भक्ति (प्रेम और श्रद्धा) मन की वस्तुएँ हैं। और जिस प्रकार मन-मस्तिष्क के समन्वय के बिना प्राणी अपने में शारीरिक सन्तुलन नहीं बनाए रख सकता वैसे ही ज्ञान और भक्ति के एक दूसरे से जुदा होने पर आध्यात्मिक-सन्तुलन की कोई सम्भावना नहीं रहती। इष्ट का स्वरूप परिचय ज्ञान से तथा उसके प्रति श्रद्धा-समर्पण भक्ति से होता है। यही कारण है कि गुरु-नानक सिद्धान्त ज्ञान के प्रतीक रूप में गुरु की अपेक्षा करता है और नाम-जाप में भक्ति की पराकाष्ठा देखता है। भक्ति के क्षेत्र में नाम की महत्ता सभी महात्माओं ने स्वीकार की है। निर्गुण का तो कहना ही क्या भक्ति-पथ के नेता स्वयं तुलसीदास ने भी 'बड़ा राम ते नाम बड़' कहकर नाम की महिमा का गान किया है। अतः गुरु कृपा द्वारा परम-सत्य की पहचान (ज्ञान) नाम-स्मरण द्वारा नामी में विलीनता की साधना (भक्ति) दोनों मिलकर ही परम-तत्त्वोपलब्धि को सम्भव बनाते हैं। साधन विहीन ज्ञानकारी विलीनता का साधन नहीं हो सकती और ना ही बिना वास्तविकता को पहचान उसकी साधना सफल हो पाएगी। इसीलिए गुरु नानक-मत में दोनों को समस्तर प्रदान किया गया।

पुनः गुरु नानक का उदय-काल मुख्यतः दो बड़े धर्मों के संघर्ष का युग था। मुसलमानों के सशक्त राज्यों की भी एक धूम थी। भोगने वाली युगन-व्यथित भारत में प्रवेश कर चुकी थी। भारत के पुरातन हिन्दू-धर्म पर पर्याप्त अत्याचार किया गया था और हो रहा था। शक्तिमय और शान्तिमय ढंगों से हिन्दुओं को मुसलमान बनाया

जाता था। हिन्दू-धर्म में अनेक पाखण्ड उदित हो चुके थे जिसका उपहास दूसरे धर्म वाले करते थे और तर्क के माध्यम से अपनी प्रतिष्ठा-स्थापना करना चाहते थे। हिन्दुओं का बहु ईश्वरवाद मुसलमानों के एकेश्वरवाद के सम्मुख हतप्रभ हो रहा था। जातीय भेद-भाव से दुखी हिन्दुओं को मुसलमानों की सम-भावना खुला निमन्त्रण दे रही थी। भिन्न देवी-देवताओं के पूजकों का परस्पर वैर-विरोध मुस्लिम-समाज के संगठित रूप की प्रतिष्ठा स्थापित करने में अतीव सहायक था। ऐसे में एक ऐसे नर पुंगव की अपेक्षा थी जो दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करते हुए नवीन दृष्टिकोण से प्राचीन का सुधार करता। जो हिन्दू-धर्म की धूल-मिट्टी को झाड़-पोंछ कर उसके महत्त्व को पुनर्जीवन दे सकता और गुरु नानक ऐसे ही सुधारक-महापुरुष के रूप में अवतरित हुए। उन्होंने समाज के लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों का भरपूर सुधार कर परिस्थिति अनुकूल एकेश्वरवाद की स्थापना की और जाति-पाँति के भेद भाव का तिरस्कार भी किया। ऐसा करने का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मुस्लिम-धर्म की ओर आकृष्ट होती हुई हिन्दू-जनता गुरु नानक के सुधारवादी ढाँचे में अपने ढलते हुए आकर्षक रूप को देख कर रीझ उठी। धर्म की हिलती हुई नींव स्थिर हो गई।

उपर्युक्त अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि गुरु नानक ने अपनी पूर्व-प्रचलित विचार धाराओं का केवल समन्वय ही नहीं किया बल्कि उसमें निजी नवीनता और स्वतन्त्रता को चिर-सजीव बनाए रखा। यदि यह कहा जाए कि उन्होंने गुरुमत के 'नाम-स्मरण' तथा 'हुकम में विश्वास' के जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए, वे समय की माँगों के अनुसार अपने में पूर्णतः नूतन थे उनमें गुरु नानक का निजत्व झलकता था और आज भी उनसे सिद्ध होता है कि गुरु नानक कोई साधारण महापुरुष न थे वे तो साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप थे जो त्रस्त विश्व का सम्बल बनने स्वयं सतलोक से अवतरित हुए थे। जन-साधारण को सुमार्ग बताने के लिए उन्हें अपने को सामयिक-स्तर तक लाना पड़ा अतः उनकी वाणी में तत्कालीन दृष्टिकोणों का समन्वयात्मक-रूप प्रकट हो जाना स्वाभाविक ही था। आवश्यकतानुसार उन्होंने ने कुपथ पर जाने वालों का खण्डन भी किया उन्हें सही मार्ग भी दिखाया और ज्ञान-दीपक से वास्तविकता के दर्शन भी करा दिए। कुपथ-खण्डन करते हुए वे अपवित्रता की दुहाई देने वालों से स्पष्ट कहते हैं—

जे करि सूतकु (अपवित्रता) मंनीऐ, सभ तै सूतकु होइ।
गोहे अति लकड़ी अंदरि कीड़ा होइ, जेते दाणे अन के जीआ बाझु न कोई।
पहला पाणी जीउ है जितु हरिआ सभु कोई, सूतकु किउ करि रखिऐ,
सूतकु पवै रसोई।

नानक सूतकु एव न उतरै, गिआनु धोई ।[1]

इसी प्रकार गलत मार्ग पर चलने वाले वेषधारी साधों का पथ-प्रदर्शन करते हुए फरमाते हैं—

मुंदा संतोखु, सरम पतु, झोली धिआन की करही बिभूति ।
खिंथा कालु कुआरी काइआ, जुगति डंडा परतीति ।
आई पंथी सगल जमाती मनि जीतै जगु जीतु ।
आदेसु तिसै आदेसु । आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु
एको वेसु ।[2]

और स्वतन्त्र-विचारधारा द्वारा यथार्थता की ओर भी संकेत करते हैं—

तीरथ नावण जाउ तीरथ नामु है । तीरथ सबद बीचारु अन्तरि गिआनु है ।
गुर गिआनु साचा थानु-तीरथु दस पुरब सदा दसाहरा ।
हउ नामु हरि का सदा जाचउ देहु प्रभ धरणी धरा ।
संसारु रोगी नामु दारू, मैलु लागी सच बिना ।
गुरवाकु निरमलु सदा चानणु नित साचु तीरथ मजना ।१।
साचि न लागै मैलु किआ मलु धोईऐ, गुणहि हारु परोइ कि कउ रोईऐ ।[3]

इस प्रकार गुरु नानक-वाणी से स्पष्ट प्रकट है कि वे महानात्मा विश्व की डूबती नौका को भव-सागर से पार लगाने वाली महत्-विभूति थे। अपने दुखी जीवों की पुकार सुन कर स्वयं सतपुरुष को गुरु नानक-रूप में लोक में आना पड़ा था। इसीलिये उन्होंने लोक-प्रचलित भ्रमकारी पद्धतियों के विरुद्ध 'मुक्ति-पथ' का ऐसा सहज रूप प्रस्तुत किया था जिसकी प्राप्ति में किसी बौद्धिक-शर्त की पूर्ति अपेक्षित न थी केवल श्रद्धा-मात्र से जीव के भवसागर तिरने का भव्य-आयोजन था। यही गुरु नानक की स्वतन्त्र विचारधारा थी। परम भक्त गुरु-सिख भाई गुरदास ने अपनी प्रथम वार में गुरु नानक-आगमन का निम्न चित्र प्रस्तुत किया है जिसमें स्पष्ट है कि गुरु नानक संसार चक्र में पिसते अपने जीवों के उद्धारार्थ अवतरित होने वाले स्वयं परम-पुरुष थे और उनकी वाणी दुखियों की पथ-प्रदर्शिका।

"भई गिलानि जगत विच चार वरन आस्रम उपाए ।
दस नाम संन्यासियां, जोगी बारह पंथ चलाए ।

१ सलोक आसा म० १ पृ० ४७२ ।
२ जपुजी पउड़ी २८ पृ० ६ ।
३ धनासरी छंत म० १ पृ० ६८७ ।

जंगम जती सरेवड़े, नंगे[1] दिगम्बर वाद कराए।
ब्रह्मण बहु परकार कर शासतर वेद पुराण लड़ाए।
षट दरशन बहु वैर कर, नाल छतीस पाखण्ड रलाए।
तंत मंत रासाइणा, करामात कालख लपटाए।
एकस ते बहु रूप कर रूप कुरूपी घणे दिखाए।
कलिजुग अन्दर भरम भुलाए।

× × ×

चार वरन चार मजहबां[2] जग विच हिंदू मुसलमाणे।
खुदी, बखीली[3] तकब्बरी[4] खिंचोतान[5] करदे धिङाण[6]।
गंग बनारस हिंदूआं, मक्का काबा मुसलमाणे।
सुन्नत मुसलमान दी, तिलक जंञू हिन्दू लोभाणे।
राम रहीम कहाइदे इकस नाम दुइ राह भुलाणे।
बेद कतेब भुलाइकै, मोहे लालच दुनी सैताणे।
सच्च किनारे रहि गया, खहि मरदे बाह्मण मउलाणे।
सिरों न मिटे आवण जाणे।

× × ×

सुणी पुकार दातार प्रभु गुरु नानक जग माहि पठाया।
चरन धोइ रहिरास[7] कर चरणामृत सिक्खां पीलाया।
पार ब्रह्म पूरन ब्रह्म कलिजुग अन्दर इक दिखाया।

प्रस्तुत विचार-धारा धर्म अथवा दर्शन की अपेक्षा जीवन-चर्या का सुढंग

गुरु नानक मत की सरलता तथा असंकीर्णता उसे किसी बँधी परिभाषा में सीमित होने से बचाती है। प्रस्तुत विचार धारा में कहीं यह प्रमाणित नहीं होता कि गुरु नानक किसी नये धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना के इच्छुक थे। सच तो यह है कि गुरु नानक तथा आगे आने वाली आठ अन्य पातशाहियों ने किसी पृथक् धर्म की नींव नहीं रखी। केवल दसवीं पातशाही श्री गुरु गोविन्दसिंह ने परिस्थितियों के

---

१ वस्त्रहीन वैष्णव।
२ हनफी शाफई मालकी हंबली।
३ विद्या या धन की कृपणता।
४ अपने आपको सर्वोच्च समझना।
५ अपनी बात के प्रति हठ।
६ सीनाज़ोरी।
७ सीधा मार्ग।

अनुसार युद्ध भूमि में अपनों को अधिक प्रेरणा देने और परस्पर सहयोग-सहवास की आवश्यकता अनुभव करते हुए खालसा-पंथ की नींव रखी इसे ही अब सिख-पंथ कहा जाता है। अन्यथा गुरु तेग बहादुर तक इस प्रकार की पृथकता की अपेक्षा ही न थी सम्प्रदाय स्थापना का प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः गुरु नानक तो समन्वयवादी थे। वे 'हिन्दू या मुसलमान न थे वे महात्मा थे जो सब के साँझे होते हैं। उन्हें किसी से घृणा न थी वे सब को ब्रह्म की अंश' कहते और सबसे बराबर प्रेम रखते थे। वे तो घृणा की वृत्ति का अन्त करने आए थे फिर एक विशेष की ओर क्योंकर झुकते? वे सुधारक थे उन्होंने जनता को सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति का पथ दिखाया। वे लोक नायक थे उन्होंने जनता में प्रचलित भावों को पहचाना तथा उसकी पार्श्व भूमि में कार्यरत मनोवैज्ञानिकता को समझा था। इसीलिए उन्हीं सब विचारों को नवीनता के साँचे में ढाल कर स्वतन्त्र रूप से पुनः जनता के सम्मुख पेश किया। उनमें से अतीव गम्भीरता के गर्व-गुबार को छाँट कर सरलता और सहज की चमक पैदा की। गुरु नानक ने लोगों को अपने धर्म समाज या सम्प्रदाय छोड़कर किसी नये धर्म, समाज या सम्प्रदाय प्रवेश की प्रेरणा कहीं नहीं दी। उनका उपदेश समान था। हिन्दू या मुसलमान कोई भी गुरुमत के पथ पर चलता हुआ सत्य को पा सकता था। यही कारण था कि गुरु नानक के जीवन-काल में भी गुरुमत का विरोध किसी सम्प्रदाय ने नहीं किया—अकेले-दुकेले फकीरों ने यदि कहीं विरोध किया भी तो वह विचार-भिन्नता के कारण नहीं बल्कि अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने या ईर्ष्या के कारण किया। इसी से सिद्ध है कि गुरु नानक किसी नए धर्म के संस्थापक न थे न ही उन्हें ऐसी सम्प्रदाय-स्थापना में विश्वास ही था। वे तो लोक से परे के जीव थे उन्हें सांसारिक धर्मों और पंथों से क्या लेना?

गुरु नानक वाणी में प्रचलित-आडम्बरों का विरोध अवश्य कहीं-कहीं मिलता है, जोकि गुरु नानक सरीखे महान सुधारक और लोकनायक की वाणी का अलंकार है। दूसरी ओर उन्होंने किसी धर्म-सम्प्रदाय के विरुद्ध कुछ नहीं कहा यद्यपि नवीन धर्म-स्थापना के लिए यह आवश्यक अंग माना जा सकता है। बल्कि उन्होंने अन्य धर्म-सम्प्रदायों की धर्मानुकूल गाथाओं का आश्रय ले स्थान-स्थान पर अपने उपदेश को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने का सुअवसर भी नहीं खोया। इससे स्पष्ट है कि उनमें धर्म-संस्थापक बनने की चाह न थी। यदि ऐसा होता तो वे अवश्य हिन्दू मुसलमान धर्मों या किसी अन्य मान्यता-प्राप्त सम्प्रदाय का विरोध करते तथा उनकी धर्म-गाथाओं का उपहास कर उन्हें गलत प्रमाणित करने का उपक्रम करते—जैसा कि पीछे भारत में ईसाई धर्म प्रचारकों ने किया।

पुनः नव धर्म या सम्प्रदाय के प्रवर्तन के लिए जिस प्रकार के नवीन विश्वास दृष्टिकोणों और विचार-पद्धतियों की आवश्यकता रहती है, वे गुरु नानक वाणी में उपलब्ध नहीं। पीछे जिस महापुरुष को हम समन्वयवादी प्रमाणित कर चुके हैं वह

निश्चय ही किसी नये ढंग के विश्वास को जन्म देकर अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति पर कुठाराघात नहीं चाहता था। गुरु कृपा से मन को संयत कर अहं का नाश करो हुकम (ईश्वरेच्छा) के सम्मुख नतमस्तक होओ नाम-स्मरण द्वारा प्रभु-लीनता प्राप्त करो बस इतना ही तो है गुरुमत। यही गुरु नानक का विश्वास है। ये सब प्राचीन शास्त्रों की अनेकावृत्त बातें हैं गुरु नानक की महानता तो इन्हें इस प्रकार सरल सहज रूप में प्रस्तुत करने और इसी सहज भाव में मानव जीवन के परम-लक्ष्य की खोज निकालने में है। इन बातों को शास्त्र-कारों ने सहज-गम्भीर रहस्य बना-बनाकर प्रकट किया था अपना महत्त्व बनाए रखने के लिए वास्तविकता भ्रम और आडम्बर रचित दिखाए थे। ब्रह्म ज्ञान को गुप्त बनाए रखने के लिए आध्यात्मिक-पथ पर अग्रसर होने में अनेक अड़चनों की योजना की गई थी। गुरु सच्चे जन-नायक थे। उन्होंने जनता को इन आडम्बरों और पाखण्डों से पीड़ित देख कुण्ठापूर्ण स्वार्थ से निर्मित किए गए रहस्यों और अन्धकार-भेदों से सहज में ही पर्दा हटा दिया। कंटक-वीथिका आध्यात्मिक-पथ को गुरु नानक की जन-सहानुभूति ने अबाधक प्रशस्त-मार्ग के रूप में बदल दिया। कुछेक पंक्तियों में ही महत्तम बात कह दी। संन्यास गृहस्थ उदासीनता हठ-योग शारीरिक-पीड़ा द्वारा मनोमारण व्रत यज्ञ होम दान आदि आडम्बरों की आवश्यकता समूची-असंगत ठहरा दी गई। इस प्रकार गुरु नानक ने प्राचीन विचारों की मूलवर्तिनी आत्मा को समन्वित कर गुरुमत की नींव डाली। गुरुमत की प्रकृति प्रयत्न साधन लक्ष्य और उद्देश्य कोई भी किसी नए धर्म की स्थापना का द्योतक नहीं। प्रस्तुत प्रकार तो सब-धर्मों के पाखण्ड-पीड़ित लोक मानस के लिए थी और उससे अपेक्षित लाभ प्राप्ति स्वाभाविक ही थी।[1]

गुरु नानक किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के प्रणेता भी नहीं कहे जा

---

१ आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जो तथाकथित नानकशाही पंथ का नाम ले-लेकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि गुरु नानक ने उक्त सम्प्रदाय की नींव रखी। परन्तु वे पथ भ्रष्ट हैं। यह नानकशाही-पंथ उदासी सम्प्रदाय का एक पंथ है जिसके प्रणेता गुरु नानक नहीं गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द थे। पंथ की स्थापना ही गुरु नानक की इच्छा के विरुद्ध थी—क्योंकि गुरु नानक का उपदेश गृहस्थाश्रम में रहते हुए हरिनाम-स्मरण की प्रेरणा देता है जबकि उदासी सम्प्रदाय के साधु और भक्त जन घर-बार त्यागी होते हैं। गुरु नानक एकेश्वरवाद के समर्थक थे और प्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य की भक्ति को निरर्थक व्यापार मानते थे जबकि उदासी-सम्प्रदाय के मन्दिरों या गुरुद्वारों में हरि भजन के अतिरिक्त अन्य अनेक देवी-देवताओं की पूजा का भी विधान है। पुत्र श्रीचन्द ने अपने पिता गुरु नानक से रुष्ट होकर उक्त सम्प्रदाय चलाया था। अतः इसके नाम में नानकशाही शब्द भले ही जुड़ा हो गुरु नानक का इस से दूर का भी वास्ता न था।

सकते। दर्शन मुख्यतः पराभौतिक विषयों के सम्पूर्ण तर्कशील और क्रमबद्ध अध्ययन को कहते हैं। गुरु नानक के सम्पूर्ण काव्य में कहीं इन तीनों गुणों का समान प्रतिपादन उपलब्ध नहीं। विश्वास और श्रद्धा पर आधारित प्रस्तुत उपासना पद्धति में तर्क की सम्भावना रखी ही नहीं जा सकती। प्रभु की उपस्थिति के सम्बन्ध में तर्क पेश करना दार्शनिकों का काम है, गुरु नानक सरीखे उपदेशक-महापुरुष की वाणी का तो आरम्भ ही '१ ॐ सतिनाम करता पुरुख   आदि' से होता है अर्थात् उनकी विचारधारा का विकास प्रभु की सत्ता में नतमस्तक विश्वास स्थापित कर लेने के उपरान्त होता है। क्रमबद्धता का गुण भी किसी सुधारक और उपदेशक की वाणी में सम्भव नहीं होता। घूमते-फिरते जहाँ भी उन्हें कोई पाखण्ड दिखाई दिया उन्होंने वहीं उसे टोका, जहाँ किसी को सन्देह हुआ वहीं भ्रम-विनाशिनी वाणी गूंज उठी तथा जैसी परिस्थिति प्रस्तुत हुई वैसा उपदेश प्रदान किया गया। ऐसे में विचार सरणी का क्रमपूर्ण रहना ही एक असम्भव होता। अतः उनकी आध्यात्मिक विचारधारा को किसी विशिष्ट दार्शनिक-पद्धति के रूप में स्वीकार करने में हमें संकोच है। तथापि हम स्वीकार करते हैं कि गुरु नानक पर परम्परित संस्कारों का निरन्तर प्रभाव रहने के कारण सदाचारी जीवन बिताने, एक प्रभु में अमित विश्वास रखने, नाम का जाप करते हुए नामी में विलीन होने आदि के महत् उपदेशों के अतिरिक्त, वे अपने काव्य में उपनिषदों में प्रयुक्त दार्शनिक-शब्दावली का खुला प्रयोग करते हैं। ब्रह्म, जीव और माया सरीखे अतीव महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का उल्लेख प्रायः हुआ ही है। सरल ढंग से इन तत्त्वों की व्याख्या और परस्पर-सम्बन्ध भी गुरु नानक काव्य में उपलब्ध है।[1] परन्तु इन महान-पराभौतिक-आधारों का जैसा तर्कशील विवेचन एक शंकराचार्य सा प्रतिभाशाली विद्वान अपनी विवेक-शक्ति से कर सका है वैसा गुरु नानक सरीखे परम भक्त और 'हुक्म के बन्दे' से अपेक्षित ही न था। गुरु नानक का पथ समझने का नहीं करने का था अतः वे जो भी कहते थे अनुभव से कहते थे विवेक या तर्क से नहीं। अस्तु, गुरु नानक की आध्यात्मिक-विचारधारा को दर्शन कहना उनके प्रति अनभिज्ञता का परिचय देने के कुछ भी अधिक नहीं।

वास्तव में गुरु नानक-विचारधारा कोई सैद्धान्तिक-विषय नहीं क्योंकि भारतीय परम्परा में दर्शन ९९ प्रति सैद्धान्तिक ही रहा है। उक्त विचार व्यावहारिक है गुरु शिष्य से केवल इतनी ही अपेक्षा रखी जाती है कि वह प्रस्तुत साधना को जीवनचर्या बनाले। गुरु नानक-काव्य की प्रत्येक ऊर्मि जीवन का संदेश सुनाती है, जीवन की उन्नति का साधन बता रही है या जीवनादर्शों की ओर संकेत करती हुई आध्यात्मिक-उत्थान को सरल बनाती है। गुरुमत में प्रथम आक्रमण ही मन पर किया है[2] जिसके संयमित

१ ऐसे ही दार्शनिक-तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है।

२ गुरमत निर्णय—भाई जोधसिंह पृ० ११०।

हो जाने से मनुष्य का बड़ा शत्रु अहंभाव नष्ट होता है। मन के संयम के लिये 'सदाचारी' जीवन और गुरु की खोज की सिफारिश की गई है यहीं से गुरु नानक-पथ का व्यावहारिक-रूप समझने लगता है और यहीं से शुभ जीवनयापन का श्रीगणेश होता है। अब अहं के नष्ट हो जाने पर विश्वासपूर्वक नाम में चित्त लगाना अपेक्षित है। इसमें भी प्राचीन उपासना और कर्म-काण्डों के बन्धन गुरु साहिब को मान्य नहीं। यह भी कहीं स्वीकार नहीं किया गया कि नाम जपने के लिए शुद्ध-वातावरण शुद्ध स्थिति अथवा स्नानादि की कोई जरूरत है। नाम तो स्वयं शुद्धीकरण मन्त्र है वह करोड़ों तीर्थों का तीर्थ है जिसमें मज्जन और पान करने वाला इस भवसागर से पार हो जाता है। नाम स्मरण के लिए पुरातन-ग्रंथ की किसी कड़-क्रिया की भी आवश्यकता नहीं। केवल गुरु-मिलन की अपेक्षा है। किसी समय या स्थान पर सोते-जागते उठते-बैठते सोचते या करते हुए चित्त को नाम में रमाए रखा जा सकता है। कितना सहज ढंग है शान्त और सरल जीवन बिताते के साथ साथ प्राणी आपही मुक्ति का भाजन बन जाता है।

नानक सतिगुरु भेटिऐ पूरी होवै जुगति।
हसंदिआ खेलंदिआ, पैनंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुकति।
२ १६ वार गूजरी म० ५।

नाम में चित्त लगाने के साथ किसी प्रकार के त्याग तपस्या योग या कर्म (कर्म काण्ड) की भी आवश्यकता नहीं। जीवन में हरि भजन करो सांसारिक कर्तव्यों का भी पालन करो और प्रभु की इच्छा अनुसार प्राप्त सुख-दुख को सहर्ष स्वीकार करो। यही गुरुसिख का सुखी जीवन है। गुरु नानक मतानुसार प्राणी को मुक्ति के पीछे भागने की कोई आवश्यकता नहीं। नाम में चित्त रमाने का स्वाभाविक परिणाम है जीवन-मुक्ति अर्थात जीव का शारीरिक बन्धनों के ध्यान-स्तर से ऊपर उठ जाना। प्रस्तुत अवस्था आध्यात्मिक पराकाष्ठा है तो भी इसकी खोज हेतु कोई गहन तर्क गुरु नानक की ओर से नहीं लगाई गई। हुकम में बँधी इस विराट संसृति का आनन्द उठाना और प्रभु स्मरण करना बस गुरु नानक किसी प्राणी से इतनी ही अपेक्षा रखते हैं। उसी में अभिप्रेत सत्य प्रभु में विलीनता का सर्वोदय होता है तब जीव साधारण गृहस्थाश्रम में रहता हुआ वानप्रस्थ और संन्यास के लक्ष्यों से भी श्रेष्ठ उद्देश्यों को प्राप्त करता है। इस में यदि यह कहा जाय कि गुरु नानक विचारधारा कोई विशेष पथ नहीं और न कोई गहन दर्शन ही रहस्य है बल्कि उत्तम और आध्यात्मिक जीवनयापन का एक सुरूप है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

गुरु नानक और मानववाद

साधारणतः धार्मिक पचड़ों से इतर गुरु नानक नास्तिकता से पराङ्मुख हो स्नेह,

सहानुभूति और प्रेरणा के सहारे विश्व भ्रातृत्व का जो प्रासाद खड़ा किया जाता है उसी को मानववाद कहा जाना चाहिए। विश्व-मानवता को जातीय सांस्कृतिक तथा राजनैतिक सीमाओं से परे मानुषिक-सम्बन्धों के बन्धने से देखने के सिद्धान्त का नाम होना चाहिए मानववाद परन्तु शास्त्रीय परिभाषाएँ इसे तर्क की सीमाओं मे इतना आबद्ध करती रही हैं कि परामौतिक विश्वासों और 'वासुदैव कुटुम्बकम्' की सनातन भावना को इसमें कोई स्थान ही नहीं रह गया। पश्चिमी दृष्टिकोण से मानववाद *योरुप की मध्यकालीन धार्मिक दुर्व्यवस्था और प्राचीन शास्त्रों के गलत अर्थ लगाकर पण्डितों द्वारा होने वाली स्वार्थ-पूर्ति के विरुद्ध १४वीं शताब्दी में उदित एक क्रान्ति* थी। इतिहास ने इसे रेनासांस (पुनर्जागरण) का युग कहा है। उस समय भारत की परिस्थिति भी योरुप से किसी दशा में अच्छी न थी। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक-पाखण्डों का सामना भारतियों को भी उसी वेग से करना पड़ रहा था जिस वेग से योरोपियनों को। ऐसी अवस्था में दमित मानव-हृदय का कहीं भी विद्रोह कर उठना स्वाभाविक ही था। एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में स्पष्ट लिखा गया है कि *यह आन्दोलन पण्डितडम्बर और धार्मिक दबाव के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण क्रान्ति थी।*[1] इस क्रान्ति में मनुष्य की आवाज थी जो अपने जीवन के अधिकारों की माँग कर रही थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के तीसरे चरण में यही आवाज गुरु नानक का स्पष्ट स्वर बनी। मध्यकाल में इस आवाज को कबीरों ने उठाया था अन्य कइयों ने दोहराया भी। उस समय का सम्पूर्ण सन्त-परिवार तथा मानसकार तुलसीदास इसी वर्ग के विद्रोही थे। अभिप्राय यह कि उक्त क्रान्ति तत्कालीन सार्वलौकिक परिस्थितियों पर आश्रित थी अतः उसका उदय शास्त्रीय दृष्टि से योरुप में स्वीकार किया जाए, या भारत में *हमारे कथन पर कोई आघात नहीं लगता।*

पुनः मानववाद का स्वरूप मनुष्यता की भलाई में निहित है। यही कारण है कि नीति-शास्त्र समाज शास्त्र और दर्शन-शास्त्र ने एक साथ इस सिद्धान्त को अपनाया है। मुख्यतः मनुष्यता की भौतिक मानसिक आर्थिक और सामाजिक उन्नति इसका लक्ष्य है। समाज के छल कपट और दम्भ का अन्त कर शान्ति और सुरक्षा का राज्य स्थापित करना मानवता है अतः मानववाद का पोषण मानव के सांस्कृतिक *और चारित्रिक मूल्यों का विकास, कुरिवाजों से ग्रस्त समाज के कहीं का अन्त बेईमानी और शठता के हाथों पीड़ित मनुष्यता की मुक्ति और जीवन* में व्यवहार और आनन्द का सही और तर्कशील मूल्यांकन मानववाद की विशेषताएँ हैं। सिद्धान्त *में तर्क की प्रधानता अनिवार्य है* परन्तु प्राचीन विश्वासों को आमूल नष्ट करने की

---

1 This movement was essentially a revolt against intellectual and especially ecclesiastical authority Encyclopedia Britanica 'Humanism Vol. XI

अपेक्षा उन शास्त्रीय समीक्षाओं को परखने हेतु नया दृष्टिकोण बनाया गया है। पाखंडी और आडम्बरयुक्त प्रवृत्तियों का खण्डन करते हुए प्राचीन ऋषियों-मुनियों की रचनाओं के नव-अवलोकन की प्रेरणा दी गई है। पश्चिमी मानववादी एरॉसमस अपनी रचना जेरॉम (Jerome) की भूमिका में लिखते हैं[1] 'हम पुराने महात्माओं के गन्दे रूमालों और जूतों का चुम्बन कर अपने को धन्य मानते हैं, परन्तु उनकी अधिक मूल्यवान और महत्वपूर्ण पावन-स्मृतियों के रूप में पड़ी उनकी कृतियों के प्रति उदासीन हैं। हम उनकी पोशाकों को रत्न-जटित किवाड़ों में सम्भालते हैं परन्तु उनके द्वारा पर्याप्त कष्ट उठाकर जो ज्ञान भण्डार हमारे लिए छोड़ा गया है और अब भी विद्यमान है दिखावा या मुनादय के रूप में उसकी अवहेलना करते हैं।" समाज में तर्क को इतनी प्रधानता दी जाने लगी है कि व्यवहारवाद एवं उपयवावाद के बीज अंकुरित हो उठे हैं। धीरे-धीरे युनानी दार्शनिक प्रोटागोरस का सिद्धान्त मनुष्य ही सबका मानदण्ड है' (Man is the measure of all things) पुन चमकने लगा है। समाज से परालौकिक-मूल्यों का अन्त होने लगा है। तर्क का अतिक्रमण मानव की सद्भावनाओं तथा लौकिक-उद्भावनाओं पर कुठार चलाया गया है। परिणाम यह हुआ है कि आज पश्चिमी-मानववाद समग्र नास्तिकता के पंक में समा चुका है।

गुरु नानक का सम्बन्ध इससे जोड़ने से पूर्व मैं भारतीय-पृष्ठ भूमि पर इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि समकालीन परिस्थितियाँ समान होते हुए भी सुधारों और विद्रोह में पूर्व पश्चिम का अन्तर बराबर बना रहा। जहाँ पश्चिम में मानववाद का विकास नास्तिकता की ओर हुआ और अन्त में तर्कशीलता के माध्यम मनुष्य को ही मनुष्य का लक्ष्य मानकर केवल उपयवावाद (Utilitarianism) में समा जाने की चेष्टा करने लगा वहाँ भारत में उक्त सुधार आन्दोलन (उसे कुछ भी नाम दिया जाय—मानववाद) आडम्बर और पाखण्ड से बाहर सच्ची आस्तिकता की ओर बढ़ा। यहाँ मनुष्य को सबका मानदण्ड न मानकर 'मनुष्य मनुष्य के लिए है' का सिद्धान्त अपनाया गया। तर्क की अपेक्षा आस्तिकता में विश्वास तथा 'बुराई से बचाव' मानव मात्र की पुनर्स्थापित धारणा बना। अतः स्पष्ट ही हम मानववाद को दो भिन्न रूपों—आस्तिक और नास्तिक—में देखते हैं। गुरु नानक का सम्बन्ध शुद्ध पूर्वी आस्तिक मानववाद से ही जोड़ा जा सकता है।

---

1 We kiss the old shoes and dirty handkerchiefs of the Saints and we neglect their books which are the more holy and valuable relics. We lock up their shirts and clothes in jewelled cabinets but as to their writings, on which they spent so much pains and which are still extent for our benefits we abandan them to mould lnes and virmin.

Quoted in Ency: of Religion & Ethics, Vol. VI : Humanism

गुरु नानक परम-आध्यात्मिकता के अध्यापक थे दुनियादारी से उनका कोई विशेष सम्बन्ध न था। उनके आध्यात्मिक-प्रबोधनों में परिस्थितिवश जो सामाजिक सुधार आ गए हैं वे ही उनके व्यक्तित्व के केवल एक अंश को मानववादी प्रमाणित करते हैं। उन्होंने जाति-पाँति और आडम्बरयुक्त कर्मकाण्डों का जिस प्रकार से खण्डन किया मानवीय-वृत्तियों के विरुद्ध बलपूर्ण-त्याग शारीरिक-यातना आदि की अपेक्षा सहज जीवन के जो आदर्श समाज के सम्मुख रखे वे ही मानववाद का रूप हैं। गुरु नानक ने किसी धर्म या सम्प्रदाय का प्रचार नहीं किया। वे एक परम-पुरुष को मानते और सबको उसी में विश्वास लाने को कहते थे—यही वास्तविक मनुष्य-धर्म था। मानव-मानव में भेद डालने वाले जाति सिद्धान्त के वे विरोधी थे। स्वयं जाति सिद्धान्त के वे विरोधी थे। स्वयं उच्च जाति के सदस्य होते हुए भी वे निम्न जाति के बाला और मर्दाना के साथ रहते थे। अपनी पहली यात्रा में ऐमनाबाद पहुँचकर उन्होंने अपने सजातीय-भाई भावो के यहाँ रहने की अपेक्षा एक शूद्र बढ़ई लालो के घर निवास किया और इस प्रकार जाति भेद का अन्त कर उन्होंने मानववाद के विकास में सहायता दी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके सभी सिद्धान्त मानवीय-वृत्तियों के समवर्ती हैं। घर-परिवार के त्याग[1] शारीरिक यातना आदि को उनकी विचार धारा में कहीं स्थान नहीं। किसी धर्म या सम्प्रदाय के प्रति उन्होंने घृणा का प्रचार नहीं किया। सभी महापुरुषों महात्माओं तथा उनकी वाणियों के लिए उनके हृदय में श्रद्धा थी अतः किसी भी धर्म या सिद्धान्त को मानने वाला व्यक्ति उनके महान विचारों से आहत नहीं हो सकता। गुरु वे समन्वय के आश्रय परम-पथ का प्रचार कर रहे थे इसीलिए उन्हें किसी विशेष विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। और ये ही सब लक्षण गुरु नानक के भारतीय मानववाद के अलंकार हैं। उनकी ऐसी ही धारणाओं से प्रेरित हो हिन्दू मुसलमान तथा अन्य सम्प्रदायों वाले सब उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते रहे। सार यह कि जहाँ तक गुरु नानक के समाज-सुधारक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है वे मानववाद के बहुत निकट थे।

उपसंहार

गुरु नानक साहिब की चिन्तन-सरणी की जो व्याख्या अब तक की जा चुकी

---

१ कुछ विचारकों ने गुरु नानक की पाँच महान यात्राओं को घरबार का त्याग कर उदासी की यात्राएँ माना है परन्तु यह केवल उनके अज्ञान का परिचय है। गुरु नानक ने आध्यात्मिक क्षेत्र में परम-सत्य को पाया था। उनकी यात्राएँ दूसरों को उसी सत्य का ज्ञान देने के लिए आयोजित की गई थीं यही कारण था कि वे यात्रा समाप्त कर घर लौट आते थे। उदासी की यात्रा में लौट आने की आवश्यकता नहीं रहती।

उससे प्रकट है कि वे केवल विचारक ही नहीं सत्पुरुष का रूप थे और विश्व मानवता को आध्यात्मिक-क्षेत्र में पथ भ्रष्ट और त्रस्त देखकर स्वयं मार्ग प्रदर्शनार्थ संसार में अवतरित हुए थे। यों तो सभी सन्त-महात्माओं का आगमन इसी पृष्ठ-भूमि पर होता है, तथापि गुरु नानक उस आधार-भित्ति के महात्मा न थे। उन्हें इस पीड़ित मानवता को युगों-युगों तक रास्ता दिखाना था। इतना महनीय कार्य एक ही रूप में सम्भव न था। कदाचित् इसीलिए गुरु नानक ने दस भिन्न शरीरों में सजग रहकर परिस्थिति अनुकूल पीड़ित सांसारिकता का पथ प्रदर्शन किया, और लगभग २४० वर्षों (सन् १४६९ से सन् १७०८ तक) की लम्बी अवधि तक सशरीर सहायक रहने के पश्चात् भी गुरुवाणी की अद्वितीय तरणी का उपहार पीड़ित मानवता को दे गए, ताकि वह बैठने वाला भव-सागर से पार उतर सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य दृष्टि से हमने गुरु नानक के मात्र प्रथम रूप के उपदेशों (वाणी) की विचार-व्याख्या को ही मुख्यतः प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय बनाया है परन्तु इसमें और अन्य रूपों द्वारा प्रस्तुत काव्य (वाणी) के विचार-तत्त्व में बिल्कुल कोई भेद नहीं। भाषा का अन्तर (समय भी) बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव के कारण है। दसवें रूप में पंथ की स्थापना भी इसी प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।[1] अस्तु,

गुरु नानक सरीखे आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक का लक्ष्य था पीड़ित-मानवता को उचित मार्ग का संकेत देना। इसके लिए जगत में अवतरित हो परिस्थिति का अध्ययन करना अनिवार्य था अर्थात् जन-जन की दुःखी स्थिति का कारण जानना अपेक्षित था। तत्पश्चात् कारण को दूर करना तथा उसके मार्ग पर जिन विघ्नों का सामना होगा उनकी अवस्था को पहले से ही समझ लेना यही आवश्यक बातें थीं। गुरु नानक-चिन्तन पहले इन्हीं तीनों बातों का उत्तर प्रस्तुत करता है। फरमाते हैं—

बिनु बोहिथा नाविआ डोबा समुंद मझारि।
कंधी दिसि न आवई ना उरवारु न पारु।
वंझी हाथि न खेवटू, जल सागरु असरालु। १।
बाबा जगु फाथा महा जालि।

---

१ यहाँ ध्यान रहे कि हमारा सम्पूर्ण विषय प्रथम पातशाही गुरु नानक तक ही सीमित है अतः इसी अध्याय के पूर्व-पृष्ठों पर हमारे द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका कि उन्होंने किसी नए पंथ या सम्प्रदाय की नींव नहीं रखी उचित ही है— यह पंथ की नींव रखी जाने से लगभग दो सौ वर्ष पहले की बात थी। बाद में दसवीं पातशाही के रूप में परिस्थितियों का सामना करने के लिए आध्यात्मिकता और पौरुष दोनों को जुदा जुदा देखने की आवश्यकता पड़ी। उस समय प्रस्तुत चिन्तन-धारा (जो कि शुद्ध आध्यात्मिक थी) पर होने वाले अप शिरासयुक्त अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए ख़ालसा बनाना अपेक्षित ही था अतः स्वयं दसवीं पातशाही को सन्त-सिपाही बनना पड़ा।

संसार-सागर में हम सब अपना अपना शरीर रूपी जहाज लिए बस तरंगों के साथ हिलोरें ले रहे हैं। पार हो जाना चाहते हैं परन्तु हो नहीं पाते कहीं भंवर में फँसे डगमगाते और चीत्कार करते हैं। हमारे इस जहाज के भवसागर से पार न उतर सकने के कई कारण हैं—प्रथम हमने इसमें विषय-विकारों और कुभावनाओं का विष भार रखा है जिससे बोझ इतना बढ़ गया है कि पार पहुँचने से पूर्व ही इसके डूबने के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। पुनः भव-सागर का किनारा भी कहीं दिखाई नहीं देता अर्थात् प्राणी-मात्र इस कूल-विहीन सागर में युगों-युगों से गोते खा रहे हैं कोई नहीं जानता कि इसका आरम्भ या अन्त कहाँ है। अनेक जन्म इस जगत् में लिए और मर गए, लेकिन कभी लक्ष्य न पाया। ऋषियों-मुनियों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रलय-महाप्रलय के न जाने कितने हिसाब लगाए, परन्तु कोई आज तक दावे से यह नहीं कह सका कि संसार का आदि या अन्त कब है। गुरु नानक तो यौंही ऐसी बातों में चुप रहना उचित समझते हैं—कहते हैं— थिति वार न जोगी जाने, रुत माहु न कोई। जा करता सिरिष्टी को साजे आपे जाने सोई। तीसरे सागर भी 'असगाहु' है। इसकी गहराई का कुछ पता नहीं चलता। दुनिया के समुद्रों की गहराइयों का पता विज्ञान ने लगाया परन्तु स्वयं दुनिया रूपी सागर की कोई थाह नहीं नाप सकी। हमारे लिए यह दुनिया ही सब कुछ बन चुकी है—नाली के कीड़े की भाँति हम नाली में जन्म ले बाग की सुगन्धि से परिचित हुए बिना वहीं मर रहे हैं। संसार-सागर की गहराइयों को पहचानने या उससे बाहर जाने का हम प्रयत्न ही नहीं करते। हमारे लिए 'आहु जग मिट्ठा है अगला किन डिट्ठा' (यह संसार मीठा लगता है दूसरा किसने देखा?) आधार वाक्य बन रहा है। चौथे हमारे जहाज के साथ न केवट है और न उसके पास कोई चप्पू ही है। सागर से नौका को पार लगाने या जहाज को मंजिल तक पहुँचाने के लिए प्रत्येक नौका या जहाज के साथ मल्लाह होते हैं वे चप्पू चलाते हुए नौका को ठीक मार्ग पर ले जाते हैं। परन्तु गुरु नानक खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि भवसागर में पड़ी हमारी शरीर रूपी नौका को पार लगाने वाला भी कोई नहीं फिर भला वह गंतव्य तक क्योंकर पहुँचे? ऐसे में संसार की घोर पीड़ित दशा का चित्र उनके सामने आ जाता है जिससे बचने का कोई मार्ग नहीं सूझता और वे कह उठते हैं 'जगु खाधा महाराजु' अर्थात् संसार विषय-विकारों के भयंकर त्रास में फँसा सतत कष्ट उठा रहा है।

सहानुभूति के प्रतीक गुरु नानक ने संसार के कष्टों के कारण का इस प्रकार अध्ययन किया। वे जान गए कि संसार-सागर में प्राणियों का क्षीण जाना और उससे बच सकने में असमर्थ होना ही सार्वलौकिक दुःख के कारण हैं। सहानुभूति उमड़ी। वे पथ-दर्शन को तो आए ही थे द्रवित होकर फरमाया—

'गुर परसादी उबरे, सचा नामु समालि। १ रहाउ।

क इस संसार-सागर से वही पार उतर सकता है, जिस पर सद्गुरु की कृपा ो। जीव को भवसागर से पार होने तथा अपने लौकिक कष्टों को पूर्णतः अन्त रने के लिए सर्वप्रथम किसी सच्चे गुरु की खोज करनी होगी। गुरु उसे नाम-रहस्य ताएगा और तब यदि जीव गुरु-निर्देशानुसार नाम में चित्त लगाता हुआ भगवद्भजन रे, तो भवसागर से उसकी मुक्ति निश्चित है। प्रश्न उठता है यह नाम क्या है ौर कहाँ से प्राप्य है? गुरु नानक का कथन है कि वह अन्तर में ही विद्यमान है।[1] सका रहस्य केवल गुरु से जाना जा सकता है। वास्तव में यह जीव की निजी म्पत्ति है परन्तु अज्ञानवश उसके साथ रहने पर भी वह इससे तब तक कोई लाभ हीं उठा सकता जब तक गुरु द्वारा उसे सच्चाई का ज्ञान न करवा दिया जाए। जीव ी दशा ऐसी है कि गाँठ में धन बाँधे कंगाल बना फिरता है। गाँठ के अन्दर की ास्तविकता का उसे पता नहीं कोई उसे बताने वाला नहीं—इसीलिए वह दुखी है। ैसे मीरा ने कहा है—

मीरा भूखा कोई नहीं, सबकी गठरी लाल।
गाँठ खोल देखे नहीं, यौंही भये कंगाल।

अतः भवसागर में गोते खाते हुए दुखी जीव को गुरु नानक ने कष्ट-मुक्ति हेतु सच्चे गुरु की खोज करने तथा नाम प्राप्ति की महा-अन्वेषणा दी। यह हमारे आरम्भिक तीन प्रश्नों में से दूसरे (दुःख के कारण को क्योंकर दूर किया जाय?) का उत्तर था।

यहाँ जीव यह प्रश्न कर सकता है कि संसार के दुःखों और कष्टों का उपचार करने की महौषधि नाम यदि उसकी निजी सम्पत्ति है उसी के भीतर है तो फिर उसे सुगमतापूर्वक मिलती क्यों नहीं? उसकी प्राप्ति के मार्ग में क्या बाधाएँ आती हैं और क्यों? उत्तर स्पष्ट है। नाम की महान् ज्योति निस्सन्देह मनुष्य के अन्दर ही है परन्तु उस पर भी तो मनमुखता के कारण हउमै का पर्दा पड़ा हुआ है। अतः मन ही उसकी प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। वह जैसा चाहता है वैसा ही जीव को नचाता है। जीवन में हमारी समस्त क्रियाएँ मन के संकेत पर ही हो रही हैं। हमारे भीतर मन इतना सशक्त हो चुका है कि ज्योंही हमारा ध्यान साधु-संगत या भगवत्स्मरण की ओर पलटने लगता है तभी वह नए-नए आकर्षण दिखा-दिखाकर हमें पथ भ्रष्ट करता रहता है। हम अपनी नासमझी के कारण मन के पीछे चलने में किसी दोष का अनुभव नहीं करते—तो भला गुरु नानक कहते हैं हमें अपने अन्दर की नाम की दौलत कैसे मिले! पहले तो हम मन के पीछे लगे उस ओर बढ़ने ही

---

१ नउ निधि अमृत प्रभु का नाम।
देही महि इसका बिस्राम। १ २१ गउड़ी सुखमनी म० ५, पृ० २९३।

नहीं और यदि इससे डरें तो यह मन नाम-कोष के प्रहरी नाग की तरह हमें काटने दौड़ता है। अतः सच्ची बात तो यह है कि जिस प्रकार किसी बड़े खजाने को प्राप्त करने के लिए उस पर रहने वाले साँप को पकड़ना या मारना पड़ता है वैसे ही नाम की सम्पत्ति पाने के लिए मन रूपी साँप को संयत करना अनिवार्य है इसके विष और कोप का मुकाबला करना आवश्यक है। गुरु नानक फरमाते हैं—

तनु पिटारी पाईऐ, बिखु अन्तरि मनि रोसु।
पूरबि लिखिआ पाईऐ किसनो दीजै दोसु।
गुरमुखि गारडु जे सुणे मंने नाउ सन्तोखु।४।

अर्थात् हमारे शरीर रूपी पिटारी में मन का साँप बैठा है, जो हर समय जीव को विषय विकारों का विष चढ़ाए रखता है। इसी से विषाक्त हो हम भाँति भाँति के कर्म करते हैं। जिस प्रकार किसान पहली फसल काटता है तो आगे के लिए बीजता भी है, उसी प्रकार हम इस संसार में देह-धारण करते हैं तो किसी पूर्व कर्मानुसार ही और आगे के लिए कर्म संचित भी करते जाते हैं। कहा गया है कि मृत्यु के पश्चात आजीवन कर्मों के सत्व से बुद्धि और बुद्धि से संकल्प का उदय होता है। नया जन्म उसी संकल्प के अनुसार मिलता है। अस्तु कर्मगति के अनुसार जीव का आवागमन चालू रहता है। इन नए-नए शरीरों में यदि जीव मन के इशारों पर नाचता रह जाता है तो वह उसका प्रारब्ध या पूर्वकर्मों का फल ही है। मन रूपी सर्प के संकेत पर वह आध्यात्मिकता की लगभग पूर्णतः उपेक्षा कर देता है। इसीलिए जीव को कष्ट में देखकर गुरु नानक साहिब कहते हैं 'पूरब लिखिआ पाईऐ, किसनो दीजै दोसु।' जो कुछ हमें मिल रहा है जो कुछ हम कर रहे हैं वह सब हमारे पूर्व कर्मों का फल ही तो है। उसके लिए किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। 'जैसा बीजना वैसा काटना' परम्परा का नियम है इसी प्रकार हमने पूर्व जन्म में जैसे कर्म किए, वैसा फल इस जन्म में भोग रहे हैं। मानसिक संयम भी कर्म-फल ही है अन्यथा मन रूपी सर्प के विष से केवल वही बच सकता है जिसे प्रभु की विशेष कृपा से गुरु का आश्रय मिल जाए। यदि किसी को काट जाए तो डॉक्टर-वैद्य से इलाज करवाया जाता है वैसे ही मन रूपी साँप के काटे का इलाज भी सम्भव है। परन्तु डॉक्टर कौन होगा? गुरु साहिब कहते हैं 'गुरमुख'। वह महापुरुष जिसने इस संसार से ऊँचा उठकर परम-तत्त्व को प्राप्त कर लिया है वही 'मन के काटे' की औषधि कर सकता है। कोई सच्चा गुरु ही इसका वास्तविक उपचारक होगा। वही जीव को समझा सकेगा कि मन की विष केवल नाम धार में सन्तुष्ट रहने से ही दूर हो सकती है। उसी की (गुरु की) महत् कृपा से ही मन वश हो सकता है और पकड़ा जा सकता है। स्पष्ट ही साँप पकड़ा जाए

या गुरु कृपा से उसके विष-बन्ध (विषय-विकार की प्रवृत्तियाँ) टूट सकें तो फिर अन्तर में सुरक्षित नाम की सम्पत्ति पाने में कोई बाधा रह ही नहीं जाती।

गुरु नानक उपर्युक्त तीसरी (कष्ट-निवारण के मार्ग के विघ्नों को समझना) स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सागर में बड़े-बड़े मगरमच्छ या मछलियाँ होती हैं—इतनी शक्तिशाली कि जहाज को टक्कर मारें तो जहाज टूट जाए। परन्तु शिकारी लोग उन्हें पकड़ने के लिए कुण्डी के साथ माँस का एक टुकड़ा लगाकर पानी में फेंक देते हैं। लोभ ग्रस्त मगर कुण्डी समेत माँस को निगल जाता है। कुण्डी कण्ठ में फँस जाती है। बेचारा विवश हो जाता है और साथ में मुर्दे की तरह खिंचा चला आता है। यही दशा जीव की है। वह आत्मा है साक्षात् सत्पुरुष का अंश। परन्तु उसे अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं लोभ में पड़ी मन की कुण्डी में खिंची चली जा रही है—

मगरमछु फहाईऐ कुण्डी जालु वताइ।
दुरमति फाथा फाहीऐ फिरि फिरि पछोताइ।
जंमणु मरणु न सुझई किरतु न मेटिआ जाइ॥ २॥

जैसे कर्म मन करवाता है वैसे जीव किए जा रहा है। कुमति-जीव को यह ध्यान ही नहीं आता कि इन खोटे कर्मों के फलस्वरूप उसे भाँति-भाँति की योनियों में जाना पड़ेगा। गुरु साहिब ने भी लिखा है—

सरब जियां सिर लेखु धुराहूं।
बिनु लेखै नहीं कोइ जिउ।

अर्थात् जीव लौकिक सम्पन्नता में इतना खो जाता है कि उसे अपने जन्म मरण की परवाह ही नहीं रहती। वह यह भी भूल जाता है कि कर्म-फल से छुटकारा सम्भव नहीं उसे अपने किए का फल भोगना ही पड़ेगा। मन का अनुयायी बना जीव 'मायाधारी अत अन्हा बोला सबदु न सुणै बहु रौल घचोला'। वह अन्धा होता है क्योंकि उसे अपने अन्दर की ज्योति दिखाई नहीं पड़ती वह बोला है क्योंकि उसमें नाम की—शब्द की—ध्वनि सुनने का सामर्थ्य नहीं।

संसार की कष्टमय स्थिति कष्ट के कारणों का मूलोच्छेदन और इसकी सम्भावना में आने वाली बाधाओं का चित्रण करने के उपरान्त गुरु साहिब जरा और स्पष्टवादी-भाव से अपना मंतव्य प्रकट करने को उद्यत होते हैं। उपर्युक्त दृष्टिकोण से उन्होंने मन को सबसे बड़ी बाधा बताया है। मन की मूल प्रवृत्ति (उगला हुआ विष) है—अहंभाव। बेचारा जीव मन के कहने में पड़कर सांसारिक या लौकिक पृष्ठभूमि पर अपने अस्तित्व का महत्त्व गिनने लगता है। 'मैं' और 'मेरी' के रैले में बह जाता है। इसी के विष से समस्त संसार परेशान हो रहा है

लेकिन कोई इसे छोड़ नहीं पाता। गुरु नानक लिखते हैं 'हउमै विचु पाइ जगतु उपाइआ' अर्थात् संसार का उत्पादन ही अहं रूपी बीज से हुआ है। माझ की वार' में हउमै का एक सुन्दर चित्र खींचा गया है—

> हौं विच आया, हौं विच गया। हौं विच जंमिया हौं विच मुआ।
> हौं विच दित्ता हौं विच लिया। हौं विच खटिया हौं विच गिआ।
> हौं विच सचिआर, कूड़िआर। हौं विच पाप पुन्न वीचार।
> हौं विच नरक सरग अौतार।

अभिप्राय यह कि संसार में आते जाते जीव मन के फंदे में फंसे अहं के बोझ से इतना दब जाते हैं कि उनके लिए इसके अतिरिक्त कुछ व्यवस्था ही नहीं रह जाती। लेकिन नहीं निराश होने की आवश्यकता नहीं जहां समस्या होती है वहां उसका हल भी रहता है। गुरु साहिब स्वयं इसी के आगे लिखते हैं—

> हउमै दीरघ रोग है दारू भी इस माँहि।
> किरपा करे जे आपणी तां गुर का सबद कमांहि।

रोग तो हउमै का भयंकर है परन्तु यदि प्रभु की कृपा हो कोई सच्चा गुरु मिल जाए और वह जीव को मर्म-रहस्य समझा दे तो हउमै का विष अपने आप निष्क्रिय हो जाए—

> सचु वसै विखु जाइ।

हउमै का विष नष्ट होने के साथ ही जीव परम-सत्य में चित्त लगाएगा। सत्य की ओर उसका नैसर्गिक आकर्षण होगा। उस सत्य को जिसके सम्बन्ध में गुरु नानक ने 'आदि सचु जुगादि सचु है भी सचु नानक होसी भी सचु' कहा है पालेना मात्र ही तो जीवन का उद्देश्य है। मन से हउमै का नाश आत्मा-परमात्मा की निकटता का आधार है और फिर यदि जीव परम-सत्य को पहचानने में प्रवृत्त हो जाय सच्चा गुरु पाकर उसके आदेशानुसार अन्तर्यात्रा आरम्भ करदे तबतो वह संसार में रहते हुए भी मुक्त कहलाएगा। उसके समस्त कष्टों की दवा उसे प्राप्त हो जायगी वह परमानन्द में चिर-मग्न हो सबके दुख-सुख का साक्षी बनेगा। गुरु नानक साहिब लिखते हैं—

> जरा जोहि न सकई सचि रहै लिव लाइ।
> जीवन मुक्तु सो आखीऐ जिसु विचहु हउमै जाइ। ५ २।

पीछे कहा जा चुका है कि जीवात्मा भव-सागर के भँवर में पड़ा है इसका शरीर रूपी जहाज जर्जरित है पार लगाने के लिए साथ में न चालक है न मल्लाह;

और चारों ओर से विषय-विकारों के थपेड़े तथा मन रूपी जलचरों की भयानक टक्करें सहती पड़ रही हैं डूबना ही चाहता है। प्रायः इस प्रकार डूबते हुए जहाज को बचाने के लिए अन्य जहाज और उनके चालक सहायता को दौड़ पड़ते हैं। यहाँ सहायता कौन करे? कौन पतित जीव का उद्धार करे? गुरु नानक कृपा कर सुझाव पेश करते हैं कि कोई सद्गुरु ही स्वयं मल्लाह बन यदि नाम का जहाज लेकर सहायता करे, तो जीव की मुक्ति सम्भव है। अतः लिखते हैं—

पूरि रासे ते उबरे सचा सबदु वीचारु।
या—सतिगुरु है बोहिथा सबदि लंघावणहारु।

सब कुछ कर्म-फल होते हुए भी गुरु द्वारा संसार से उबारा जाना प्रभु-कृपा का विषय है। सद्गुरु का मिलना हउमै का नाश करना या नाम की ओर प्रवृत्त होना गुरु नानक विचारधारा के अनुसार, जीव के निजी अधिकार नहीं हैं। जीव के शुभ कर्मों उच्च-विचारों और सदाचारी-वृत्तियों को देखकर यदि सत्पुरुष दया करें केवल तभी जीव को इस विश्व में किसी सद्गुरु का साथ मिल सकता है। सतिगुरु नाम का जहाज लिए भव सागर से पार लगाने वाली उत्कृष्टतम विभूति है। जिस पर उसकी कृपा-दृष्टि पड़ी वही संसार-सागर में डूबते-डूबते बचा लिया गया नाम के जहाज में बिठाकर उसे पार लगा देने का आश्वासन मिला। अब प्रश्न उठा दुनिया के जहाजों का कोई आकार होता है वे पवन या भाप से सागर में चलते हैं—इस नाम के जहाज का क्या आकार होगा? कैसी पवन या भाप इसे खेने में प्रयुक्त होगी? उत्तर देते हुए गुरु नानक फरमाते हैं—

तिथै पवणु न पावको ना जलु ना आकारु।
तिथै सचा सचि नाइ भवजल तारणहारु। २ : २।

अर्थात् नाम के इस जहाज पर सांसारिक पवनों (विषय-विकारों की आंधियों) अग्नियों (तृष्णा की) या प्रवाहों-भँवरों (काम क्रोधादि) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो भवसागर की विकटता के विरुद्ध जीव का संरक्षण है। नाम के जहाज और सद्गुरु के संरक्षण में बैठा जीव भयानकतम तूफानों से भी घबराता नहीं। वह सत्य नाम के आश्रय निर्भय होता है। गुरु-कृपा से उसके भीतर का अहंभाव नष्ट हो चुका है इसलिए वह नाम जाप में भी खूब चित्त लगाता है। जैसा कि पीछे के अध्यायों में बताया जा चुका है नाम के साथ नामी का सम्बन्ध होने के कारण वह वाहिगुरु में समाविष्ट हो जाता है। उठते बैठते चलते लेटते खाते-पीते उसका ध्यान निरन्तर परम-पुरुष में लगा रहता है। ऐसा जीव जीते जी इस संसार से मुक्त होता है उसका जन्म-मरण-चक्र टूट जाता है। उसकी महत्त्वाकांक्षी आत्मा प्रियतम में ही

विलीन हो जाने के लक्ष्य की ओर बड़े वेग से बढ़ता है। जीव आन्तरिक-ज्योति को परम-ज्योति में विलीन कर देना चाहता है। उस आध्यात्मिक खुमारी में मदहोश जीवात्मा वाहिगुरु से ऐक्य पाने के लिए जब शब्द-ध्वनि और नाम-स्मरण के आश्रय तुरियापद से भी ऊपर उठ जाता है—लेकिन कोई विरला गुरमुख आत्मा ही वहाँ तक पहुँच सकता है। स्वयं गुरु नानक लिखते हैं—

> तरै गुणा में सहज न ऊपजै, तरै गुण भरम भुलाए।
> चौथे पद में सहज है गुरमुख पल्ले पाए।

त्रिगुणित-माया के खेल का त्याग कर, दसवें द्वार के पार जब जीवात्मा पहुँचता है तो परम-ज्योति उस सत्पुरुष को पा जाता है उसी में समा जाता है। उसका समस्त दुनिया का हिसाब-किताब चुकता हो जाता है कर्म चक्र का अन्त होता है और वह मुक्तात्मा होकर चिर-समागम् (सहजावस्था) का परमानन्द लाभ कर लेता है। लिखा भी है—

> गुरमुखि लंघे से पारि पए सचै सिउ लिव लाइ।
> आवागउणु निवारिआ जोती जोति मिलाइ।

परन्तु कौन होगा वह भाग्यशाली जो आध्यात्मिकता की इस ऊँचाई तक पहुँचेगा? गुरु साहिब फरमाते हैं वही जो गुरु को प्राप्त कर लेगा उसके आदेशानुसार नाम की कमाई करेगा और सदैव अपने अहंभाव-विहीन चित्त को सत्य में लीन रखेगा—

> गुरमती सहजु ऊपजै सचे रहै समाइ। १ २।

सार यह कि शरीर-पिंजर में बन्द आत्मा रूपी कीर जब तक दुनिया की बोलियाँ बोलता है अन्तर में बरसने वाले शब्दामृत की अपेक्षा मन के संकेतों पर विषय-विष-पान करता है तब तक प्रभु-मिलन या मोक्ष तक उड़ान भर सकना उसके लिए कदापि सम्भव नहीं। परन्तु यदि वही आत्मा-कीर मन के भ्रम-भेद को पहचान और दुनिया के आस्वादनों का त्याग कर सत्य-नाम का दाना चुगे और शब्दामृत का पान करने लगे, तो उसकी उड़ान में वह शक्ति आ सकती है कि वह सतलोक तक की ऊँचाई को पा जाय—

> पउड़ु पिंजर प्रेम कै बोलै बोलणहार।
> सचु चुगै अंमृत पीए उडैत एका वार।

यहाँ गुरु नानक एक बार फिर चेतावनी दिए देते हैं कि जीवन-यातना से छुटकारा पाने की स्थिति से लेकर प्रभु को पहचानने तथा भवसागर से पार हो

जाने या मोक्ष पा जाने तक एक ही व्यक्तित्व की कृपा और महत्ता का छाया रहना आवश्यक है—वह है गुरु। कोई सच्चा गुरु जीव का सहायक बने तो वही उसके अन्तर के अहं की मैल काट सकता है। तब जीव यदि गुरु द्वारा बताए गए नाम-रहस्य को समझे शब्द ध्वनि और नाम-स्मरण में एकाग्र हो गुरु तथा प्रभु की कृपा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करले तो निश्चय ही वह 'अगम' (सत्पुरुष) में विलीन हो सकेगा। गुरु नानक इसी को वास्तविक मोक्ष का मार्ग स्वीकार करते हैं—

गुरि मिलिऐ खसमु पछाणीऐ कहु नानक मोख दुआर। ७ २।

---

१ ८ २, राग मारू म० १ अष्टपदी पृ० १००९।

परिशिष्ट-१

गुरु नानक साहिब की जीवन-यात्रा

भई गलानि जगत विच, चार वरन आश्रम उपाए।
दस नाम संन्यासियां जोगी बारह पंथ चलाए।

× × ×

सुनी पुकार दातार प्रभु, गुरु नानक जग माहि पठाया।
चरन धोई रहिरास कर चरनामृत सिक्खां पीलाया।

(वार—भाई गुरदास)

न्म और माता-पिता[1]

विश्व-यातना से पीड़ित लोगों पर कृपा कर, उनके उद्धार के लिए प्राय: समय मय पर ज्योति-पुंजों का अवतरण इस नश्वर जगत की विशेष विभूति रहा है। ऐसी ई महान्-विभूतियों में एक देदीप्यमान ज्वाला १५वीं शती में भारत के तत्कालीन स्थिर संघर्षमय राज्य, पंजाब में उदित हुई। वे गुरु नानक थे। गुरु नानक साहिब[2] ा जन्म संवत् १५२६ (१५ अप्रैल १४६९) के वैशाख मास शुक्ल-पक्ष की तृतीया

---

१ (क) Encyclopedia of Religion & Ethics Vol. IX में लेखक ने लगभग १०० वर्ष पूर्व अमृतसर में लिखी किसी जन्मसाखी का हवाला देते हुए गुरु नानक को राजा जनक का कलियुग में हुआ अवतार माना है। यह अशुद्ध दीखता है। उक्त जन्मसाखी में सम्भवतः ऐसा लिखा गया है कि जिस प्रकार त्रेता युग में राजा जनक ने संसार की पीड़ित जनता के सामने गृहस्थी-योगी का आदर्श रखकर उन्हें सन्मार्ग पर लगाया था वैसा ही कलियुग में गुरु नानक ने किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रभु अपने जीवों की रक्षार्थ सदा से ऐसे महापुरुषों को दुनिया में भेजने की परम्परा चलाए हुए हैं और राजा जनक या गुरु नानक उसी परम्परा के भिन्न पड़ाव थे।

(ख) गुरु नानक की जीवनी अनेक जन्मसाखियों में लिखी गई है। भक्तों ने भक्ति-भाववश इन साखियों में उनके जीवन का खूब बढ़ा-चढ़ा कर विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं उनसे सम्बन्धित घटनाएँ अति-मानवीय क्षेत्रों तक भी पहुँची हैं। हम आज के वैज्ञानिक युग में गुरु नानक के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए भी ऐसी बातों को यहाँ स्थान न देकर संक्षेप में उनका जीवन चरित ही लिखेंगे।

२ गुरु नानक साहिब को प्रचलित जनमत गुरु नानकदेव के नाम से स्मरण करता है। परन्तु विल्सन सरीखे पश्चिमी लेखकों ने उनका नाम नानक सिंह अथवा नानकशाह लिखा है जोकि अशुद्ध है। (Religious Sects of Hindus H H Wilson P 367) सिक्ख-गुरुओं की परम्परा में किसी भी महात्मा के नाम के साथ सिंह का प्रयोग नहीं हुआ। केवल दशम पातशाही गुरु गोबिन्द ने जब धर्म रक्षार्थ परिस्थितिवश मुसलमानों के विरुद्ध अपने सिक्खों को वीर बनने की प्रेरणा देनी चाही और खालसा-पंथ की नींव रखी तभी उन्होंने सब सिक्खों के

(शेष अगले पृष्ठ पर)

को लाहौर नगर के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ३० मील दूर एक गाँव तलवंडी में हुआ था । उनके पिता का नाम कालू और माता का नाम तृप्ता था । यद्यपि लतीफ ने इन दोनों का नाम सेवाराम और बिनासी या बनारसी[1] स्वीकार किया है तथापि प्रचलित मतों एवं स्वयं मैकॉलिफ[2] ने पूर्वोक्त नाम ही शुद्ध माने हैं । इनके पिता मेहता कालू क्षत्रियों की बेदी उपजाति से सम्बन्धित थे और तलवंडी गाँव के जमींदार रायबुलार[3] की जमींदारी में ही पटवारी का काम करते थे ।[4] गुरु नानक की माता तृप्ता के पीहर के सम्बन्ध में भिन्न मत उपलब्ध हैं । कनिंघम ने कान्हा-काछा के कस्बे में और श्री परशुराम चतुर्वेदी[5] ने बारी के दोआब के प्रदेश में कहीं तृप्ता का पितृगृह होना स्वीकार किया है और उनके पिता का नाम राम लिखा है । अस्तु, जिस गाँव में गुरु नानक का जन्म हुआ था कुछ समय तक उसका नाम रायपुर भी रहा और अन्ततः गुरु का जन्म स्थान होने के कारण उसका नाम 'ननकाना-साहिब' पड़ गया । बाद में जन्म-स्थान पर एक बड़ा गुरुद्वारा बनाया गया और उसकी गणना हिन्दुओं तथा सिक्खों के मुख्य-पवित्र स्थानों में होने लगी । यद्यपि आज यह स्थान पाकिस्तान

(शेष पिछले पृष्ठ का)

एवं अपने लिए भी नाम के साथ 'सिंह' (वीरता का प्रतीक) शब्द का आयोजन किया । गुरु नानक के लिए 'शाह' शब्द का प्रयोग मुसलमानों की देन है । यह शब्द फारसी में राजा महाराजा या मुखिया के लिए तो प्रयुक्त होता ही है साथही सूफियों ने इसे महान सूफी या सूफियों में श्रेष्ठ के लिए भीप्रयोग किया है । साहिब' अरबी शब्द है जिसका अर्थ है मालिक अथवा सत्पुरुष ।

१ S. M Latif History of the Punjab p 241 ने दोनों नाम गुरु नानक के दादा दादी के माने हैं—(The Gospel of Guru Granth Sahib-Duncan Greenlees)

२ Macauliffe Sikh Religion Vol I p 1

३ रायबुलार तलवंडी के प्रथम जमींदार राई भोई का वंशज था और राजपूत मुसलमानों के भट्टी कबीले से सम्बन्ध रखता था ।

४ कनिंघम ने इन्हें गाँव के साधारण-व्यापारी लिखा है । Cunningham s History of Sikhs p 39)

सरुल-मुताखरीन में मेहता कालू को अनाज का व्यापारी कहा गया है । (Quoted by Cunningham.

जबकि Encyclopedia of Religion and Ethics Vol IX में इन्हें एक ही समय साधारण-व्यापारी कृषक और पटवारी मान लिया गया है ।

५ उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ २१० ।

के प्रदेश में आ चुका है तो भी प्रतिवर्ष कार्तिक-पूर्णिमा को अनेक हिन्दू-सिक्ख यहाँ गुरुद्वारे के दर्शनों को जाते हैं।

बचपन और शिक्षा—गुरु नानक के जन्मावसर पर ही उनके कुल-पुरोहित ज्योतिषी हरदयाल ने इनकी महानता के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। वे बचपन से ही बड़े शान्त स्वभावी और एकान्त-प्रिय जीव थे। अत्यन्त छोटी आयु में ही जब बच्चे चंचल चपल और खेल प्रिय होते हैं, नानक को प्रायः एक ओर विचार-मग्न बैठे देखा जाता था। बचपन से ही साधु-महात्माओं के प्रति उन्हें लगाव-सा था। उनके घर से कभी कोई साधु बिना कुछ पाए न लौटता। वे माता-पिता से जिद् करके भी उसे कुछ न-कुछ दिला ही देते। पाँच या सात[1] वर्ष की आयु में इन्हें गाँव के प्राइमरी स्कूल में भेजा गया जहाँ वे कुछ भी न सीख सके। पुस्तकों की ओर उन्हें रुचि न रही। एक बार उन्हें गम्भीर-चित्त बैठे देखकर जब अध्यापक ने कारण पूछा तो 'मुझे केवल आध्यात्मिक-विषयों में ही रुचि है' कुछ ऐसा उत्तर पाकर वह स्तम्भित हो गया। गुरु नानक को हिन्दी संस्कृत तथा फारसी तीनों भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान दिया गया। डंकन ग्रीनलेस लिखते हैं 'ऐसा माना जाता है कि गुरु नानक का हिन्दी-शिक्षक कोई गोपाल-पांधा नाम का व्यक्ति था। संस्कृत उन्होंने किन्हीं पंडित बृजनाथ से सीखी और मौलवी सैय्यद हसन नामक व्यक्ति ने उन्हें फारसी और अन्य चीजों का ज्ञान कराया"।[2] कनिंघम किसी फारसी हस्तलिखित जीवन-कथा का हवाला देते हुए गुरु नानक के प्रथम अध्यापक का मुसलमान होना स्वीकार करते हैं।[3] इसी अध्यापक से गुरु नानक ने फारसी लिपी के प्रथम अक्षर, जोकि लगभग सीधी खड़ी लकीर की भाँति होता है (अलिफ़) का अर्थ पूछकर उसे विस्मित कर दिया था। उनके अपने विचारानुसार यह अलिफ़ 'ईश्वरीय इकाई का प्रतीक है।[4] सय्यद हसन का वर्णन केवल मुनाजरीन' (L 110) में भी उपलब्ध है। वह इनके पिता का पड़ोसी-मित्र था। धनवान और निस्सन्तान था इसलिए बालक गुरु नानक से उसे प्यार था। इस व्यक्ति ने इन्हें कुरान एवं सुन्नी धर्म का पर्याप्त परिचय दिया।

---

१ गुरु नानक के अक्षरारम्भ के समय पर भी मतैक्य प्राप्य नहीं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी (उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० २६०) पाँच वर्ष की आयु में तथा श्री डंकन ग्रीनलेस (The Gospel of Guru Granth Sahib p (XXXV) सात वर्ष की वय में इनका मदरसे जाना स्वीकार करते हैं।

2. Gospel of the Guru Granth Duncan Greenless Foot note p p. XXXV

3. Cunningham s History of Sikhs : Edited by Garret p 39

४ ईसा-मसीह के सम्बन्ध में भी ऐसा प्रसिद्ध है कि जब वे १२ वर्ष के थे तो इन्होंने अपने अध्यापकों को वर्णमाला के अक्षरों का अर्थ समझाया था।

मैल्कोम के अनुसार, मुसलमानों में यह भी प्रचलित है कि गुरु नानक ने सब प्रकार के भौतिक-विज्ञानों की शिक्षा खिज़र अर्थात् पयम्बर अलियास से प्राप्त की।[1] कुछ भी हो यह एक तथ्य है कि गुरु नानक के शिक्षक मौलवी और पंडित दोनों थे परन्तु कोई भी उनकी महान् विचारधारा का पोषण न कर सका और ना ही उन्हें किसी प्रकार के किताबी ज्ञान से संतुष्टि ही हुई।

सन् १४९८ के आसपास इनका जनेऊ संस्कार सम्पन्न किया गया। सब प्रकार की क्रियायें हो चुकने के पश्चात् जब पुरोहित जनेऊ पहनाने लगा तो गुरु नानक ने स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा कि उन्हें तो दया और संतोष का ऐसा धागा चाहिए, जो सदैव उनका मानसिक सम्बल बना रह सके और कालान्तर में ईश्वरीय-निकटता का साधन बने।[2] इस प्रकार की अनेक बातें गुरु नानक के बचपन के सम्बन्ध में जन-श्रुति रूप में प्रचलित हैं। कहते हैं आठ-नौ वर्ष की आयु में ही वे गाँव के बाहर बीहड़ जंगलों में चले जाते थे और घंटों वहाँ बैठे आत्म-चिन्तन करते रहते थे। ऐसे ही जंगलों में उनका कुछ पहुँचे हुए महात्माओं से मिलन होना स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इस तथ्य का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं तो भी इसका औचित्य मान्य है, क्योंकि उत्तरोत्तर उनका आध्यात्मिक-चिन्तन परिपक्व ही होता गया।

कुमारावस्था तथा यौवन काल—गुरु नानक की साधुओं के पीछे आवारागर्दी एकान्त-चिन्तन हर समय ईश्वर-सम्बन्धी बातचीत तथा अजीब आदतों को देखकर लोग इन्हें पागल समझने लगे थे। तथापि माता-पिता की यह हार्दिक-इच्छा थी कि उनका इकलौता-पुत्र उनके चरण-चिह्नों पर चलता हुआ एक भला गृहस्थी नागरिक बने। परन्तु गुरु नानक प्रायः किसी भी काम व्यवसाय अथवा धन्धे को ठीक ढंग से निभाना न जानते थे। वे प्रभु के विशेष जीव थे उन्हें प्रभु के कार्यों वार्ताओं और भजन-स्मरण में ही आनन्द मिलता था। पढ़ाई में उनकी रुचि न देख पिता कालू ने उन्हें खेती-बाड़ी के कार्य में लगाना चाहा परन्तु असफल रहे। वे खेतों में जाते और पक्षियों से खेतों के बचाव का ध्यान करने के बजाय साधु-मण्डलियों में शामिल

---

1 According to Malcolm (Sketch p 14) Nanak is reported by the Mohammadans to have learnt all earthly Sciences from Khizar i.e. Prophet Elias.

—Foot Note p. 39 Cunningham's History of Sikhs, Edited by Garret

२ नाँव मनिए पत उपजै सालाहि सच सूत।
दरगे अन्दर पाइए, तग न तूटस् पूत।

—ग्रन्थ साहिब आसा दी वार।

होकर हरि-गुण गाते फिरते।[1] एक समय इनके पिता ने इन्हें भैंसें चराने का कार्य सौंप दिया। एकाध दिन ठीक काम किया भी परन्तु दूसरे ही दिन भैंसों की ओर से उदासीन हो वे हरि-भजन में लग गए। भैंसें किसी की तैयार फसल चर गईं। शिकायत हुई तो मेहता कालू और गुरु नानक को जमींदार रायबुलार के सम्मुख पेश होना पड़ा। कहते हैं कि जब बुलार ने स्वयं खेतों को देखा तो कहीं कोई चरा हुआ चिह्न न पाकर उसे बड़ी हैरानी हुई। (कैसा साहिब) तभी से वह नानक के महत्त्व को समझने लगा और उसने कालू से भी कहा कि गुरु नानक के वेष में कोई महान आत्मा उसके घर में उत्पन्न हुई है—वह उसे कुछ न कहा करे। परन्तु बेचारा सामान्य पिता अपने पुत्र से न जाने क्या क्या दुनियावी आशाएं लगाए था मारपीट-गाली-गलौज से बारबार उसे किसी धंधे में लगाने के सपने देखता परन्तु सब व्यर्थ।

अन्ततः लोगों के कहने सुनने पर गुरु नानक को दुनियादारी में धकेलने के लिए, मेहता कालू ने अपने जमाई भाई जयराम के विमर्श से प्रथम अगस्त १४८२ को उनका विवाह बटाला के एक क्षत्रिय बाबा मूला की कन्या सुलक्खनी से सम्पन्न कर दिया। यह विवाह भी एक प्रकार से बलपूर्वक नानक के मार्ग में विघ्न डालने का आयोजन था। इससे उनकी जीवनचर्या में कोई अन्तर न आया अतः पति-पत्नी के सम्बन्धों को किसी भी रूप में आदर्श नहीं कहा जा सकता। मकॉलिफ के मतानुसार यदि गुरु नानक को उनकी इच्छा पर छोड़ दिया जाता या उनके माता पिता उन्हें बाध्य न करते तो बहुत सम्भव था कि वे मनुष्य के इस कर्त्तव्य (विवाह) की ओर ध्यान ही न देते।[2] विवाहोपरान्त भी वे अपनी पत्नी में आसक्त न होकर प्रभु अनुराग में ही लिप्त रहे। पत्नी अधिकतर पीहर में ही रहने लगी। कभी आती तो इनकी ओर से उसे उपेक्षा-जैसा व्यवहार मिलता। इनकी माता तृप्ता इन्हें खूब टोकती। कभी-कभी बहू का पक्ष लेकर इन्हें बुरा-भला भी कह देती परन्तु ईश्वर के प्यारे जीवों पर दुनिया का क्या प्रभाव! माता इन्हें रोगी समझने लगी। वैद्य बुलाया गया परन्तु नाड़ी देखते हुए वैद्य को 'मुझे केवल राम-नाम का ही रोग है' यह कह गुरु नानक ने चुप करा दिया। बाद में इनकी आध्यात्मिक बातें सुनकर वैद्य बड़ा प्रभावित होकर चला गया। लेकिन पिता कालू को कुछ संतोष न हुआ।

---

१ पेट भूखे जाते थे उनके गाते थे वे हर्ष मगन।
भर भर पेट चुगो री चिड़ियो हरि की चिड़िया हरि के खेत॥

गुरुकुल मैथिलीशरण गुप्त।

2. If Nanak had been left to his own discretion, and if his marriage had not been made for him by his parents it is most probable that he would not have turned his attention to that part of man's duty —M. A. Macauliffe Sikh Religion Vol. I p. 29

आखिरकार एक दिन समझा-बुझाकर नानक को उनके व्यापार करने को तैयार कर लिया और २०) रुपये देकर चूहड़काना (जिला गुजरांवाला) में जाकर नमक और अन्य सामान खरीदने को कहा। नानक अपने घरेलू नौकर बाला के साथ घर से चल पड़े। परन्तु मार्ग में साधुओं की एक मंडली से मिलाप हो जाने से गुरु नानक उनके साथ मिलकर हरि-गुणगान में लग गए और सारी रकम उन साधुओं की सेवा में ही खर्च कर दी। यद्यपि बाला ने इसका विरोध भी किया परन्तु उसकी कोई सुनवाई न हुई। जब गुरु नानक खाली हाथ घर लौटे और 'सच्चा व्यापार' करने की सूचना उन्होंने पिता को दी तो उनकी पिटाई के साथ ही मेहता कालू ने अपना सिर भी पीट लिया। इस पर गुरु नानक चिढ़ कर ग्राम से बाहर जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गए। वह पेड़ अभी तक सुरक्षित है उसे चारों ओर से दीवार से घेर दिया गया है और उसे 'तम्बू साहिब' कहते हैं।

सन् १४९४ में गुरु नानक के यहाँ प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम श्रीचंद[1] रखा गया। तीन वर्ष बाद में सन् १५०० में दूसरे पुत्र लखमीचन्द का जन्म हुआ। अब गृहस्थी का पर्याप्त बोझ नानक के कन्धों पर आ चुका था और उनका दिनोदिन बढ़ता हुआ आलस्य परिवार का सिर दर्द बनता जा रहा था। आखिर स्वयं रायबुलार ने इन्हें समझाया कि पत्नी-बच्चों की पालना और पारिवारिक-बोझ उठाने में मेहता कालू का हाथ बटाने के लिए व खेती का काम ही करें। परन्तु गुरु नानक ने उत्तर दिया कि उन्होंने अपने शरीररूपी खेत में हरि-नाम की ऐसी फसल बो दी है जिससे समस्त परिवार का भला होगा। इसी प्रकार इन्हें दुकान चलाने घोड़ों का व्यापार करना आदि के कई सुझाव समय-समय पर दिए गए, परन्तु मस्त-मलंग गुरु नानक ने इनमें से किसी में रुचि न दिखाई।

सन् १५०४ में गुरु नानक के बहनोई भाई जयराम जो कि सुलतानपुर में नवाब दौलत खाँ लोधी के कर्मचारी रूप में काम करते थे अपने श्वसुर मेहता कालू को मिलने तलवंडी आए। वे समझते थे कि गुरु नानक महात्मा हैं। घर में उनके साथ होने वाला दुर्व्यवहार उन्हें सहन न हो सका उन्होंने गुरु नानक को अपने साथ सुलतानपुर ले जाने की इच्छा प्रकट की। उधर गुरु नानक के माता-पिता ने भी सोचा कि सम्भवतः वहाँ जाकर उन्हें सरकारी नौकरी मिल जाय और उनका दिल भी लग जाय यह प्रस्ताव उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव का विरोध या विघ्न हुआ गुरु नानक की पत्नी सुलक्खनी की ओर से। वह भी साथ जाना चाहती थी परन्तु गुरु नानक ने उन्हें समझा-बुझा कर वहीं रहने को राजी कर लिया और अपने बहनोई भाई जयराम के साथ सुलतानपुर चले गए।

---

१ यही श्रीचन्द बाद में 'उदासी-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक बना—पिता से सहकर।

सुलतानपुर में जयराम ने गुरु नानक का परिचय नवाब दौलत खाँ से कराया और उसने उन्हें मोदीखाने (स्टोर) का मुखिया नियुक्त कर दिया। यहाँ गुरु नानक ने शान्ति से कार्य करना शुरू कर दिया। काम-काज से जो समय बचता वह हरिभक्ति में लगाते। प्रति दिन प्रातःकाल वेईं नदी में स्नानकर घंटों वे ईश्वर का ध्यान करते। जो वेतन उन्हें मिलता उसमें से अपने निर्वाह-योग्य रखकर शेष सब गरीबों और दीनों में बाँट देते। इन्हीं दिनों इनके गाँव का एक मुसलमान मरासी मरदाना भी इनके पास चला आया। वह रबाब (वायलिन की प्रकार का एक यन्त्र) खूब अच्छा बजाता था। वह इनके पास ही रहने लगा। नित्य प्रति वह रबाब बजाता तथा गुरु नानक भावावेश में हरि भजन गाते। इसी में जीवन का अन्यतम सुख उन्हें उपलब्ध था। यहाँ मोदीखाने में कार्य-रत होते हुए भी यदि कभी वे भावावेश में आ जाते तो सब कुछ छोड़ कर हरि-नाम का गान करते थे। उनका कार्य सराहनीय और ईमानदारी पूर्ण था अतः अन्य नौकर चाकर उनसे ईर्ष्या भी करने लगे थे। एक दिन गुरु नानक आटा तोल रहे थे। वे जितनी बार तराजू में आटा भरते वह संख्या साथ-साथ बोले जा रहे थे। तेरह की संख्या तक पहुँचते-पहुँचते उन्हें भावावेश हो आया और वे आगे गिनना भूलकर बार-बार तेरह "तेरा" "तेरा" "मैं तेरा" ही दोहराते रहे और इस प्रकार आवश्यकता से कहीं अधिक आटा उन्होंने तुला दिया। इस पर ईर्ष्यालु साथियों ने नवाब के पास शिकायत कर दी। यों भी वे साधु सन्यासी फकीरों को आटा बाँटते रहते थे। अतः परीक्षण आरम्भ हुआ तो किसी वस्तु में कोई कमी न मिली। परन्तु सन्देह के वातावरण में नानक का मन एक दम उचाट हो गया। २० अगस्त सन् १५०७ को प्रातःकाल वे जब नदी से नहाकर निकले और हरि भजन में बैठे तो कहते हैं उन्हें अन्तर्ज्योति का स्पष्टीकरण हुआ और महापुरुष ने उन्हें आज्ञा दी कि वे दुनिया को भलाई और सच्चाई के मार्ग पर लगावें। इसके कुछ दिन बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी। नवाब ने बहुतेरा चाहा कि वे न जायें परन्तु वे न माने और सितम्बर के आरम्भ में ही अपना यात्रा वाला वेष[1] बनाना आरम्भ कर दिया। 'न कोई हिन्दू ना कोई मुसलमान' कहकर उपदेश देना आरम्भ किया। सुलतानपुर के नवाब और काजी ने इनके इस विचार की परीक्षा

१ इस वेष की यह विलक्षणता थी कि वह किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय से सम्बन्धित न था। सिर पर कलन्दरी ढंग की टोपी या पगड़ी धारते थे ललाट पर हिन्दुओं की भाँति केसर का तिलक लगाते थे और गले में हड्डियों के मनकों की एक माला डाल लेते थे। शरीर पर लाल या नारंगी रंग की जाकट रहती और उस पर एक सफेद चादर डालते थे।

उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' आचार्य परशुराम चतुर्वेदी पृ० २६१

लेने के लिए इन्हें अपने साथ नमाज पढ़ने को आमन्त्रित किया। इन्होंने सहर्ष स्वीकार भी किया। परन्तु जब सब लोग सिजदे में झुके तो ये शान्त भाव से यों ही खड़े रहे। अन्त में पूछने पर हँस कर कहने लगे 'तुम लोग तो स्वयं नमाज नहीं पढ़ते थे मैं तुम्हारे साथ कैसे शामिल होता—काजी साहब का ध्यान गढ़े के समीप बंधे बछेरे में था कि वह कहीं गिर न जाए और नवाब काबुल से घोड़े खरीदने के ख्याल में मस्त थे—फिर भला मैं किसके साथ नमाज पढ़ता। इस कथन ने दोनों को स्तम्भित कर दिया। उन्हें अपनी यह भूल स्वीकार करनी पड़ी। तत्पश्चात् गुरु नानक सुलतानपुर के लोगों को उपदेशामृत पान कराते हुए अपने साथियों बाला (पुराना घरेलू नौकर) और मरदाना (मुसलमान रबाबी जो नानक के साथ रहता था) के साथ गुरु की प्रथम यात्रा पर निकल पड़े।[1]

यात्राएँ

(१) प्रथम यात्रा आरम्भ करने से पूर्व गुरु नानक अपने माता-पिता को मिलने तलवंडी गए और वहीं से यात्रा का वास्तविक श्रीगणेश हुआ। तलवंडी से चलकर गुरु नानक सैयदपुर (वर्तमान ऐमनाबाद) पहुँचे। वहाँ इनके एक सजातीय भाई भागो ने इन्हें अपने पास भोज पर आमन्त्रित किया परन्तु गुरु नानक एक गरीब शूद्र बढ़ई लालो की कुटिया के मेहमान बने। इस पर लोगों ने गुरु नानक द्वारा जाति पाँति त्याग का बड़ा विरोध किया परन्तु वे अविचलित रहे। भागो की शिकायत पर उन्होंने स्पष्ट कहा कि लालो की गाढ़े-पसीने की कमाई रोटी बेईमानी और झूठ के व्यापार से कमाए धन से अनेक गुना अच्छी है। इसमें गरीबों का रक्त और इसमें प्रेम एवं दया का अमृत विद्यमान है। लोगों ने गुरु नानक का धर्म-विरोधी प्रचार

---

१ गुरु नानक ने परम-सत्य को पाया था और उनकी यात्राओं का उद्देश्य उसी सत्य की प्राप्ति हेतु लोगों को प्रेरित करना था। उन्होंने 'सत्य की खोज में' यात्राएँ नहीं की। कनिंघम ने लिखा है "In a moment of enthusiasm the ardent inquirer abandoned his home and strove to attain wisdom dy penitent meditation by study and by an enlarged intercourse with mankind."

Cunningham's History of Sikhs Edited by Garrett. p. 40

परन्तु यह बात नानक के सम्बन्ध में उचित नहीं जचती। वे तो गृहस्थ में रहते सदाचारी-संयमी जीवन और नाम-स्मरण द्वारा मुक्ति का आयोजन प्रस्तुत करने वाले महात्मा थे—फिर भला वे बाहर खोजने क्यों जायेंगे? हाँ उन्हें सत्संग अति प्रिय था पुनः उन्हें दुनिया को सन्मार्ग दिखाना था—और ये दोनों उद्देश्य भ्रमण से पूर्ण हो सकते थे अतः उनकी यात्राएँ।

स्वीकार किया। दो चार दिन वहीं भजन-सत्संग कर नानक आगे बढ़े। मार्ग में एक साधारण गाँव में गुरु नानक की भेंट सज्जन नामक एक व्यक्ति से हुई, जो लोगों को चिकनी चुपड़ी बातों से अपने यहाँ ठहरा लेता था और रात में सोने पर उनका धन हरण कर लेता और उन्हें मार कर कुएँ में फेंक देता था। गुरु नानक के सम्बन्ध में भी उसका ऐसा ही विचार था परन्तु उनके उपदेशों और भजनों का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने अपना मार्ग बदल लेने की प्रतिज्ञा की। बाद में गुरु नानक के कहने पर उसने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति गरीबों में बाँट दी और स्वयं एक भले व्यक्ति की तरह परिश्रम का व्यवसाय करना तथा भजन-स्मरण में जीवन व्यतीत करना स्वीकार किया। यह घटना गुरु नानक की महानता की कालिमपूर्ण दुष्टता पर अद्वितीय विजय थी।

इसी प्रकार मार्ग में सब को उपदेशामृत-वितरण करते हुए गुरु नानक सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहाँ अनेक प्रकार के साधु-संतों से सत्संग और प्रभु चर्चा करी। कुछ दिन बाद वे हरिद्वार आए। मेला लगा हुआ था और प्रातःकाल लोग गंगा में स्नान कर पूर्व-दिशा की ओर मुँह किए पितरों को तर्पण दे रहे थे। यह देख कर गुरु नानक को उन पर दया हो आई, और उन्हें ठीक मार्ग सुझाने के लिए उन्होंने विचित्र युक्ति सोच निकाली। वे स्वयं भी नदी में घुस गए और पश्चिम दिशा की ओर मुँह किए पानी उलीचने लगे। लोगों ने इन्हें पागल समझा परन्तु पूछने पर उन्होंने ने मार्मिक उत्तर दिया। कहा "मैं पश्चिम में दूर अपनी सूखी खेती को पानी दे रहा हूँ।" "यहाँ से खेती में पानी क्योंकर पहुँच सकता है। क्यों यदि तुम लोगों द्वारा पूर्व में फेंका पानी परलोक में तुम्हारे पूर्वजों को मिल सकता है तो मेरा पश्चिम में फेंका पानी इसी लोक में मेरी खेती को नहीं मिल सकता" ? इन संवादों का प्रभाव कुछ लोगों पर बड़ा गम्भीर पड़ा। यहाँ भी प्रभु-महिमा की वार्ताएँ दुनिया को सुनाते हुए कुछ दिन बाद गुरु नानक आगे चले। दिल्ली की ओर बढ़ने का निश्चय किया गया था अतः हरिद्वार से वे पहले पानीपत पहुँचे। वहाँ एक प्रसिद्ध पीर की दरगाह पर पहुँचे तो वहाँ के शेख ने इन्हें 'असलाम-अलैकम (प्रभु तुम्हें शान्ति दे) कह कर अभिवादन किया। गुरु नानक ने इसका उत्तर अलसलाम-आलेकम' (अहवय के नाम भटाजली) से दिया। उत्तर सुनकर पीर को बड़ा विस्मय हुआ और वह गुरु नानक की ज्योति को पहचान कर उनका मुरीद बन गया। पानीपत की जनता को भी गुरु नानक ने उपदेश दिया ईश्वर की एकता नाम-स्मरण की महत्ता और सदाचारी जीवन का अनुपम स्वरूप लोगों को समझाया—और अपने मार्ग पर आगे बढ़ गए।

गुरु नानक देहली पहुँचे। वहाँ के लोग इस विचित्र वेषधारी संन्यासी को देखकर हैरान थे परन्तु सत्संग के प्रेमी गुरु नानक घूमते-फिरते मधुर-मधुर गाते अपना सन्देश सुनाते चले जा रहे थे। उन्हीं दिनों वहाँ के बादशाह सिकन्दर लोदी

का हाथी मर गया। गुरु नानक फिरते हुए उस स्थान पर पहुँच गए, जहाँ हाथी मरा पड़ा था। कहते हैं इन्होंने उस हाथी को पुनः जीवित कर दिया। यह देख कर लोगों को बड़ी हैरानी हुई और यह सूचना बादशाह तक पहुँचाई गई। वह स्वयं आया और उत्सुकतावश उसने हाथी को पुनः मारकर जिलाने की प्रार्थना की। इस पर गुरु नानक ने हाथी को मरा ही रहने दिया मारना-जिलाना अल्लाह का काम है मैं उसके हुक्म में हस्तक्षेप नहीं कर सकता कहकर बादशाह को विचार में डाल दिया। तत्पश्चात् गुरु नानक ने सिकन्दर लोधी को भी उपदेश दिया और वृन्दावन गोरखमठ होते हुए बनारस का मार्ग पकड़ा। बनारस पहुँच कर अनेक साम्प्रदायिक नेताओं से इनकी चर्चा हुई। आडम्बरों और कर्मकाण्ड के विरुद्ध गुरु नानक ने यहाँ चमत्कार प्रस्तुत की। बहुत से किताबी विद्वानों और पण्डितों को सत्यनाम का मार्ग दिखाया लोगों को उपदेश दिया और महात्मा कबीर की पुण्य धरती को छोड़ भारत के अतीव पूर्व की ओर प्रस्थान किया।

चलते चलते वे कामरूप (असम) पहुँचे। उन दिनों कामरूप और बंगाल में जादू-टोने का बहुत रिवाज था। औरतें जादू द्वारा मर्दों को बन्दर की तरह नचाती थीं। कामरूप की तत्कालीन महारानी नूरशाह ने गुरु नानक से ऐसा ही व्यवहार करना चाहा। उसने अनेक जादू-टोनों की सहायता से गुरु साहिब को अपनी ओर आसक्त कर पथ भ्रष्ट करना चाहा परन्तु सब व्यर्थ। वे अनुभवी महात्मा प्रभु की विशेष कृपा के वरद्-हस्त की प्रतिच्छाया में सुरक्षित थे उन पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव न पड़ा। अन्ततः तंग आकर स्वयं रानी नूरशाह गुरु नानक के चरणों में पहुँची और आदेश माँगा। गुरु नानक ने उस जादू-टोने के व्यवहार का त्याग कर भगवद्-स्मरण का उपदेश दिया। यहाँ से भी आगे जाने का विचार गुरु नानक का था परन्तु कुछ ही दूर जाकर वे नीचे की ओर जगन्नाथ पुरी को चल दिए। कहते हैं वहीं कहीं एकान्त में 'कलियुग' से इनकी भेंट हुई। उसने इन्हें पथ भ्रष्ट करने के लिए अनेक लोभ दिए, परन्तु नानक ने स्पष्ट कहा 'मेरे पास सब कुछ है कुछ और नहीं चाहिए—चाहिए भी हो तो प्रभु मेरे अंग-संग हैं इच्छा करते मात्र से ढेरों मिल सकता है। तुम्हारी सहानुभूति की मुझे आवश्यकता नहीं। इस पर 'कलियुग' को बड़ा क्षोभ हुआ और वह गुरु नानक को पीड़ित करना चाह कर भी असफल रहा और क्षमा माँग कर भाग गया।

गुरु नानक जगन्नाथ पुरी पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर में भी गए। आरती के समय सब लोग उठ कर खड़े हुए, परन्तु गुरु नानक बैठे-बैठे ही अपने भजन गाते रहे। लोगों ने इन्हें पागल कहकर उपेक्षा की परन्तु बाद में भगवद्चर्चा सुनकर वे मुग्ध हो गए। वहीं गुरु नानक का मिलाप एक ऐसे ब्राह्मण से हुआ जो सदैव आँखें बन्द रखता था और जिसका दावा था कि वह योग बल से संसार की सब बातों का पता लगा सकता है। गुरु जी ने उसकी परीक्षा के लिए उसका लोटा छिपा दिया

और उसके सम्बन्ध में पूछा कि वह कहाँ है। ब्राह्मण लोटे का पता न बता सका। इस पर गुरु नानक ने उसे समझाया कि ध्यान के आडम्बरों में कोई करामात नहीं ईश्वर का ध्यान करो यही सत्य-सिद्धि का साधन और साध्य है। पुरी से गुरु नानक पंजाब की ओर लौट पड़े।

(२) पंजाब आकर वे अधिक समय कहीं टिक नहीं। कुछ दिन पाक-पट्टन में रहने का कार्य क्रम बनाया गया। वहाँ प्रसिद्ध सूफी-फकीर बाबा फरीद के वंशज शाह फरीद द्वितीय के साथ गुरु सत्संग हुआ। इन शाह फरीद का असली नाम शेख इब्राहिम था। गुरु नानक इनके साथ रात-रात भर धर्मचर्चा करते हरि-गुण-गान होता और शान्त वातावरण में भजन-स्मरण का अनुपम आनन्द पाते। दोनों महात्मा एक दूसरे को पाकर अतीव सन्तुष्ट और प्रसन्न थे। यहाँ से लौट कर गुरु नानक ने हिमालय की तलहटी में किसी बिशियर राज्य की यात्रा की। मकॉलिफ ने इसे हिमालय की तराई में स्थित बुशाहिर रियासत कहा है।[1] माना जाता है कि यहाँ से वे किसी अज्ञात-द्वीप की यात्रा को गए। परन्तु यह बात कुछ जंचती नहीं। हिमालय की तराई में किसी द्वीप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तथापि मैकॉलिफ ने इस यात्रा का उल्लेख किया है।[2] यहाँ से फिरे, तो गुरु नानक तलवंडी की ओर चले। अत्यधिक यात्रा करने के कारण इनका साथी मरदाना थक गया था और घर की याद भी उसे सताने लगी थी—इसीलिए इन्हें वापिस तलवंडी की ओर बढ़ना पड़ा था। तलवंडी के समीप पहुँच कर गुरु नानक ने गाँव में घुसना उचित नहीं समझा। गाँव के बाहर ही २½ मील दूर एक पेड़ के नीचे गुरु नानक ने आसन जमा लिया और मर्दाना को उसके घर जा कर सब का कुशल-समाचार लाने को भेज दिया। उसे अपने घर जाने का भी आदेश दिया परन्तु अपने सम्बन्ध में घर वालों से कुछ भी कहने का निषेध कर दिया।

मर्दाना को देख कर माता तृप्ता प्रसन्नता से झूम उठी। उन्हें विश्वास था कि गुरु नानक भी अवश्य आए होंगे। पूछने पर यद्यपि मर्दाना ने कुछ न बताया तो भी माता सन्देहवश भाग पड़ी और खाद्य-सामग्री लेकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ी। जब वे गुरु नानक के समीप पहुँचे तो नानक ने माता को प्रणाम किया और माता प्रसन्नता के आँसू बहाने लगे। माता ने उनसे बार-बार कहा कि वे यह संन्यासी-वेश छोड़ दें और अपने परिवार के साथ रहें। नए कपड़े और खाद्य-व्यंजन ग्रहण करने को भी कहा। परन्तु गुरु नानक ने यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि सत्य नाम को पाकर अब उन्हें और किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं। माता को सम्मुख देख कर

---

1 Macauliffe : Sikh Religion Vol. I p. 93.
2 Ibid. p. [illegible]

गुरु नानक को भावावेश हो आया और उन्होंने मरदाना को रबाब बजाने को कहा, और स्वयं एक सुन्दर भजन गाने लगे। पिता कालू भी वहाँ आए। उन्होंने भी गुरु नानक को घर चलने को कहा किसी व्यवसाय में लगने का अनुरोध किया पहले विवाह से यदि असन्तुष्टि हो तो नया विवाह भी करवा देने का वचन दिया परन्तु गुरु नानक ने घर जाने से साफ इन्कार कर दिया। वे वहीं पेड़ के नीचे कुछ दिन ठहरे, गाँव के लोगों को उपदेश दिया और वहीं से अपनी तीसरी यात्रा के लिए निकल पड़े।

(३) गुरु नानक की तीसरी यात्रा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१ पंजाब के भिन्न प्रदेशों का भ्रमण और २ दक्षिण-भारत तथा लंका की यात्रा। तलवंडी से चलकर वे पंजाब के भिन्न कस्बों दिपालपुर, कंगनपुर, कसूर पट्टी विरपुर, गोइन्दवाल आदि में घूमते हुए अपने बहिन-बहनोई को, मिलने सुलतानपुर गए। सुलतानपुर के लोग गुरु नानक के महत्त्व से पहले ही परिचित थे अतः उन्होंने इनका खूब स्वागत किया। कुछ समय तक वहाँ के लोगों को उपदेश-सत्संग देकर वे सैय्यदपुर की ओर बढ़े। वहाँ जाकर गुरु नानक को अति दुःख हुआ। बाबर की विजयी सेनाओं ने वहाँ के लोगों का निर्दयतापूर्वक वध कर दिया था घरों को लूट-खसोटा था औरतों को अपमानित किया था शेष सबको बंदी बना लिया था। लालो भी पकड़ा गया था। स्वयं गुरु नानक और उनके साथियों को सिपाहियों ने बेगार के लिए पकड़ लिया। बोझ लाद कर चलने को कहा गया। गुरु नानक शान्तिपूर्वक चल पड़े। जनश्रुति है कि बोझ नानक के सिर पर हवा में तैरता हुआ जा रहा था जिसे देखकर सिपाहियों को अचम्भा हुआ। समाचार बाबर को पहुँचाया गया जिस पर उसने नानक को 'अल्लाह का बन्दा' समझकर मुक्त कर दिया। गुरु नानक से कुछ माँगने को कहा गया—तब उसने सैय्यदपुर के सभी कैदियों को मुक्त कर देने का अनुरोध किया। बाबर ने स्वीकार किया और सैय्यदपुर पुनः बस गया। गुरु नानक ने बाबर को प्रभु की एकता और ध्यान का संदेश सुनाया तथा उसके वंश को भारत पर राज्य करने का आशीर्वाद भी दिया। वे कुछ दिन सैय्यदपुर में ही रहे लालो की कुटिया में ही सत्संग होता रहा। भजन-स्मरण से लोगों के दुःखी दिलों को कुछ शान्ति मिली तब गुरु नानक पसरूर होते हुए सियालकोट पहुँचे और वहाँ एक गाँव में एक सूफी महात्मा मियाँ मिठा से खूब धर्म-चर्चा और सत्संग हुआ।

वहाँ से रावी के किनारे किनारे गुरु नानक लाहौर पहुँचे। वहाँ दुनीचन्द नाम के एक करोड़पति का आतिथ्य उन्होंने स्वीकार किया। उनके पिता के श्राद्ध के अवसर पर इन्होंने ऐसे कर्मकाण्डों के विरुद्ध उपदेश दिया। "धन न स्वयं परलोक तक साथ देता है न किसी को वहाँ पहुँचा सकता है। धर्म-कांड मनुष्य के बन्धन का कारण है अतः मानव-मुक्ति में बाधक होता है। इनसे बचना चाहिए। गुरु नानक

के ऐसे उपदेशों का दुनीचन्द पर खूब प्रभाव पड़ा और उसने अपनी सम्पत्ति अच्छे कामों में दान करदी और स्वयं गुरु नानक का शिष्य बनकर सादा जीवन बिताने लगा। वहाँ से गुरु नानक रावी के किनारे ग्राम करतारपुर में आ गए, और कुछ देर वहीं रहने का निश्चय किया। अब तक गुरु नानक के अनेक शिष्य बन चुके थे। अतः उन्होंने करतारपुर में ही एक साधारण से आश्रम में अपना स्थिर-जीवन आरम्भ कर दिया। माता-पिता पत्नी बच्चों को भी वहीं बुला लिया ताकि उन्हें भी कुछ संतोष मिल सके। आश्रम में प्रतिदिन प्रातःकाल 'जपुजी' और 'आसा की वार' का पाठ होता। बाद में अनेक भजनों का गान होता। स्वयं गुरु नानक गाते मर्दाना रबाब बजाता। साथ-साथ उपदेश और प्रभु-ध्यान भी चलता। गुरु नानक जब भजन गाते तो प्रतिदिन एक सात वर्षीय बालक उन्हें सुनने को आ जाता होता। एक दिन गुरु नानक ने उससे कारण पूछा। उसने बताया कि एक दिन उसने जलती हुई आग में देखा कि छोटी टहनियाँ पहले जलती हैं और भारी लकड़ियों की बारी बाद में आती है। इससे उसको यह भय हो गया है कि सम्भवतः मौत भी छोटों को पहले आती है और बड़ों को बाद में। इसीसे वह भजन-कीर्तन सुनने आता है। गुरु नानक बालक के मुँह से यह गम्भीर उत्तर सुनकर उसे बुड्ढा ही पुकारने लगे। सिख इतिहास में इस बुड्ढा ने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। छठे गुरु तक गुरु गद्दी के पुरोहित का काम इसी बाबा बुड्ढा ने सम्भाला। स्वयं १०७ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। इसी प्रकार करतारपुर में आश्रम-जीवन व्यतीत करते हुए, गुरु नानक ने इस यात्रा के दूसरे भाग को पूरा करने का निश्चय किया। इस बार वे सैदा और सिहो नामक जाटों को साथ लेकर भारत के दक्षिण (द्रविड़-प्रदेश) के परिभ्रमण को निकल पड़े।

करतारपुर से चलकर वे सीधे दक्षिण-प्रदेश में पहुँचे। वहाँ घूमते-फिरते उपदेश देते हुए वे मद्रास की बन्दरगाह पर पहुँचे। वहाँ के लोगों को प्रवचन प्रसाद वितरण कर निहाल किया और स्वयं वहाँ से नौका द्वारा किसी अज्ञात द्वीप को चल दिए, वहाँ से होते हुए वे लंका पहुँचे। लंका के राजा शिवनाभ को उपदेश दिया। कहते हैं उसका वीरान बाग गुरु नानक के पदापात-मात्र से ही पुनः हरा भरा हो गया था।

(४) लंका से लौटने के साथ ही गुरु नानक की चौथी-यात्रा आरम्भ हुई। लंका से वे सीधे पंजाब के कस्बे अचल-बटाला में आए। वहाँ शिवरात्री के मेले पर गुरु नानक ने अनेक योगियों से सत्संग किया। कुछ दिन वहीं रहने के बाद वे बटाला होकर काश्मीर की ओर चल पड़े। श्रीनगर तक जाने की वार्ताएँ उनकी जन्म-साखियों में उपलब्ध हैं। काश्मीर में राजा और प्रजा दोनों को उनका सत्संग प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। वहाँ से गुरु नानक योगियों के प्रसिद्ध केन्द्र सुमेर-पर्वत की ओर बढ़े। चोटी तक पहुँचे। वहाँ अनेक योगियों से इनकी मुलाकात हुई। योगियों ने गुरु नानक को

सादर आमंत्रित किया और कई दिन तक परस्पर तर्क भगवद् चर्चा और सत्संग होता रहा। यहाँ गुरु नानक ने सिद्ध-योगियों को सत्यनाम का रहस्य समझाया और उनसे भेस की अपेक्षा वास्तविकता धारण करने का अनुरोध किया। योगियों द्वारा धारण किए जाने वाले प्रतीकों का यथार्थ और गूढ़ अर्थ भी उन्हें समझाया। इन सब उपदेशों और वार्ताओं को गुरु नानक ने बाद में करतारपुर में भी सुनाया और आज भी वे अनेक पदों में बंटे 'सिद्ध-गोष्ठी' के नाम से गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत हैं।

(४) सुमेरु पर्वत से गुरु नानक सीधे पंजाब लौटे और वहाँ से भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर से अपनी अन्तिम और प्रसिद्धतम यात्रा का श्रीगणेश किया। सबसे पहले वे पाकपट्टन गए और शेख फरीद से सत्संग करने के बाद हसन अब्दाल पहुँचे। यह स्थान मुसलमानों का धार्मिक केन्द्र माना जाता था। जहाँ गुरु नानक ने पड़ाव डाला वहीं पहाड़ी पर एक अभिमानी फकीर वली कन्धारी (बाबा वली) रहता था। गुरु नानक ने मर्दाना को उससे पानी लेने को भेजा। उसके अधिकार में पानी का एक छोटा कुण्ड था परन्तु क्योंकि मर्दाना ने गुरु नानक की प्रशंसा की थी जो उसके लिए असह्य हो गई, उसने पानी देने से साफ इन्कार कर दिया। यह भी कहा कि नानक यदि इतना ही बड़ा महात्मा है तो पानी का प्रबन्ध स्वयं क्यों नहीं कर लेता? इस पर कहते हैं, गुरु नानक ने कुण्ड के नीचे के भाग में छेद कर दिया जिससे पानी वेग से बहने लगा। वली कंधारी के क्रोध का पारावार न था उसने रोष में आकर पहाड़ी के ऊपरी भाग से एक बहुत बड़ा पत्थर वहाँ लुढ़का दिया जहाँ नीचे गुरु नानक बैठे थे। जीवन-साखियों में यह कथा इस प्रकार आगे बढ़ती है कि जब यह भयानक पत्थर गुरु नानक को चोट करने ही वाला था तब गुरु साहिब ने अपने दायें हाथ के पंजे से उसे रोक लिया। पत्थर वहीं का वहीं रुक गया और उस पर पाँचों अंगुलियों और हथेली का गहरा चिह्न लग गया। इस स्मारक-चिह्न के स्थान पर आज एक बहुत बड़ा गुरुद्वारा है जिसे 'पंजा साहिब' कहते हैं। भारत विभाजन के बाद यह स्थान पाकिस्तान में चला गया है।

हसन-अब्दाल में साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुस्लिम विरोधों के विपक्ष में उपदेश देते हुए गुरु नानक पेशावर के मार्ग मुसलमानों के प्रसिद्धतम तीर्थ मक्का[1] पहुँचे।

---

१ फ्रेडरिक पिनकाट ने इस यात्रा को अतिशयोक्ति कहा है यद्यपि पुरानी जीवन साखी ने इसे ठीक ही माना है।

It is related that he (Nanak) travelled to Kashmere and even made a pilgrimage to Mecca like an Orthodox Musalman The latter account must have an exaggeration and merely shows how far his followers thought him capable of going in his leaning towards mohammadanism.

—Fraderic Pincott : Religions of the world p, 301

वहाँ उन्होंने ईश्वर की सर्व-व्यापकता तथा एकता की आवाज उठाई। हज्ज के लिए आए हुए अनेक सूफ़ियों फ़कीरों वलियों तथा महात्माओं का सत्संग भी इन्हें यहाँ प्राप्त हुआ। मक्का की एक घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है जिससे इनके जीवन में मुसल मानों द्वारा भी इन्हें महत् आदर का पद दिलवा दिया। एक दिन मक्का-शरीफ़ की ओर पैर किए गुरु नानक एक चबूतरे पर लेटे हुए थे कि एक (काज़ी रुक्नुद्दीन) हाजी ने देखा। इसमें मक्का-शरीफ का अपमान ख्याल करके वह बड़े क्रोध से नानक को झंझोड़ कर जगाने लगा और बोला "क्या अंधे हो जो ख़ुदा के घर की तरफ़ पैर किए बैठे हो तुम्हें यह बेहुरमती करने का हौसला कैसे हुआ ? गुरु नानक ने शान्तिपूर्वक लेटे लेटे ही कहा "भई ख़ुदा का घर कहाँ नहीं ? वह तो सब जगह है यदि तुम समझते हो कि वह किसी विशेष तरफ़ नहीं तो तुम मेरे पैर घुमाकर कहीं भी कर दो।" यह उत्तर सुनकर वह क्रोधी हाजी स्तम्भित रह गया। इस बात की महान सत्यता उसकी समझ में आ गई, और वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

मक्का से गुरु नानक मदीना गए, और वहाँ से बगदाद होकर लौट पड़े। मार्ग में कुछ दिनों के लिए मुलतान भी रुके और साधु-संगत तथा भजन-स्मरण करते हुए, अन्ततः वापिस करतारपुर पहुँचे। रावी के किनारे यह रमणीक स्थान उन्हें जीवन के शेष दिन भजन-कीर्तन में काट देने को बड़ा उचित लगा। और अब उन्होंने यात्रियों का वेश उतार कर सादा घरेलू जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। १५२१ से सन् १५३९ तक का उनका यह करतारपुर निवास आश्रम-जीवन था जिसमें वे गृहस्थी-जन की भाँति रहते और नित्य प्रति सत्संग भजन कीर्तन और हरिगुण-गान करते रहे।

आश्रम-जीवन

गुरु नानक अपने जीवन काल के अन्तिम लगभग १६१७ वर्ष रावी नदी के किनारे नए बसाए इस करतारपुर गाँव में रहे। उनके एक अमीर शिष्य ने वहाँ एक बड़ा गुरुद्वारा बनवा दिया था। नित्य प्रति यहाँ हजारों शिष्यगण इकट्ठे होते थे। प्रातःकाल मुंह-अंधेरे से ही जपुजी का मधुर पाठ आरम्भ होता था बाद में आसा की वार पढ़ी जाती, और फिर गुरु नानक स्वयं उपदेश देते थे। भजन स्मरण-कीर्तन भी होता और संगत आनन्द में आकर झूम उठती। वास्तव में जपुजी एवं आसा की वार की रचना भी यहीं सन् १५२२ के बाद जब मर्दाना की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र अपने पिता का स्थान ले चुका था की गई। मर्दाना की उपस्थिति में मुक्त पदों और आसा की वार की रचना ही विशेष उल्लेखनीय है। प्रातःकाल के सम्पूर्ण कार्य क्रम के पश्चात् सब शिष्यगण इकट्ठे एक ही परिवार की तरह गुरु के सम्मुख बैठ खाना खाते। संध्या को भी 'रहिरास' का पाठ करने के बाद सब इकट्ठे खाना खाते। रात को सोने से पूर्व 'सोहिला' का पाठ होता।

सन् १५११ में गुरु नानक ने बारह-माहा लिखा जिसमें आत्मा-परमात्मा के मिलने की आध्यात्मिक झाँकी प्रस्तुत की गई है। सन् १५३२ में भाई लहना नाम का एक व्यक्ति जो कि दुर्गा का परम भक्त था गुरु नानक का शिष्य बन गया। उसकी गुरु-सेवा और प्रभु भक्ति इतनी अटल और अनुपम थी कि अन्तिम समय गुरु नानक ने उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना उचित समझा। १५३९ के आरम्भ में ही गुरु नानक एक बार फिर शिवरात्री के मेले पर अचल-बटाला गए। वहीं उन्होंने वह प्रसिद्ध 'सिद्ध-गोष्ठी' लिखी जिसका वर्णन हम ऊपर चौथी-यात्रा में कर आए हैं।

अपने आश्रम-जीवन के दिनों में गुरु नानक ने अपने सभी निकट सम्बन्धियों को अपने पास रहने की अनुमति दे दी। उनके पुत्र श्रीचन्द और लखमीचन्द भी वहीं रहने लगे। परन्तु उन्हें गुरु नानक की लहना पर विशेष कृपा पसन्द न थी। वे नहीं चाहते थे कि उनके पिता के महान सम्मान का पात्र कोई गैर बने। परन्तु जो प्रभु को मंजूर था वही तो होने वाला था।

उत्तराधिकारी की नियुक्ति एवं ज्योति-ज्योत समाना

ज्यों-ज्यों गुरु नानक का अन्तिम समय समीप आ रहा था उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने की चिन्ता थी। वे जानते थे कि उनके दोनों पुत्र इस महान उत्तरदायित्व को संभालने के योग्य नहीं। शिष्य-मण्डली में अनेक अच्छे और आध्यात्मिक ऊँचाई-प्राप्त शिष्य थे परन्तु उनमें उनकी दृष्टि भाई लहना पर थी जोकि अधिक वफ़ादार और सत्पुरुष को पहचानने वाला दिखाई देता था। तथापि लोगों को बताने के लिए, जनश्रुतियाँ हैं कि उन्होंने सब की परीक्षा ली। गुरु-भक्ति की गहराई नापने के लिए उन्होंने एक दिन आधी रात के समय अपने पुत्रों और लहना की उपस्थिति में कहा देखो कैसा प्रखर सूर्य चढ़ा है जाओ नदी पर मेरे कपड़े धो लाओ। इस पर दोनों पुत्र बिगड़ बैठे और समझने लगे कि उनका दिमाग चल गया है। परन्तु सच्चा गुरु भक्त लहना उसी समय सत्य-वचन कह कर चल पड़ा। कहते हैं उसके लिए सचमुच रात्री प्रखर दिन में बदल गई। एक और ऐसी ही घटना घटी। एक दिन गुरु नानक जंगल में गए। जंगल में एक लाश मिली गुरु नानक बोले इसे खाओ। इस पर बेटे तो रुष्ट हो गए, परन्तु लहना गुरु-आज्ञा का पालन करने को तैयार, फौरन आगे बढ़कर खाने लगा। कहते हैं उसके कफ़न के कपड़े के नीचे हलुआ और मिठाइयाँ निकली। ऐसी घटनाओं से गुरु नानक को निश्चय होगया कि भाई लहना ही उनका वास्तविक उत्तराधिकारी होने योग्य था। अतः असूज वदी १०/५, संवत् १५९६ तदनुसार २ सितम्बर, १५३९ को एक प्रातः उन्होंने अपने सब शिष्यों को इकट्ठा किया, और बाबा बुड्ढा की पुरोहिताई में भाई लहना को विधिवत् उत्तराधिकारी-गुरु घोषित कर दिया। गुरु नानक ने पाँच पैसे और नारियल भाई लहना की झोली में डाल कर

स्वयं उन्हें प्रणाम किया और तब सब शिष्यों ने भी उन्हें प्रणाम कर उनकी गुरुआई स्वीकार कर ली। गुरु नानक ने उसे अपना ही रूप कहा और अपने अंग से बना होने के कारण गुरु अंगद नाम दिया। (इस अवसर पर यदि कोई नाराज था तो नानक के दोनों पुत्र। बड़े ने तो बाद में अपना जुदा सम्प्रदाय ही चला लिया) गुरु-गद्दी का यह उत्सव पाँच दिन तक मनाया गया। खूब हरि-नाम ध्यान पाठ संकीर्तन और भजन-उपदेश होता रहा। अन्तिम दिन ७ सितम्बर को गुरु नानक नदी के पार चले गए और वहाँ एक पेड़ के नीचे बैठ कर उन्होंने 'सोहिला' का पाठ किया जपुजी का अन्तिम श्लोक पढ़ा और तब चुपचाप वाहिगुरु का नाम लेते हुए चादर ओढ़ली। उनकी ज्योति वाहिगुरु में समा चुकी थी। अगले दिन प्रात: गुरु नानक के शरीर का दाह संस्कार वहीं कर दिया गया। स्मारक रूप में हिन्दुओं ने वहाँ उनकी समाधि और मुसलमानों ने कब्र बनाई। परन्तु कुछ ही समय बाद रावी नदी ने थोड़ा रुख बदल कर उन दोनों स्मारकों को सदा के लिए धो डाला। शायद इसलिए कि समाधि पूजा का रिवाज न फैल सके।[1]

रचनाएँ और उपदेश

गुरु नानक साहिब प्राय: भावावेश में पद बनाते और गाते रहते थे। विशेषता यह थी कि वे सब पद भिन्न प्रकार की राग रागनियों के संगीत सिद्धान्तों की सीमाओं में बंधे होते थे। अटपटी रचना कोई न थी। ऐसे सभी पद गुरु ग्रंथ साहिब नामक सम्पादन में संगृहीत हैं। उनमें से भी विशेष जपुजी है जिसका पाठ प्रात:काल स्नानोपरांत किया जाता है। इसमें ३८ पउड़ीएँ हैं और अन्त में एक श्लोक। अपने ढंग में रहस्यवादी कविता का यह सुन्दर नमूना है। गुरु नानक की रचनाओं में कुछ वारों को विशेष महत्त्व दिया जाता है जैसे आसा दी वार, माझ दी वार आदि। बारह माहा भी रहस्यवादी क्षेत्र में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों पर अद्भुत रचना है। सिद्ध गोष्ठी में ज्ञान-योग पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण ग्रंथ साहिब में यह भाग अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता। सूर्यास्त के समय पढ़ने की रचना 'रहिरास' तथा सोते समय पाठ करने का 'सोहिला' गुरु नानक की विशेष रचनाएँ हैं। इन सब रचनाओं में ब्रह्म गुरु माया जीव आत्मज्ञान ध्यान और हुकम जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उन्हीं विषयों का स्वरूप हमने इस प्रबन्ध में स्पष्ट भी किया है।

गुरु नानक ने उपदेशों में तत्कालीन परिस्थिति में साम्प्रदायिकता की मोटी दीवार की सीमाएँ तोड़ कर एक सर्वमान्य भूमिका निश्चय एवं समता दर्शाती थी। सार रूप में उनके उपदेश और सिद्धान्त इस प्रकार थे—

---

१ मैकॉलिफ ने ऐसा ही लिखा है और इसके पश्चात् भी उसे स्वीकार करते हुए मत दिया है। विचार उपयुक्त और उचित है।

१ एक ईश्वर की सत्यता में विश्वास और उसके हुकम के सम्मुख नतम स्तक होना।

२ उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप में परम-सत्य परमात्मा की उपासना के लिए पुकारा और बताया कि उसमें विश्वास उसकी कृपा तथा सदाचार सब आवश्यक हैं।

३ गुरु नानक ने भारत की परम्परित-दार्शनिकता को लोक-प्रिय बनाया और परिस्थिति के साँचे में ढालकर नवीन रूप प्रदान किया।

४ गुरु नानक ने मुहम्मद साहिब और हिन्दू अवतारों दोनों को श्रद्धा की दृष्टि से देखा।

५. दादू, टोनों कर्म-काण्ड एवं आडम्बर का विरोध किया और हिन्दुओं और मुसलमानों में समन्वय प्रस्तुत किया। घर-बार का त्याग निषेध ठहराया।

६ गुरु नानक ने अपने शिष्यों को सामाजिक बुराइयों से बचने का आदेश दिया तथापि उनके सुधार मुख्यतः सामाजिक न होकर आध्यात्मिक और नैतिक ही थे।

७ गुरु नानक ने अपने शिष्यों का कोई नया समाज या सम्प्रदाय खड़ा नहीं किया।

८ गुरु-कृपा से मन का संयम एवं मन के संयम से नाम-स्मरण में चित्त लगना की यथार्थता प्रस्तुत की गई।

९ नाम-स्मरण तथा हुकम-पालन ही गुरु नानक ने मुक्ति का एक-मात्र साधन माना।

परिशिष्ट-२

सहायक पुस्तक-सूची

हिन्दी-संस्कृत

क्रम	नाम	लेखक
१	श्री गुरु ग्रंथ साहिब	प्रकाशक शि० गु० प्र० कमेटी अमृत १९५१ संस्करण
२	ऋग्वेद-संहिताएँ	—
३	मुण्डकोपनिषद्	
४	कठोपनिषद्	
५	छान्दोग्योपनिषद्	
६	योग-सूत्र	पातंजलि
७	श्रीमद्भगवद्गीता	प्र० गीता प्रेस
८	भागवत्पुराण	"
९.	महाभारत	
१०	शाण्डिल्य-सूत्र	
११	भक्ति और वेदान्त	स्वामी विवेकानन्द
१२	ज्ञान योग	
१३	कर्मयोग	
१४	भक्तियोग	
१५	भारतीय ईश्वरवाद	पाण्डेय रामावतार शर्मा
१६	गीता में भक्तियोग	वियोगी हरि
१७	उत्तरी भारत की संत-परम्परा	श्री परशुराम चतुर्वेदी
१८.	सूफी काव्य संग्रह	"
१९.	हिन्दुओं का जीवन-दर्शन	स० राधाकृष्णन
२०	भक्ति का विकास	डॉ० मुंशीराम शर्मा

२१	वेदान्त-दर्शन	प्र० गीता प्रेस
२२	दर्शन-दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन
२३	भारत की अन्तरात्मा	स० राधाकृष्णन
२४	मुस्लिम-दर्शन	डा० देवराज
२५	भारत का धार्मिक इतिहास	श्री शिव शंकर मिश्र
२६	सूफीमत साधना और साहित्य	श्री रामपूजन तिवारी
२७	संत-काव्य संग्रह	श्री परशुराम चतुर्वेदी
२८	स्वामी रामकृष्ण वचनामृत (प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग)	अनुवादक निराला
२९	गुरु ग्रंथ दर्शन	डॉ० जयराम मिश्र
३०	संत-साहित्य	डॉ० सुदर्शनसिंह मजीठिया ।
३१	हिन्दी काव्य में रहस्यात्मक-प्रवृत्तियाँ	डॉ० ब्रजमोहन गुप्त
३२	हिन्दी साहित्य का इतिहास	श्री रामचन्द्र शुक्ल
३३	*महाराष्ट्रीय संतों की हिन्दी को देन*	*डॉ० विनय मोहन शर्मा*
३४	कबीर का रहस्यवाद	डॉ० रामकुमार वर्मा
३५	मध्यकालीन धर्म-साधना	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३६	रामचरितमानस	तुलसी
३७	तर्जुमा कुरान शरीफ़	श्री नन्दकुमार अवस्थी
३८	तर्जुमा कुरान शरीफ़	श्री महमद बशीर
३९	भारतीय-दर्शन	चट्टोपाध्याय और दत्ता
४०	भारतीय-दर्शन	श्री बलदेव उपाध्याय
४१	भारतीय-दर्शन	श्री उमेश मिश्र
४२	सच्ची वीरता (निबंध)	सरदार पूर्णसिंह
४३	श्रद्धा भक्ति (निबंध)	श्री रामचन्द्र शुक्ल
४४	गरीबदास की बाणी	संत काव्य संग्रह
४५	पलटू साहिब की बाणी	
४६	भीखा साहिब की बाणी	"
४७	सहजो बाई की बाणी	"
४८	कबीर की साखी और बीजक	
४९	कुरुक्षेत्र	श्री मैथिलीशरण गुप्त
५०	पद	सुश्री महादेवी वर्मा
५१	कल्याण (पत्रिका) साधनांक	
५२	साहित्य-सन्देश (पत्रिका) संत-साहित्य विशेषांक	

२१ सत्सन्देश (पत्रिका, देहली) १९५७
५८ ५९ की मासिक फाइलें।
—तथा अन्य जिनकी फुटकल
आवश्यकता पड़ती रही।

(पंजाबी)

१ श्री गुरुबाणी प्रकाश (भाग १ और २) शि० गु० प्र० कमेटी।
२ गुरु नानक चमत्कार — भाई वीरसिंह
३ संत-भाषा — ,,
४ तवारीख गुरु खालसा — ज्ञानी ज्ञानसिंह
५ गुरमत फिलासफी — ज्ञानी प्रतापसिंह
६ गुरमत अध्यात्म कर्म फिलॉसफी — भाई रणधीरसिंह
७ धर्म ते सदाचार — प्रो० साहिबसिंह
८ पूरन मनुख — भाई गंगासिंह
९ गुरु ग्रंथ सिद्धान्त संग्रह — ज्ञानी लालसिंह
१० गुरमत सिद्धान्त — सं० बाबा मावनसिंहजी
११ अकाल-उस्तत — गुरु गोविन्दसिंह
१२ गुरमति पाठी रस्ता (भाग १ और २) भाई वीरसिंह मजीठिया
१३ गुरमत सुधाकर — भाई काह्नसिंह
१४ गुरमत प्रभाकर
१५ गुरमत निरणय — भाई जोधसिंहजी
१६ सहर्फी — बुल्लेशाह
१७ वारां — भाई गुरदास

(अंग्रेजी)

1 Encyclopedia Britanica Vol XI
2 Encyclopedia of Religion & Ethics Vol VI & IX
3 The Cultural Heritage of India Vol I II & III — Ed R. K. Centenary Committee
4 Religion and Society — Dr S. Radhakrishanan (Kamala Lect. Series)
5 The Essential Unity of all Religions — Bhagwan Dass

6	Philosophy of Religions	Prof Galloway
7	A Critical Examination of Philosophy of Religions (Vol I)	Sadhu Shanti Nath
8	Philosphy of Religion (Vol I)	Hegal
9	Recovery of Faith	Dr S Radhakrishanan
10	An Outline of the religious literature of India	J N Farquhar
11	Religious Sects of Hindus	H. H. Willson
12.	Sikh Religion Vol I	Macauliffe
13	Religions Systems of the World	Frederic Pincott
14	Hinduism	S Nikhilanand
15	Theism in Medieval India	Carpendter
16	Problems of Philosophy	S C Chatterjee
17	Advait Philosophy	K Shastri
18	Gita Rahasya	B G Tilak
19	An intelligent man s guide to Philosophy	M C. Pandey
20	Indian Philosophy Vol I & II	S Radhakrishnan
21	Indian Philosophy	C. D Sharma
22.	Philosophy of Sikhs	Dr Sher Singh
23	The Cult of Bhakti	Dr Jadunath Sinha
24	The Path of Masters	Julian Johnson
25	Essays on Gita	Aurbindo
26	Mysticism in Bhagvadgita	Mahendrnath Sirkar
27	Japji (Commentry by)	Sant Kirpal Singh
28	An Introduction to Yoga	Annie Besant
29	Raj Yoga	Swami Vivekanand
30	Evolution of Gita	Kumudranjan Ray
31	The Gospal of Guru Granth Sahib	Duncan Greenless
32	The Nirguna School of Hindi Poetry	P D Barathwal

38	Sikhism	Principal Teja Singh
34	History & Philosophy of Sikh Religion	Khazan Singh
35	Some Studies in Sikhism	Bhai Jodh Singh
36	Essays on Sikhism	Teja Singh
37	The Divine Name and its practice	Gita Press
38	Doctrine of Maya	Prabhu Dutt
39	Yoga of the Saints	V H. Date,
40	Jivatma and the Brahmsutras	Abhay Kumar Guha
41	Idealistic thought of India	P T Raju
42	The Holy Bible	
43	The Emerson s Essays	
44	Cunningham s History of Sikhs	Ed. Garett
45	History of the Panjab	S M. Latif
46	History of Muslim Rule in India	Ishwari Prasad